परमहंस-परिव्राजकाचार्यवर्य

श्रीमधुसूदन-सरस्वती-कृत

सिद्धान्तबिन्दु

[भाषानुवादसहित]



अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे तृतीयं पुष्पम्

श्रीमधुसूदन-सरस्वतीकृतः

सिद्धान्तबिन्दुः

(दशश्लोकी-विवरणम्)

भाषानुवादसहितः

श्रीअच्युत-ग्रन्थमालाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्त-शास्त्रि-साहित्याचार्येण,
पं० श्रीगोविन्द-नरहरि-वैजापुरकर-न्यायाचार्य-वेदान्तशास्त्रिणा च

सम्पादितः

प्रकाशन-स्थानम्
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः काशी ।

द्वितीयावृत्तिः १०००]　　२०१३ वि०　　[मूल्य २॥)

प्रकाशकः
श्रीगौरीशङ्कर-गोयनका-समर्पित-निधि
अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी।

द्वितीय संस्करण : एक हजार
अक्तूबर, १९५६.

मुद्रकः
प्रियानाथ पाण्डेय
सन्मार्ग प्रेस, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

प्राक्कथन

यद्यपि 'सिद्धान्त-बिन्दु' के संस्कृतमय कई संस्करण निकल चुके हैं, संस्कृत के विद्वानों को वेदान्त के उन सुगूढ विचारों का, जिनका कि इस स्वल्पकाय पर प्रमेय-प्रचुर ग्रंथ में बड़ी हृदयङ्गमता के साथ समावेश किया गया है, मनन करने एवं आस्वाद लेने का पर्याप्त सौभाग्य मिला है। वे अद्वैतवाद के अन्यतम परिपोषक एवं साथ ही भक्ति-भाव से आकण्ठपरिपूर्ण आचार्य मधुसूदन सरस्वती की बुद्धि की चमत्कृति, पाण्डित्य की गरिमा, विचारशीलता की पराकाष्ठा, कल्पना-शक्ति की अतुलता, हृदय की उदारता आदि गुणश्रेणि से पूर्णतया परिचित हैं। किन्तु जो संस्कृत नहीं जानते, वे भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के सहारे उनकी सदुक्तियों का मनन कर ज्ञानपिपासा-शमनपूर्वक ब्रह्मसुखास्वाद कर सकें एवं चरम पुरुषार्थ के भागी हो सकें, इस विचार से वेदान्त-तत्त्वान्वेषियों के सम्मुख इस सानुवाद ग्रंथ को उपस्थित करते हमें परम हर्ष हो रहा है।

सिद्धान्तबिन्दु आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती की स्वतन्त्र कृति नहीं है। यह आचार्यप्रवर भगवान् श्रीशंकर के 'दशश्लोकी' का व्याख्यानमात्र है। साधारण दस छन्दों में वेदान्त के जिन दुरूह पदार्थों को उन्होंने अपनी ज्ञानदृष्टि से देखा है, वह अवश्य विस्मयजनक एवं उन्हीं जैसे कृती महापण्डितों से साध्य है। नहीं कह सकते कि भगवान् शङ्कराचार्य ने भी इन श्लोकों की रचना के समय इनके इतने सारगर्भ होने की कल्पना की हो या नहीं! सचमुच मधुसूदन सरस्वती की विद्वत्ता निःसीम थी। वे जैसे ज्ञानी थे, वैसे ही कल्पक भी। इस छोटे-से ग्रन्थ में उन्होंने आत्मा-अनात्मा, ज्ञान-अज्ञान, अध्यास, जीव, ईश्वर, आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, दृष्टिसृष्टिवाद आदि कितने ही वेदान्त के मुख्य-मुख्य प्रमेयों की ऊहापोहपूर्वक हृदयङ्गम व्याख्या की है। आस्तिक एवं नास्तिक सभी दार्शनिकों के मत में होनेवाली आत्मविषयक विप्रतिपत्तियों तथा अनुपपत्तियों का खण्डनकर अद्वैतवाद के सिद्धान्त की बड़े रोचक ढंग से पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त अनेक विषयों में शङ्काओं का समाधान किया गया है। मूलभूत तत्त्व कितने हैं? अनेक प्रकार के व्यापारों से युक्त बाह्य सृष्टि का क्या स्वरूप है? जन्म, स्थिति और मरण के मूल-कारण कौन-कौन हैं? सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि रूप आभ्यन्तर सृष्टि का वास्तविक रूप क्या है और उसके मूल-कारण कौन हैं? आदि प्रश्नों के विवेचन में यह निबन्ध पराकाष्ठा को पहुँचा है। प्रथम तथा अष्टम श्लोक की व्याख्या में तो आचार्य ने अपूर्व कौशल दरसाया है, वेदान्त का सारा तत्त्व निचोड़कर रख दिया है।

वेदान्त क्या है ?

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रस्तुत पुस्तक वेदान्तसम्बन्धी है। इसलिए यहाँ पर इस विषय में निवेदन कर देना प्रसङ्गतः प्राप्त है कि वेदान्त किसे कहते हैं ? वेदान्त है, वेद का सार भाग। वेद तीन भागों में विभक्त है : (१) कर्मकाण्ड, (२) उपासनाकाण्ड एवं (३) ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड ही वेद का सार है। उसीका दूसरा नाम है 'उपनिषद्', क्योंकि उपनिषदों में ही आत्मविषयक ज्ञान की आलोचना एवं विचार किया गया है। अतः सिद्ध हुआ कि उपनिषद् भाग का नाम वेदान्त है। उक्त ज्ञानकाण्ड के तात्पर्य के विषय में अनेक विरोध होने के कारण उसकी मीमांसा के हेतु 'ब्रह्म-सूत्र' का निर्माण हुआ अतः उसकी भी वेदान्त में गणना युक्त है। भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुख से उद्भूत गीता में उपनिषदों का सार भरा है, इसलिए उसे भी वेदान्त कहना समुचित ही है। यद्यपि 'वेदान्त' पद से मुख्यतया प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता का ही बोध होना चाहिये था, तथापि उनके अर्थ का व्युत्पादन कराने एवं उनके अनुसारी होकर जीव-ब्रह्म की एकता का निरूपण करने के कारण भाष्य, टीकाएँ एवं स्वतन्त्र निबन्ध आदि भी वेदान्तपदवाच्य हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती : संक्षिप्त जीवनी

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने अपने जन्म से किस प्रान्त को अलंकृत किया, कौन शताब्दी उनके आविर्भाव से धन्य हुई, उनकी लोकयात्रा कैसे सम्पन्न हुई, उन्होंने कौन-कौन ग्रन्थ रचे ? आदि जिज्ञासा की शान्ति के हेतु यहाँ पर कुछ विवेचन किया जाता है।

हमारे चरितनायक सस्यश्यामला वंगभूमि के समुज्ज्वल रत्न थे। उन्हें अपने गर्भ में धारणकर सचमुच उसका 'रत्नगर्भा' नाम सार्थक हो गया। वे वंगवासी थे, इस विषय में अनेक प्रमाण हैं। 'वेदान्त-कल्पलतिका' में उन्होंने '*नीलाचल-नाथस्य भजनाञ्जननिर्मलीकृतज्ञानचक्षुः प्रत्यक्षेणाज्ञाननिवृत्तिमनुभवति, औपनिषदास्तु नीलाचलनायकेनानुगृहीताः*' आदि वाक्यों में नीलाचलनाथ का समुल्लेखकर उनके विषय में अपनी अतुल भक्ति का परिचय दिया है। नीलाचलनाथ या नीला-चलनायक पद भगवान् जगन्नाथजी के पर्यायवाची हैं। जगन्नाथपञ्चक आदि स्तोत्रों के '*नीलाद्रिचूडामणिम्*', '*नीलाद्रौ शङ्खमध्ये शतदलकमले रत्नसिंहासनस्थम्*', '*कनकरुचिरे नीलशिखरे*......' आदि वचन इस विषय में प्रमाण हैं। उस समय सारे बङ्गाल में भगवान् जगन्नाथजी की भक्तिस्रोतस्विनी प्रबल वेग से बह रही थी। उनकी भी स्वोपास्यदेव के विषय में अतुल भक्ति होना स्वाभाविक ही था। इससे विदित होता है कि वे वंगवासी थे।

श्रीमधुसूदन सरस्वती के शिष्य पुरुषोत्तम सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु के '*बहु-याचनया मयायमल्पो बलभद्रस्य कृते कृतो निबन्धः*' इस श्लोक की व्याख्या करते हुए

बलभद्र को भट्टाचार्य बतलाया है और गौड़ ब्रह्मानन्द ने बलभद्र को आचार्य की सेवा में निरत ब्रह्मचारी कहा है। 'भट्टाचार्य' उपाधि प्रायः वङ्गदेश में ही प्रचलित है। शिष्य की प्रार्थनामात्र से एक ग्रन्थ तैयार कर देना उसकी अतिशय प्रेम-भाजनता एवं सेवानिरतता का द्योतक है। इस बात का उदाहरण प्रायः वङ्गदेशीय विद्वानों में ही पाया जाता है। मुक्तावलीकार पण्डितशिरोमणि श्रीविश्वनाथ पञ्चानन ने भी अपने स्नेहभाजन शिष्य राजीव की प्रार्थना पर मुक्तावली की रचना कर संस्कृत-संसार का बड़ा उपकार किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि वे वंगवासी थे। कुछ टीकाकारों ने तो मधुसूदन सरस्वती को भी भट्टाचार्य कहा है। जो कुछ भी हो, उनके वंगवासी होने में किसीको सन्देह नहीं है।

उनके विषय में वंशवृत्त आदि से जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे विदित होता है कि इनके मूल-पुरुष का नाम राम मिश्र था। वे समस्त वङ्गदेशीय ब्राह्मणों के मूल-पुरुष एवं वेदनिरत तपस्वी ब्राह्मण थे। उन्होंने जिला फरीदपुर के अन्तर्गत 'कोटालपाड़ा' ग्राम को अपना निवासस्थान बनाया। आचार्य मधुसूदन के पिता का नाम प्रमोदन पुरन्दर था। वे बड़े प्रख्यात व्यक्ति थे। उनके चार पुत्र हुए : (१) श्रीनाथ चूडामणि, (२) यादवानन्द न्यायाचार्य, (३) कमलजनयन एवं (४) वागीश गोस्वामी। इनमें यादवानन्द न्यायाचार्य राजा प्रतापादित्य की राजसभा के प्रधान पण्डित थे। उनके अपूर्व पाण्डित्य से प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें 'अविलम्ब-सरस्वती' की उपाधि दी थी। उनके ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ पुत्र के विषय में कोई विशेष उल्लेखयोग्य बात ज्ञात नहीं हो सकी। तृतीय पुत्र कमलजनयन ही हमारे चरितनायक हैं। उन्होंने बाल्यावस्था में नवद्वीप में न्याय का अध्ययन किया था। उनके न्यायशास्त्र के गुरु हरिराम तर्कवागीश थे। न्याय के अगाध विद्वान् गदाधर भट्टाचार्य उनके सहाध्यायी थे। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। न्याय के साथ ही-साथ माधव सरस्वती के निकट उन्होंने वेदान्त आदि दर्शनों में भी अतिशय प्रौढता प्राप्त कर ली थी।

इस प्रकार नवद्वीप में अध्ययनकर श्रीमधुसूदन सरस्वती काशी पधारे। अभी उनका विवाह नहीं हुआ था, वे आबाल ब्रह्मचारी थे। किंवदन्ती है कि काशीवासी पण्डितगण उनके साथ विचार में उनकी अलौकिक प्रतिभा के सामने नहीं ठहर सके। काशी में पहले-पहल उन्होंने दण्डी स्वामी श्रीविश्वेश्वर सरस्वती के चतुःषष्टिघाट (चौसट्टीघाट) स्थित मठ में निवास किया था। जब विश्वेश्वर सरस्वती ने मधुसूदनजी की असाधारण प्रतिभा की चर्चा सुनी, तो उन्हें अपने समीप बुलाया। मधुसूदन सरस्वती उनके निकट उपस्थित हुए। शास्त्रचर्चा में अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से उन्होंने विश्वेश्वर सरस्वती को विमुग्ध कर दिया। वहीं विश्वेश्वर सरस्वती के निकट संन्यास की दीक्षा ले ली। कह नहीं सकते कि उनके संन्यास लेने में विश्वेश्वर सरस्वती का उपदेश कारण हो, अथवा विपक्षियों के आक्रमण से जर्जरित अद्वैतवाद के उद्धार के लिए बद्धपरिकर होने के कारण स्वयं ही उन्होंने प्रथमाश्रम से चतुर्थाश्रम ग्रहण किया हो। जो भी हो, मधुसूदन सरस्वतीजी ने

आजन्म अद्वैतवाद की जो सेवा की, वह असाधारण एवं स्तुत्य है। उन्होंने सदा के लिए अद्वैतवाद-वैजयन्ती को देदीप्यमान कर दिया एवं गगनमण्डल में सबसे ऊँचे फहरा दिया। कृती आचार्य ने अपने इस कृत्य से अपनी कीर्तिकौमुदी को आकल्पान्त स्थायिनी बना दिया। अद्वैतवाद के इतिहास में उनका नाम सदा स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा। अद्वैतवाद की जैसी सेवा उन्होंने की है, वैसी शायद विरले ही कृतियों द्वारा हुई हो। श्रीमधुसूदन के प्रभाव से प्रभावित होकर अद्वैतवाद प्रबलतर से प्रबलतम हो गया।

उनके संन्यासाश्रम के गुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती थे। उन्होंने 'अद्वैतरत्नरक्षण' नामक निबन्ध की परिसमाप्ति में भगवान् विश्वेश्वर एवं अपने गुरु का अभेद-रूप से निर्देशकर स्वरचित ग्रन्थ उनको समर्पित किया है। ये लिखते हैं :

अद्वैतरत्नमेतत्तु श्रीविश्वेश्वरपादयोः।
समर्पितमथैतेन प्रीयतां स दयानिधिः॥

प्रकृत सिद्धान्तबिन्दु के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए इन्होंने कहा है :

श्रीशङ्कराचार्यनवावतारं
विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसानां
बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम्॥

इससे भी सिद्ध होता है कि उनके गुरु का नाम विश्वेश्वर था। उनके शिक्षा-गुरु माधव सरस्वती थे। उन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' की परिसमाप्ति में लिखा है :

श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः।
वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः॥

'गूढार्थदीपिका' नामक गीता की व्याख्या की समाप्ति में भी लिखा है :

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां
प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम्।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं
समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु॥

उपर्युक्त श्लोकों से विदित होता है कि उन्होंने शास्त्राध्ययन श्रीमाधव सरस्वती के निकट किया था, श्रीविश्वेश्वर सरस्वती उनके दीक्षा-गुरु थे और श्रीरामानन्द स्वामी परमगुरु।

उनके ग्रंथों के उपक्रम एवं उपसंहार देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने सभी ग्रंथ संन्यासावस्था में ही रचे थे।

अतुलनीय विष्णु-भक्ति और निष्कामता

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी की विष्णुभक्ति अतुलनीय है। वे जैसे ज्ञानी थे, वैसे ही भक्त भी। इस प्रकार ज्ञान एवं भक्ति का सामञ्जस्य उन्हींमें देखा गया

है। उनके समान शास्त्रमीमांसक विरले ही हुए हैं। गीता को गूढार्थदीपिका व्याख्या में सर्वत्र उन्होंने विष्णु भगवान् के प्रति प्रगाढ भक्ति का परिचय दिया है। गीताव्याख्या की समाप्ति में दिया गया निम्नलिखित श्लोक कितना भावमय है :

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

'अद्वैतसिद्धि' के प्रारम्भ एवं अवसान में भी उन्होंने निम्नलिखित पद्यों से विष्णु की अभिवन्दना की है :

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः
सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः ।
मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मको
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः ॥
यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष्य विबुधानेको वृतः स्वेच्छया
यः सर्वान् स्मृतमात्र एव सततं सर्वात्मना रक्षति ।
यश्चक्रेण निकृत्य नक्रमकरोन्मुक्तं महाकुञ्जरं
द्वेषेणापि ददाति यो निजपदं तस्मै नमो विष्णवे ॥

दोनों श्लोकों के भाव अपूर्व हैं। उपरितन श्लोक अद्वैतवाद के भावों से सराबोर है और अधस्तन पुराणों में वर्णित भगवान् की कितनी ही मनोहर कथाओं का स्मरण कराता है। इतने में ही उनकी हरिभक्ति-प्रगाढता की इतिश्री नहीं होती। इसके अतिरिक्त उन्होंने हरिभक्ति पर 'भक्तिरसायन' नामक एक स्वतन्त्र अत्युत्तम निबन्ध लिखा है। उसमें भक्ति को जो स्थान उन्होंने दिया है, उससे सहसा यह सन्देह होने लगता है कि यह किसी वैष्णव आचार्य की तो कृति नहीं है ? अद्वैतवाद के दर्जनों प्रौढ ग्रंथों के सफल रचयिता की लेखनी से यह प्रसूत होना कि भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थ एवं मुक्ति से भी बढ़कर है, अवश्य आश्चर्य-जनक एवं उनके पूर्ण भक्त एवं उदार हृदय होने का साक्षी है।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी की निष्कामता भी अलौकिक है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, पर ग्रन्थकर्तृत्व का अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया। वे उनका कर्त्ता अपने को समझते ही नहीं थे। समझें भी तो कैसे ? प्रथम श्रेणी के आत्मज्ञानी के लिए यह कैसे सम्भव था। इसीलिए उन्होंने लिखा है :

ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्त्ता स्तूयतां वा स निन्द्यताम् ।
मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि ॥

जब 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों के विचार से अपरोक्ष ज्ञान हो गया—आत्मसाक्षात्कार हो गया, मैं वही (आत्मा ही) हूँ, उससे पृथक्

नहीं हूँ, ऐसी भावना दृढ हो गयी—तब अनात्माश्रित अहंकार-ममकार का पता ही कहाँ ?

उन्होंनें अपने सब ग्रन्थ भगवान् एवं गुरुओं को समर्पित किये हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इस भगवदुक्ति के अनुसार ग्रन्थ ही नहीं, ग्रन्थनिर्माण से उत्पन्न हुआ सुकृत भी उन्होंने भगवान् के अर्पण कर दिया। अद्वैतसिद्धि की परिसमाप्ति में वे लिखते हैं :

कुतर्कगरलाकुलं भिषजितुं मनो दुर्धियां
मयायमुदितो मुदा विषविघातिमन्त्रो महान् ।
अनेन सकलापदां विघटनेन यन्मेऽभवत्
परं सुकृतमर्पितं तदखिलेश्वरे श्रीपतौ ॥

गुरुओं को समर्पण करने के वचन अद्वैतरत्नरक्षण, गीताव्याख्या आदि में कहे गये हैं। उनका दिग्दर्शन पहले हो चुका है।

सर्वतोमुख पाण्डित्य

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी का पाण्डित्य सर्वतोमुख था। वे जैसे वेदान्त के प्रगाढ पंडित थे, वैसे ही नव्य न्याय आदि दर्शनों में भी उनकी अप्रतिहतगति थी। पंडितमंडली में ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि संन्यास लेने के अनंतर मधुसूदन सरस्वती अपनी जन्मभूमि के दर्शन करने के लिए एक बार पुनः नवद्वीप गये। उनके वहाँ जाने से नैयायिक-सिरमौरों में जो खलबली मची, उसका एक कवि ने अच्छा चित्र खींचा है। वह कहता है :

नवद्वीपं समायाते मधुसूदनवाक्पतौ ।
चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः ॥

सुना जाता है, वहाँ वे अपने सतीर्थ्य श्रीगदाधर भट्टाचार्य के अतिथि हुए थे। गदाधर भट्टाचार्य जब अपने अन्तेवासियों को न्यायशास्त्र पढ़ाने लगे तो उन्होंने सोपहास कहा—'क्या छात्रावस्था में जो टिप्पणियाँ संकलित की थीं, उन्हें ही आप अभीतक पढ़ाते हैं ?' इसी सिलसिले में दोनों में शास्त्रचर्चा छिड़ गयी। उस चर्चा में गदाधर भट्टाचार्य ने मधुसूदन सरस्वती की अपूर्व कल्पनाशक्ति तथा असीम पदार्थ-सम्पत्ति को देखकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया था। इसी नव्य न्याय की प्रखरता के कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में परमत के खण्डन अवसर पर युक्तियों एवं अनुमानों से काम लिया है। जहाँ पर अन्य प्राचीन आचार्यों ने केवल श्रुति के सहारे परमत-खण्डन का प्रयत्न किया है, वहाँ वे अभिनव युक्तियों एवं तर्कों से उसका खण्डन कर कृती हुए। अद्वैतसिद्धि की समाप्ति में उन्होंने अपनी अनेक विद्याओं के परिचय का स्वयं उल्लेख किया है ;

गुरूणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात्
श्रुतेर्यन्मे सम्यङ् मननपरिनिष्पन्नमभवत् ।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं
तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम् ॥

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी के समस्त ग्रन्थों में उनकी हृदयस्पर्शी ज्ञानगरिमा, प्रबल भक्ति एवं उदार हृदय का परिचय मिलता है। जीवन की साधना के साथ जिन ग्रन्थों का प्रणयन होता है, उनके भाव अवश्य हृदयस्पर्शी होते हैं। मधुसूदनजी की जीवन-साधना को उनके ग्रन्थ अभिव्यक्त करते हैं। शिव और विष्णु में उन्हें कोई भेद नहीं भासता था, महिम्नःस्तोत्र की शिवपरक एवं विष्णुपरक व्याख्या उनकी अपूर्व कुशलता एवं शास्त्रगाम्भीर्य का द्योतन करती हुई इस बात को पुष्ट करती है।

विविध ग्रन्थ-निर्माण

श्रीमधुसूदन सरस्वतीनिर्मित निम्नलिखित १० ग्रन्थ उपलब्ध हैं: (१) सिद्धान्तबिन्दु या सिद्धान्ततत्त्वबिन्दु, (२) वेदान्तकल्पलतिका, (३) संक्षेपशारीरक-व्याख्या, (४) अद्वैतसिद्धि, (५) गूढार्थदीपिका (गीता-व्याख्या), (६) अद्वैत-रत्नरक्षण, (७) प्रस्थानभेद, (८) महिम्नःस्तोत्र की व्याख्या, (९) भक्तिरसायन एवं (१०) भागवत-व्याख्या।

यद्यपि इनकी रची हुई भागवत की व्याख्या सम्पूर्ण हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई, परन्तु वृन्दावन से प्रकाशित श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारीजी के बृहत्संस्करण में प्रथम श्लोकमात्र की व्याख्या हमने देखी है। उसके आदि में मंगल करते हुए आचार्य लिखते हैं:

श्रीकृष्णं परमं तत्त्वं नत्वा तस्य प्रसादतः ।
श्रीभागवतपद्यानां कश्चिद्भावः प्रकाश्यते ॥
अनुदिनमिदमायुः सर्वदाऽसत्प्रसंगै-
र्बहुविधपरितापैः क्षीयते व्यर्थमेव ।
हरिचरितसुधाभिः सिच्यमानं तदेतत्
क्षणमपि सफलं स्यादित्ययं मे श्रमोऽत्र ॥

इन श्लोकों से मालूम होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण भागवत की टीका रची है, पर हमारे दुर्भाग्य से इस समय वह सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

जर्मनी के थोडर (Theodor) महाशय ने अपने बृहत् सूचीपत्र (Catalogus Catalegoram) में उक्त दस ग्रन्थों के अतिरिक्त आत्मबोध-टीका, आनन्दमन्दाकिनी, कृष्णकुतूहल-नाटक, भक्तिसामान्यनिरूपण, वेदस्तुति की टीका आदि १२ ग्रन्थों को और जोड़कर इनके २२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पर संस्कृत-संसार में उनके उपर्युक्त १० ही ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थों में इन ग्रन्थों का कहीं उल्लेख

भी नहीं मिला है। सम्भव है, ये उन्हींकी कृतियाँ हों या किसी अन्य मधुसूदन सरस्वती की। अद्यावधि इन अतिरिक्त ग्रन्थों को देखने का भी हमें सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

उनके पूर्वोक्त ग्रन्थों में किसकी रचना सबसे पहले हुई और किसकी सबसे पीछे? इस विषय में क्रमिक निर्देश करना असम्भव है, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ में उसके निर्माण की तिथि नहीं दी गयी है। केवल एक यही सूत्र निर्णायक है कि किस ग्रन्थ के वचन किस ग्रन्थ में उद्धृत किये गये हैं, यह देखकर जिस ग्रन्थ के वाक्य दूसरे ग्रन्थ में उद्धृत हुए हैं, उसे पूर्वरचित एवं जिसमें उद्धृत किये गये हैं, उसे पश्चात् रचित सिद्ध करना। उक्त युक्ति के अवलम्बन से ज्ञात होता है कि उनकी सर्वप्रथम कृति सिद्धान्त-बिन्दु है, कारण अद्वैतसिद्धि में *'व्युत्पादितं चैतदस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ'* (नि० सा० सं० पृ० ५४६), *'सर्वमुपपादितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ'* (नि० सा० सं० पृ० ५५६), *'सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकयोर्विस्तरः'* (नि० सा० सं० पृ० ८६६) आदि वाक्यों में सिद्धान्तबिन्दु का समुल्लेख किया गया है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि अद्वैतसिद्धि की अपेक्षा सिद्धान्त-बिन्दु प्राचीन है। महिम्नःतोत्र की टीका, वेदान्तकल्पलतिका, गूढार्थदीपिका, भागवत की व्याख्या, भक्तिरसायन एवं अद्वैतरत्नरक्षण से भी यह ग्रन्थ प्राचीन है, क्योंकि महिम्नःस्तोत्र की व्याख्या में 'वेदान्तकल्पलतिका' का उल्लेख है: *'विस्तरेण चात्र युक्तयो वेदान्तकल्पलतिकाया-मनुसन्धेयाः'*, *'यथा च शब्दादपरोक्षनिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्त-कल्पलतिकायाम्'* (क्रमशः महिम्नःस्तोत्र के २६ वें और २७ वें श्लोक की व्याख्या)। वेदान्तकल्पलतिका में सिद्धान्तबिन्दु का उल्लेख आया है: *'विस्तरेण प्रपञ्चितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ'* (वे० क० सरस्वतीभवन सं० पृ० ८७)। अद्वैतसिद्धि में गीताव्याख्या गूढार्थदीपिका का उल्लेख है : *'विस्तृतमिदमस्माभिर्गीतानिबन्धने'* (पृ० ७३९)। गीताटीका में भागवत की टीका का उल्लेख किया गया है। भागवत-टीका में भक्तिरसायन' का नाम आया है: *'भक्तिरसानुभवप्रकारश्च सर्वोऽप्यस्माभिः भक्तिरसायनेऽभिहितः'* (स्क० १ अ० १ श्लोक १ की व्याख्या)। भक्तिरसायन में वेदान्तकल्पलतिका का उल्लेख किया है: *'विस्तरस्तु अस्मदीयवेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः।'* सिद्धान्तबिन्दु का उल्लेख वेदान्तकल्पलतिका में आया है। इन उद्धरणों से सिद्ध हो गया कि उपर्युक्त पुस्तकों से सिद्धान्तबिन्दु प्राचीन है। यद्यपि सिद्धान्तबिन्दु में भी वेदान्तकल्पलतिका का उल्लेख है: *'विस्तरस्तु वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः'* (सि० बि० पृ० २११), *'विस्तरेणैतत् प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते'* (सि०बि०पृ०२३१), तथापि इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि 'वेदान्तकल्पलतिका' इससे प्राचीन है, क्योंकि वेदान्तकल्पलतिका में भी तो सिद्धान्तबिन्दु का उल्लेख है। ये दोनों समकालिक भले ही मान लिये जायँ, इसमें हमें विप्रतिपत्ति नहीं है। 'अद्वैतरत्नरक्षण' में बहुत स्थलों में अद्वैतसिद्धि के वचन उद्धृत किये गये हैं। इससे विदित होता है कि उक्त निबन्ध पूर्वोक्त सब ग्रन्थों से अर्वाचीन है। यह निर्णय करना कठिन है कि महिम्नः-स्तोत्र की व्याख्या तथा 'संक्षेपशारीरक' की

व्याख्या से अद्वैतरत्नरक्षण प्राचीन है या अर्वाचीन। न तो उनमें अद्वैतरत्नरक्षण का उल्लेख मिला है, और न उनका अद्वैतरत्नरक्षण में।

ग्रन्थकारका काल-निर्णय

श्रीमधुसूदन सरस्वती के समय का अभीतक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका। इस विषय में अनेक मतभेद हैं। कोई सोलहवीं शताब्दी के अन्ततक ही उनका काल सीमित करते हैं, तो कोई सत्रहवीं शताब्दी के तृतीय भाग में उनका जन्म निश्चित करते हैं। लेकिन मेरे विचार में उनका जन्म सोलहवीं शताब्दी के चतुर्थ भाग में हुआ था और सन् १६५० तक वे विद्यमान थे। उनका रचनाकाल १६१० से १६४० तक माना जाय, तो कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। ऐतिहासिक छान-बीन के बाद यह बात प्रायः निश्चित हो गयी है कि अप्पय दीक्षित का जन्म सन् १५२० में हुआ था और ७३ वर्ष की अवस्था में सन् १५९३ में वे स्वर्गवासी हुए। अद्वैतसिद्धि में मधुसूदन सरस्वती ने अप्पय दीक्षित का 'परिमलकार' पद से बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—*"सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्भामतीकार-कल्पतरुकार-परिमलकारैरिति।"* श्रीमधुसूदन सरस्वती का सवतन्त्र-स्वतन्त्र कहकर उनकी प्रशंसा करना एवं दार्शनिकशिरोमणि भामतीकार की समान कक्षा में उनका उल्लेख करना इस बात को सिद्ध करता है कि अप्पय दीक्षित का जन्म मधुसूदन सरस्वती के जन्म से कम से कम ६० वर्ष पूर्व हुआ था एवं श्रीमधुसूदन सरस्वती की ग्रन्थरचना के समय वे संसार में नहीं रह गये थे।

यदि श्रीमधुसूदन सरस्वती का समय भी सोलहवीं शताब्दी के अन्ततक या उससे कुछ पूर्व मान लिया जाय, तो इससे बहुत-सी अड़चनें उपस्थित होती हैं। प्रथम तो यह कि मधुसूदन सरस्वती एवं अप्पय दीक्षित के वय में बहुत कम अन्तर मानना पड़ेगा। एक प्रकार से वे समकालिक सिद्ध हो जायँगे। यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि वे समकालिक थे, तो शंका होती है कि एक अपने समकालिक का अपने ग्रन्थ में बड़े आदर के साथ उल्लेख करें और दूसरे उनके विषय में सर्वथा मौन रहें, यह कैसे सम्भव हो सकता? पाण्डित्य की दृष्टि से भी मधुसूदन सरस्वती उनसे कुछ कम नहीं थे। उनका ग्रंथ-रचना का काल भी थोड़ा नहीं रहा। उनका ग्रन्थप्रणयन में कम-से-कम २५-३० वर्ष का काल लगना सम्भव है। दोनों विद्वान् काशीवासी ही थे। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अपने समकालीन प्रकाण्ड पण्डित की कोई भी कृति उनके दृष्टिगोचर न हुई होगी, अतः उनका उनके ग्रन्थों में समुल्लेख नहीं हुआ। उपर्युक्त विवेचन से भी सिद्ध है कि मधुसूदनजी की ग्रन्थरचना उनके देहावसान के बाद से आरम्भ हुई थी।

श्रीमधुसूदन सरस्वती की सबसे पहली कृति सिद्धान्तबिन्दु है, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। सिद्धान्तबिन्दु की एक प्रति उपलब्ध हुई है। उसमें लिखे—*'नवाग्निबाणेन्दुमिते शकाब्दे'* वाक्य के अनुसार उसकी प्रतिलिपि १५३९ शकाब्द

अर्थात् सन् १६१७ में हुई थी। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि सिद्धान्तबिन्दु की रचना १६१७ से पूर्व हुई थी। इसके अनुसार सत्रहवीं शताब्दी के तृतीय भाग में भी उनका जन्म कदापि नहीं माना जा सकता। कोई इससे यह भी सिद्ध करते हैं कि श्रीमधुसूदन सरस्वती का काल सन् १६१७ के पूर्व हो सकता है, पश्चात् नहीं। ऐसा अनुमान तभी सम्भव हो सकता, जब कि ऐसी व्याप्ति हो कि ग्रन्थाकार के जीवनकाल में उसके ग्रन्थ की प्रतिलिपि नहीं हो सकती। लेकिन ऐसी व्याप्ति नहीं देखी जाती। सम्प्रति ऐसे ग्रन्थकार विद्यमान हैं, जिनकी कृतियों के बहुत वर्ष पूर्व से कितने ही संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं और कितनी ही बार उनकी प्रतिलिपि हो चुकी है। इससे यही सिद्ध होता है कि सिद्धान्तबिन्दु की की रचना सन् १६१७ से पूर्व हुई है। इस विषय को विस्तार के भय से मैं यहीं समाप्त कर देता हूँ। जिन महाशयों को विशेष जानने की इच्छा हो, उन्हें 'जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास' (VOL. II Part II P. P. 97—104) तथा 'प्रिंसेस आफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज, बनारस' (VOL. VII P. P. 177—182) में देखना चाहिये।

इस ग्रन्थ का भाषानुवाद गङ्गातीर-निवासी वेदान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् एक महात्माजी की कृपा से सम्पन्न हुआ है। उनके आदेश से मैं उनका नाम प्रकाशित करने में असमर्थ हूँ। उक्त महात्माजी के आदेश से इतना यहाँ पर और कह देना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ में जो टिप्पणी दी गयी है, उनके लिखने में प्रायः महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर की 'बिन्दुप्रपात' व्याख्या से मदद ली गयी है। इसलिए ग्रन्थमाला की ओर से उन्हें तथा उक्त महात्माजी को हृदय से अनेकानेक धन्यवाद देकर विराम लेता हूँ और विद्वानों से इसमें हुई त्रुटियों के लिए क्षमा चाहता हूँ।

जन्माष्टमी १९८९ } विनीत
काशी } श्रीकृष्ण पन्त

द्वितीय संस्करण के बारे में

'सिद्धान्तबिन्दु' का यह द्वितीय संस्करण अपने कृपालु पाठकों को भेंट करते हुए हमें महान् हर्ष हो रहा है। इस संस्करण में प्रथम संस्करण में छूट गयी अशुद्धियों का भी यथासंभव शोधन कर दिया गया है। भाषानुवाद में भी यथासंभव प्रांजलता लाने का यत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त आकार भी अपनी अन्य पुस्तकों के अनुसार डिमाई से बदलकर रायल कर दिया गया है।

दीपावली, २०१३ वि०
वाराणसी

विनीत
सम्पादक

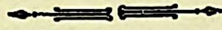
(३)

विषय-सूची

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता

दशश्लोकी



न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ १ ॥

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि ।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ २ ॥

न माता पिता वा न देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ३ ॥

न साङ्ख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं
न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा ।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ४ ॥

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं
न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वाऽपरा दिक् ।

वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूप-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ५ ॥
न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम् ।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ६ ॥
न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः ।
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णु-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ७ ॥
न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्ति-
र्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा ।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीय-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ८ ॥
अपि व्यापकत्वाद्धितत्वप्रयोगात्
स्वतस्सिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ९ ॥
न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतस्स्याद्
न वा केवलत्वं न चाऽकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ १० ॥

———

॥ श्रीः ॥

सिद्धान्तबिन्दुः

[भाषानुवादसहित]

श्रीशङ्कराचार्यनवावतारं
विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य ।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसानां
बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम् ॥

श्रीशङ्कराचार्यरूप से नूतन अवतार लिये हुए जगद्गुरु श्रीविश्वेश्वर[1] को प्रणाम-कर विशाल [2]वेदान्त-शास्त्र को सुनने में आलस्य करनेवाले लोगों के बोध के लिए मैं एक [3]विलक्षण ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

इह खलु साक्षात् परम्परया वा सर्वानेव जीवान् समुद्दिधीर्षुर्भगवानाचार्यः श्रीशङ्करोऽनात्मभ्यो विवेकेनाऽऽत्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं संक्षेपेण बोधयितुं दशश्लोकीं प्रणिनाय ।

---

१ यहां 'विश्वेश्वर' शब्द श्लिष्ट है, जिससे भगवान् शंकर के साथ अपने गुरु श्री-विश्वेश्वर सरस्वती को भी नमन किया गया है।

२ 'वेदान्त' यानी उपनिषत्। उप - समीप में आये हुए प्रत्यगात्मपरायण पुरुषों के मूला-ज्ञानसहित संसारको सादयति—नष्ट कर देती है, इसलिए उपनिषत् शब्द का अर्थ 'ब्रह्मविद्या' है। उस ब्रह्मविद्या की शिक्षा देनेवाले उपनिषत्-विद्या के भाष्यादि के श्रवण में अलस पुरुषों को संक्षेप से बोध कराने के लिए।

३ सब सिद्धान्तों का संग्रहरूप अपूर्व ग्रन्थ।

यहाँ[१] पर साक्षात्[२] अथवा परम्परा[३] से समस्त प्राणियों का उद्धार करने की इच्छावाले भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने अनात्माओं[४] से विवेकपूर्वक नित्य,[५] शुद्ध,[६] बुद्ध[७] मुक्तस्वभाव[८] आत्मा का संक्षेप से बोध कराने के लिए दशश्लोकी की रचना की।

नन्विदङ्कारास्पदेभ्योऽनात्मभ्यो विवेकेनाऽहङ्कारास्पदमात्मानं सर्वोऽपि लोकोऽहमस्मीति प्रत्येति दुःखं चानुभवति। तेन ज्ञातज्ञापकत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च आत्मतत्त्वप्रतिपादनं व्यर्थमिति चेत्, न; चिद्भास्यत्वेन लक्षणेनेदंकारास्पदानामपि देहेन्द्रियमनसां प्रतिभासतोऽहङ्कारास्पदत्वेन तदविवेकात्।

शङ्का—'ये[९] हैं' ऐसी प्रतीति के विषय अनात्माओं (देह, इन्द्रिय, मन, प्राण) से विवेक[१०]पूर्वक 'अहम्' इस प्रतीति के विषय आत्मा[११] को 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी जानते हैं, और दुःख का अनुभव भी करते हैं। इसलिए ज्ञात वस्तु का बोधक होने तथा निष्प्रयोजन होने से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन व्यर्थ है।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते; चिद्भास्यत्वरूप[१२] लक्षण से यद्यपि देह, इन्द्रिय और मन 'इदम्' ऐसी प्रतीति के विषय हैं, तथापि भ्रम से 'मैं गौर हूँ' इत्यादि स्थल में देह में 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होने से आत्मतत्त्व का विवेक नहीं होता।

---

१ मोक्ष के साधन अद्वितीय आत्मतत्त्व का विचार प्रस्तुत होने पर।

२ उत्तमाधिकारी को दशश्लोकी के श्रवणमात्र से।

३ अन्य पुरुषों को दशश्लोकी के उपदेश के अनन्तर श्रवण-मननादि साधनों के द्वारा।

४ देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादि पदार्थ अनित्य, अशुद्ध, जड़ और कर्मों के वश में रहनेवाले हैं, अतः ये आत्मा नहीं हैं।

५ कालकृत परिच्छेद से रहित।

६ अविद्यारूप मल से रहित।

७ स्वयंप्रकाश अनुभवरूप।

८ प्रमातृत्व आदि बन्ध से रहित।

९ अनात्मपदार्थ घट आदि 'इदम्' (यह) कहे जाते हैं।

१० उनके भेद से।

११ 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा को प्राणिमात्र जानता है, इसलिए प्राणिमात्र को आत्मज्ञान है। इसीलिए ज्ञातज्ञापक होने से शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञातज्ञापक ही प्रमाण हुआ करता है।

१२ आत्मज्ञानी होते हुए भी प्राणिमात्रको दुःख का अनुभव होता है, इसलिए दुःखनिवृत्तिरूप प्रयोजन भी शास्त्र से सिद्ध नहीं होता। इसलिए शास्त्र का निर्माण व्यर्थ है।

तेन च शुद्धेऽप्यात्मनि दुःखित्वाद्यभिमानात् । शास्त्रीयेण च ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानेन समूलस्य तस्य निवृत्तेः । तस्मादज्ञातज्ञापकत्वात् सप्रयोजनत्वाच्च आत्मतत्त्वप्रतिपादनं न व्यर्थम् ।

उसी अविवेक से शुद्ध आत्मा में भी 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार दुःखित्व का अभिमान होता है । शास्त्रोक्त[२] ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से समूल (अज्ञान सहित) दुःख की निवृत्ति हो जाती है । इसलिए अज्ञात वस्तु का बोधक होने एवं सप्रयोजन होने के कारण आत्मतत्त्व का प्रतिपादन निष्फल नहीं है ।

तस्य चाऽऽत्मतत्त्वस्य 'तत्त्वमसि','अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिवेदान्तमहावाक्य-मेव प्रमापकम् । वाक्यं च पदार्थज्ञानद्वारेणैव बोधकमिति तत्त्वंपदार्थयोः प्रकृत-वाक्यार्थानुकूलयोरन्यतोऽसिद्धत्वात्तावपि शास्त्रेणैव प्रमातव्यौ, यूपाऽऽहव-नीयादिपदार्थवत् ।

उस आत्मतत्त्व का 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तमहावाक्य ही यथार्थ ज्ञान कराते हैं । वाक्य पदार्थों के ज्ञान द्वारा ही बोधक होता है, इसलिए प्रकृत अखण्डरूप वाक्यार्थ के अनुकूल तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ की अन्य लौकिक प्रमाण से

शरीरादि यद्यपि अहंकारास्पदत्वेन प्रतीत होते हैं, तथापि वे आत्मा नहीं हैं । किन्तु इदङ्कारा-स्पद होने से अनात्मा हैं । इदङ्कारास्पदत्व का अर्थ 'इदम्' इस प्रतीति का विषय होना नहीं है, किन्तु चिद्भास्यत्व (जडत्व) है । इसलिए यद्यपि अज्ञानियों को घट आदि कतिपय अनात्माओं से भिन्न आत्मा का ज्ञान है, तथापि शरीरादि से भिन्न शुद्ध-बुद्धादिरूप आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं है । उस शुद्धादिस्वरूप आत्मा के ज्ञान के लिए आचार्यों का दशश्लोकीरूप शास्त्र की रचना करना व्यर्थ नहीं है । और जो पूर्ववादी ने कहा है कि आत्मज्ञान के होने पर भी दुःख का अनुभव होता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध चित्-स्वरूप आत्मा में दुःख का सम्बन्ध सूर्य में अन्धकार के सम्बन्ध की तरह अत्यन्त असम्भव है । यद्यपि बद्ध-अवस्था में भी आत्मा में दुःख का सम्बन्ध नहीं है, तथापि दुःखी मन के सम्बन्ध से आत्मा में "मैं दुःखी हूँ' यह अभिमान होता है । उस दुःखित्वअभिमान की निवृत्ति के लिए शास्त्र की रचना सार्थक है ।

२ शास्त्रजन्य ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान से ।

सिद्धि[1] नहीं हो सकती, अतः उनका भी यथार्थ ज्ञान यूप[2] एवं आहवनीय पदार्थ की तरह शास्त्र से ही सम्पादनीय है।

ततश्च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३ । १ । १) इत्यादिसृष्ट्यादिश्रुतयस्तत्पदवाच्यस्यार्थस्य समर्पिकाः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १ । १) इत्यादयस्तु लक्ष्यार्थस्य। एवं 'तद् यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसञ्चरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च (बृ० ४ । ३ । १८) इत्याद्याः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिश्रुतयस्त्वंपदवाच्यस्यार्थस्य समर्पिकाः । 'यो[3]ऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु[4] हृद्यन्तर्ज्योतिः[5]पुरुषः' (बृ० ३। ४ । ७) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं[6]पश्येः' (बृ० ३ । ४ । २) इत्यादयस्तु लक्ष्यार्थस्य। तेन प्रथममवान्तरवाक्येभ्योऽनुभूतयोः शुद्धयोर्जीवब्रह्मणोस्तत्त्वमस्यादिवाक्ये मुख्यार्थान्वयानुपपत्त्या लक्षणाया निर्विकल्पकस्मरणोपपत्तिः ; सुषुप्तौ निर्विकल्पकसाक्षिचैतन्यानुभवाङ्गीकाराच्च । अद्वितीयब्रह्मविजिज्ञापयिषया प्रवृत्तानां सत्यादिपदानामुपाधिविशिष्टचैतन्ये शक्तत्वेऽपि चैतन्यमात्रे तात्पर्येण

---

१ ज्ञान नहीं होता। वाक्यार्थ ज्ञान पदार्थज्ञान की नियम से अपेक्षा करता है। पदार्थ के अस्तित्व की नियम से अपेक्षा नहीं करता। अन्यथा 'भीम ने दुर्योधन को मारा' इस वाक्य का अर्थ उपपन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि भीम तथा दुर्योधन दोनों पदार्थों की सत्ता वाक्यार्थ-ज्ञान-काल में नहीं है।

२ 'यूपे पशुं बध्नाति' इस श्रुति ने पशु के बन्धन के आधाररूप से यूप का विनियोग किया है। यूप-पदार्थ की सिद्धि लौकिक प्रमाणों से नहीं होती, किन्तु 'यूपं तक्षति' यूप को छीलता है, 'यूपमष्टास्त्री करोति' यूप के ८ कोने बनाता है, इस शास्त्र ही से आठ कोणोंवाला काष्ठ यूप है, यह सिद्ध होता है। वैसे ही 'आहवनीये जुहोति' इस श्रुति ने होम का आधार आहवनीय बतलाया है। आहवनीय पदार्थ की भी लौकिक प्रमाणों से सिद्धि नहीं होती, किन्तु 'नक्तं गार्हपत्यमादधाति दिवाऽऽहवनीयम्' इस श्रुति से ही दिन में आधान का आधार अग्नि आहवनीय कहा जाता है, यह निश्चय होता है।

३ अयम्—अहं इस बुद्धि का विषय। विज्ञानमय-विज्ञानप्राय—बुद्धि का अभिमानी।

४ ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक और प्राणपञ्चक में अन्तर्यामीरूप से स्थित।

५ बुद्धि में अन्तर्वर्तमान ज्योति (आदित्य, अग्नि और वाणी का अभाव होने पर भी प्रकाशक) स्वयंप्रकाश सब दृश्यों में अनुगत।

६ दृष्टि (प्रमाणजन्य वृत्ति) के द्रष्टा (भासक) को तू नहीं देखता है।

तदंश एव संस्कारोद्बोधाच्च। इच्छन्ति ह्याकाशादिपदादपि निर्विकल्पकं स्मरणम्, तात्पर्याधीनत्वाच्छब्दवृत्तेः। एतेन प्रमितिप्रमात्रोर्महावाक्यार्थबोधे भानमपास्तम्। असम्प्रज्ञातसमाधेः श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वाच्चेति। पारोक्ष्यसद्वितीयत्वाभ्यां च न तत्त्वंपदार्थमात्रानुभवादेव कृतकृत्यता।

इस नियम से ही 'यतो वा०,'[1] इत्यादि सृष्टि आदि की प्रतिपादक श्रुतियां 'तत्' पद के वाच्य अर्थ का बोधन करती हैं। 'सत्यं ज्ञान०'[2] इत्यादि श्रुतियां 'तत्' पद के लक्ष्य अर्थ का बोध कराती हैं। इसी प्रकार 'तत् यथा०'[3] इत्यादि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की श्रुतियां 'त्वम्' पद के वाच्य अर्थ की बोधिका हैं। 'योऽयं वि०', 'न दृष्टे०' इत्यादि श्रुतियाँ 'त्वम्' पद के लक्ष्य अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। इससे पहले अवान्तर वाक्यों से ज्ञात शुद्ध जीव एवं शुद्ध ब्रह्म के मुख्य अर्थ की 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में अनुपपत्ति[4] होती है, इसलिए लक्षणा से निर्विकल्पक अर्थ की उपस्थिति होती है;

---

१ श्रुत्यर्थ—जिस उपादान से ये प्रत्यक्ष प्रतीत होते हुए नामरूपात्मक ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त भूत उत्पन्न होते हैं और जिस निमित्त से उत्पन्न हुए जीवन धारण करते हैं। सुषुप्ति, मृत्यु आदि अवस्थाओं में जिस ब्रह्म में वासनारूप से लीन हो जाते हैं और ज्ञानकाल में बाध होने से जिस ब्रह्म के स्वरुप ही हो जाते हैं, उसका विचार करो। विचार करने पर जो सृष्टि आदि का कर्त्ता है, वही ब्रह्म है।

२ श्रुत्यर्थ—जो पुरुषधौरेय व्यापक, सत्य (कालत्रयाबाध्य), ज्ञानस्वरूप, अनन्त (परिच्छेदत्रयरहित), पञ्चकोशरूपी गुफा में छिपे हुए ब्रह्म को साक्षीरूप से जानता है (पञ्चकोशों का साक्षी ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्म को जानता है) वह युगपत् सब भोगों को प्राप्त करता है।

३ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव है, क्योंकि उद्दालक ने श्वेतकेतु का सम्बोधन करके 'त्वम्' यह पद कहा है। जीव का स्वरूप 'तद्यथा०' इस श्रुति में जाग्रदादि अवस्थावान् कहा है, अवस्थावान् ही का सम्बोधन हो सकता है, इसलिए 'त्वम्' शब्द का अर्थ जीव ही है। 'तद्यथा' इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है—जैसे लोक में महामत्स्य महान् होने से नदी के प्रवाह के वश नहीं होता, प्रत्युत वही नदी के प्रवाह को रोक लेता है और नदी के पूर्व एवं अपर दोनों तटों में स्वच्छन्द विचरता रहता है, वैसे ही यह पुरुष (जीवात्मा) स्वप्न, जाग्रत्रूपी दोनों अवस्थाओं में यथेष्ट संचार करता है।

४ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ का अभेद से अन्वय प्रतीत होता है, और वह अभेद तत्पद और त्वम्पद के वाच्य अर्थों का हो नहीं सकता, क्योंकि जाग्रदादि अवस्थावान् जीव-जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए

क्योंकि सुषुप्ति[1] में निर्विकल्पक साक्षिचैतन्यरूप ज्ञान का स्वीकार है। तथा अद्वितीय[2] ब्रह्म का बोध कराने की इच्छा से प्रवृत्त हुए सत्य, ज्ञान आदि पदों की यद्यपि सत्यत्व-ज्ञानत्वरूप उपाधियुक्त चैतन्य में शक्ति गृहीत है; तथापि तात्पर्य से उपाधियुक्त चैतन्य के अंशरूप केवल चैतन्यमात्र में संस्कार का उद्बोध होता है। नैयायिक[3] लोग भी आकाश आदि पदों से निर्विकल्पक अर्थ की उपस्थिति मानते हैं, क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति तात्पर्य के अधीन है। इससे[4] महावाक्य के अर्थबोध में प्रमिति और प्रमाता का भान होता है, ऐसा कहनेवालों के मत का प्रत्याख्यान हो गया। असम्प्रज्ञात समाधि भी श्रुति और

शब्दप्रमाण से पहले अनुभव किये हुए शुद्ध चैतन्य का संस्कार द्वारा स्मरण होने पर शुद्ध चैतन्य में शक्य अर्थ का सम्बन्ध होने से लक्षणा से शुद्ध चैतन्य ही गृहीत होता है।

१ सुषुप्ति-अवस्था में निर्विशेष साक्षिचैतन्य का सब पुरुषों को अनुभव है, इसलिए महावाक्य में यह लक्षणा से गृहीत हो सकता है।

२ सुषुप्ति-अवस्था में साक्षिचैतन्यमात्र का अनुभव होता है, किसी भी औपाधिक धर्म की प्रतीति नहीं होती। इसलिए औपाधिक धर्मों का सुषुप्ति-अवस्था में व्यभिचार होने से ब्रह्म उन धर्मों से विशिष्ट नहीं है। केवल चैतन्यमात्र ही है। इसलिए मोक्ष के साधन ज्ञान का विषय जो ब्रह्म उसके स्वरूप के प्रतिपादक सत्यादि वाक्य का चैतन्य-मात्र के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। इसलिए सत्यादि पद से शक्ति के ही द्वारा निर्विशेष चैतन्य की यद्यपि उपस्थिति हो सकती है, तथापि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत्पद से निर्विशेष चैतन्य की उपस्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुति से पहिले जगत् के कारण सूक्ष्मतर सविशेष आत्मस्वरूप का अणिमा शब्द से निर्देश करके सारे स्थूल जगत् का उसे सूक्ष्म कारणस्वरूप बतलाया है। इसलिए 'तत्' पद से सविशेष ईश्वर ही का स्मरण हो सकता है, अतः 'तत्' पद में लक्षणा आवश्यक है। 'त्वम्' पद से भी सम्बोधन के योग्य सविशेष जीव ही का परामर्श होता है, इसलिए 'त्वम्' पद में भी लक्षणा आवश्यक है।

३ मणिकार ने कहा है कि आकाश-पद से निर्विकल्पक का स्मरण होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो 'आकाशः शब्दाश्रयः' इस वाक्य में शब्दाश्रयत्व सविकल्परूप से आकाश की उपस्थिति होने पर इस वाक्य का अर्थ 'शब्दाश्रयः शब्दाश्रयः' ऐसा होता है। वह पुनरुक्ति दोष से अनुपपन्न है, इसलिए शब्दाश्रयत्वरूपी धर्म का परिमोष (त्याग) करके शुद्ध निर्विकल्पक आकाश ही की उपस्थिति होती है।

४ प्रभाकर के मत में 'घटः' इत्यादि सब ज्ञानों में प्रमिति और प्रमाता का भान अवश्य होता है, क्योंकि 'घटः' ऐसा ज्ञान होने पर मैं घट को जानता हूँ, इस प्रकार घटरूपी प्रमेय और उसकी ज्ञानरूपी प्रमिति तथा प्रमातारूपी ज्ञाता—इस त्रिपुटी (तीनों) का भान

स्मृति[1] से सिद्ध है। परोक्षता[2] और सद्वितीयतारूप विरुद्ध धर्मों के रहने से तत् और त्वं पद के वाच्यार्थमात्र के ज्ञान से कृतकृत्यता नहीं हो सकती।

वाच्यार्थ[3]भेदावभासान्न पौनरुक्त्यम्। लक्ष्यस्य चार्थस्यैकत्वादखण्डार्थता। पदजन्यस्मरणस्य निर्विकल्पकवाक्यार्थानुकूलस्य निर्विकल्पकत्वमनुभव[4]वदेवाविरुद्धम्[5]। सविकल्पक[6]वाक्यार्थबोधे च सविकल्पकपदार्थो-

---

आवश्यक है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुति, स्मृति और योगशास्त्रादिकों में सविकल्प निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार की समाधियाँ कही हैं। निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार ही मुक्ति का साधक है, इसलिए श्रुत्यादि प्रमाणों से महावाक्य द्वारा निर्विकल्पक त्रिपुटीरहित आत्मचैतन्य की उपस्थिति होती है। इसलिए प्रभाकर का यह कथन कि सब ज्ञानों में त्रिपुटी का भान होता है, असंगत है।

१ 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥' इत्यादि। जिस अवस्था में मन, बुद्धि सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं, वही मुख्य अवस्था है।

'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।' 'यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।' जिस अवस्था में योगाभ्यास से चित्त निरुद्ध हो जाता है और अपने आत्मा ही से आत्मा को देखता हुआ आत्मा ही में प्रसन्न हो जाता है। इसलिए प्रभाकर का यह कथन कि निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य नहीं है, सब ज्ञानों में त्रिपुटी का भान होता है, असंगत है; क्योंकि उक्त श्रुति-स्मृतिरूपी प्रमाणों से और 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्', 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इत्यादि योगसूत्रों से भी निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य की सिद्धि होती है।

२ महावाक्य में चैतन्य मात्र का स्मरण करने पर भी तत्पदार्थ का स्वभावसिद्ध परोक्षत्व ज्ञान और त्वम् पदार्थ का अपरोक्षत्व ज्ञान अवश्य होगा, इसलिए मोक्ष का उपयोगी अद्वितीय आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः पदार्थों के ज्ञान से कृतार्थता नहीं हो सकती; एतदर्थ लक्षणा से अखण्डचैतन्य की उपस्थिति आवश्यक है।

३ 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में दोनों पदों की लक्षणा करने से लक्ष्य अर्थ अनेक हो जायँगे, इसलिए अखण्डार्थता सिद्ध न होगी। यदि दोनों पदों से एक अर्थ की उपस्थिति मानोगे तो पुनरुक्ति दोष होगा, यह शङ्का करके कहते हैं—'वाच्यार्थभेदेऽपि।'

४ 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य अनुभव की तरह।

५ प्रामाणिक है।

६ 'घटमानय' इत्यादि वाक्यजन्य शाब्दबोध में घटत्वादि प्रकार से सविकल्पक उपस्थिति होती है।

२

पस्थितिरङ्गम् । निर्विकल्पक[1]वाक्यार्थबोधे च निर्विकल्पक[2]पदार्थोपस्थितिरङ्गम् ।

'तत्' और 'त्वम्' पद के वाच्य अर्थ में भेद का अवभास होने से पुनरुक्ति दोष दोष नहीं है । लक्ष्य अर्थ दोनों पदों का एक ही है, अतः अखण्डार्थता भी है । निर्विकल्पक वाक्यार्थ के अनुकूल पदजन्यपदार्थोपस्थिति भी वाक्यजन्य निर्विकल्पक ज्ञान के समान निर्विकल्पक होती है, इसमें कोई विरोध नहीं है । कारण सविकल्पक वाक्यार्थ के ज्ञान में सविकल्पक पदार्थ की उपस्थिति साधन होती है और निर्विकल्पक वाक्यार्थ के ज्ञान में निर्विकल्पक पदार्थ की उपस्थिति साधन है ।

प्रकृते च निर्विकल्पको वाक्यार्थबोधः । तस्यैव प्रमात्वेनाज्ञाननिवृत्तिसामर्थ्यात् । अतो न लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेण लक्षणानुपपत्तिः । प्रकृतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितेरेव शक्तिलक्षणासाध्यत्वात् ।

प्रकृत में वाक्यार्थबोध निर्विकल्पक है, क्योंकि वही प्रमा[3] है; उसीमें अज्ञान की निवृत्ति की सामर्थ्य है । इसलिए[4] लक्ष्यतावच्छेदक के बिना लक्षणा की अनुपपत्ति नहीं हुई । प्रकृत[5] वाक्यार्थ के अनुकूल पदार्थ की उपस्थिति करना ही शक्ति और लक्षणा का कार्य है ।

ननु तर्हि वेदान्तवाक्येभ्य एव पदार्थोपस्थितौ वाक्यार्थबोधे च सति तस्य स्वत एव प्रामाण्यात्तेनाज्ञानतत्कार्य्यनिवृत्त्युपपत्तौ किं विचारेणेति चेत्, सत्यम् ; वेदान्ता यद्यपि स्वतः प्रामाण्याद् निर्विकल्पकमात्मसाक्षात्कारं

---

१ निष्प्रकारक शाब्दबोध में ।

२ निष्प्रकारक पदार्थ की उपस्थिति ।

३ अबाधित अर्थ को विषय करनेवाला । सुषुप्ति-अवस्था में निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य का अनुभव होता है, इसलिए जाग्रत् अवस्था में अनुभव के विषय होनेवाले प्रमातृत्वादि विशेषधर्म व्यभिचारी होने से मिथ्या हैं, इसलिए सविकल्पक ज्ञान प्रमा नहीं है । निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमा होने से अज्ञान की निवृत्ति में समर्थ हो सकता है ।

४ श्रुति के तात्पर्य के अनुरोध से निर्विकल्पक स्मरण ही अज्ञान की निवृत्ति करनेवाले बोध को उत्पन्न कर सकता है । वही महावाक्य में उपयोगी है ।

५ शक्ति और लक्षणारूप दोनों प्रकार की वृत्तियाँ तात्पर्य के अधीन हुआ करती हैं । प्रकृत में महावाक्य का तात्पर्य निर्विकल्पक में ही है ।

जनयन्ति, तथापि तस्य मन्दबुद्धीनां वादिविप्रतिपत्तिजसंशयप्रतिबन्धेन अज्ञाननाशकत्वासामर्थ्यात्। विचारेण तु संशयनिवृत्तौ निरपवादमज्ञाननिवृत्तिरिति संशयबीजभूतवादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थं विचार आरभ्यते। तत्र त्वम्पदार्थे प्रथमं विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते।

शङ्का—जब उक्त वेदान्तमहावाक्यों से ही पदार्थ की उपस्थिति और वाक्यार्थबोध हो जाता है, और वह महावाक्यार्थ का बोध स्वतः[1] प्रमाण है, उसीसे अज्ञान और अज्ञान के कार्य द्वैत-प्रपञ्च की निवृत्ति हो जायगी, फिर विचार[2] से क्या प्रयोजन है?

समाधान—ठीक है। यद्यपि महावाक्य[3] स्वतः प्रमाण होने से निर्विकल्पक आत्मज्ञान को उत्पन्न करते हैं, तथापि वह आत्मसाक्षात्कार वादियों के विवाद से उत्पन्न हुए संशयरूपी प्रतिबन्ध से मन्दबुद्धि लोगों के अज्ञान का नाश नहीं कर सकता। विचार करने से सन्देह[4] की निवृत्ति हो जाने पर निर्बाध अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए सन्देह के बीजरूपी वादियों के विवादों को दूर करने के लिए विचार का आरम्भ

---

१ साक्षिमात्रभास्य होने से।

२ ऐसी दशा में दशश्लोकी की रचना व्यर्थ है, यह आशय है।

३ महावाक्य पारमार्थिकसत्तानिश्चयरूप आत्मसाक्षात्कार को उत्पन्न करने में समर्थ है, यह सत्य तो है, किन्तु वह अधिकारी के होने पर ही कर सकता है। अधिकारी शुद्धचित्त ही हुआ करता है, इसलिए उसके लिए शास्त्र की रचना नहीं है। किन्तु जिसके चित्त में संशय है, उसके लिए विचार-शास्त्र का आरम्भ है।

४ संशयरूपी प्रतिबन्ध के हट जाने पर। जैसे शङ्ख श्वेत है, ऐसा उपदेश करने पर भी पित्तरूपी प्रतिबन्धक (कामल) से श्वेतता का दर्शन नहीं होता, तब पित्त को दूर करने के लिए अंजन आवश्यक होता है, वैसे ही यहाँपर वेदान्तवाक्यों का विचार आवश्यक है। विचार से संशय का नाश होने पर बुद्धि निश्चित हो जाती है। बुद्धि के निश्चित होने पर साक्षात्कार अवश्य होता है। जैसे दिन के समय शुक्रतारा का दर्शन हो सकता है, एक पुरुष की ऐसी निश्चित बुद्धि है, दूसरे की बुद्धि में संशय है, तीसरे की बुद्धि में इसके विपरीत निश्चय है कि दिन के समय शुक्रतारा का दर्शन नहीं हो सकता। ये तीनों पुरुष नेत्रवाले तो समान ही हैं। इन तीनों को यदि कोई पुरुष शुक्रतारा दिखाने के लिए यह कहे कि वृक्ष की शाखा के ऊपरी भाग में दृष्टि लगाओ, शुक्रतारा दीखेगा, तो जितने काल में प्रथम पुरुष शुक्रतारा का साक्षात्कार करेगा, द्वितीय को उससे अधिक काल, तीसरे को उससे भी अधिक काल लगेगा। अथवा यदि संशय और विपरीत बुद्धि दूर न हो, तो दूसरे और तीसरे को साक्षात्कार

किया जाता है। तत् और त्वम् [1]पदार्थों में से पहिले त्वम् पदार्थ में वादियों के विवाद दिखाये जाते हैं।

तत्पदार्थस्य शास्त्रतात्पर्यविषयतया अभ्यर्हितत्वेऽपि त्वंपदार्थस्य शास्त्र-फलमोक्षभागितया ततोऽप्यभ्यर्हितत्वात्। तत्र देहाकारेण परिणतानि चत्वारि भूतान्येव त्वंपदार्थ इति चार्वाकाः। चक्षुरादीनि प्रत्येकमित्यपरे। मिलितानी-त्यन्ये। मन इत्येके। प्राण इत्यन्ये। क्षणिकविज्ञानमिति सौगताः। शून्य-मिति माध्यमिकाः। देहेन्द्रियातिरिक्तो देहपरिमाण इति दिगम्बराः। कर्त्ता भोक्ता जडो विभुरिति वैशेषिक-तार्किक-प्राभाकराः। जडो बोधात्मक इति भाट्टाः। भोक्तैव केवलबोधात्मक इति सांख्याः पातञ्जलाश्च। अविद्यया कर्तृत्वादिभाक् परमार्थतो निर्धर्मकः परमानन्दबोध एवेत्यौपनिषदाः।

यद्यपि तत्पदार्थ शास्त्र के तात्पर्य का विषय होने से श्रेष्ठ है, तथापि त्वम् पदार्थ शास्त्रजन्य मोक्षरूप फल का भाजन है। इससे वह तत्पदार्थ से भी श्रेष्ठ है।

ही नहीं होगा। इसलिए संशय और विपरीत निश्चय को दूर करने के लिए आचार्यों ने आत्मस्वरूप के विचार का शास्त्र से आरम्भ किया है। आत्मस्वरूप का प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) यह महावाक्य है। इसलिए इस महावाक्य में रहनेवाले तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का निर्धारण करना चाहिये। वह निर्धारण विरुद्ध मतों का प्रदर्शन करने ही से हो सकता है, इसलिए कहते हैं—'तत्र त्वंपदार्थे।'

[1] मुमुक्षु जीव को उद्देश्य करके ही शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, इसलिए मुख्य उद्देश्य होने से जीव अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) है। किंच, जीवात्मा और परमात्मा का अभेद यहाँ बोधन करना है और वह अभेद भेद का निरास करने पर ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए भेद के कारणों का निरास करना चाहिये। उस भेद के कारण जीवात्मा और परमात्मा में रहनेवाले परस्पर भिन्न प्रत्येक में प्रतीत होनेवाले धर्म हैं। उनमें से जीव में रहनेवाले जाग्रत् आदि अवस्थावत्त्व, अज्ञत्व और कर्माधीनत्वादि अपने धर्मों का जीव को प्रत्यक्ष होता है। परमात्मा में रहनेवाले जाग्रत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व आदि जीव के परोक्ष हैं। उनमें से जीव के अपने धर्म प्रत्यक्ष अनुभूत हैं और उनके निरास की उनको अत्यन्त असम्भावना है। इसलिए पहिले उन्हींका उच्छेद करना चाहिये। उन धर्मों का उच्छेद जब जीव के स्वरूप के विचार से हो जायगा, तब परमात्मा में रहनेवाले परोक्ष-धर्मों का सुख से उच्छेद हो जायगा। इस आशय से आचार्यों ने 'न भूमिः' इस प्रथम श्लोक से पहिले जीव के स्वरूप के विचार का आरम्भ किया है।

उन वादियों में से चार्वाक[1] कहते हैं—देह के आकार से परिणत चार भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) ही 'त्वम्' पद के अर्थ हैं अर्थात् आत्मा हैं। दूसरे लोग कहते हैं—प्रत्येक चक्षु आदि 'त्वम्' पद के अर्थ हैं। कोई कहते हैं—चक्षु[2] आदि सब मिलकर[3] 'त्वम्' पद के अर्थ हैं। कोई कहते हैं—मन[4] 'त्वम्' पदार्थ है। दूसरे कहते हैं—प्राण[5] त्वम् पदार्थ है। बौद्ध[6] कहते हैं—क्षणिक विज्ञान ही 'त्वम्' पदार्थ है। माध्यमिक लोग शून्य को 'त्वम्' पदार्थ मानते हैं।

---

१ प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले चार्वाक आकाश को नहीं मानते; क्योंकि उनके मत में आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता। पृथ्वी आदि भूतचतुष्टयात्मक देह ही आत्मा है, यह उनका मत है। इन्द्रियाँ भी देह से अतिरिक्त नहीं हैं। किन्तु देह का ही तत्-तत् भाग नेत्र आदि शब्द से व्यवहृत किया जाता है। मन हृदय का भाग है। प्राण शरीर में विचरनेवाला वायु है। यद्यपि भूत जडस्वभाव हैं, तथापि जैसे मदिरा के आकार में परिणत हुए अन्न में मादकता-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही देहाकार में परिणत भूतचतुष्टय में ज्ञानशक्ति उत्पन्न हो जाती है। 'स्थूलोऽहं जानामि' (मोटा मैं जानता हूँ) इस प्रतीति से स्थूल देह ही 'मैं' शब्द का अर्थ आत्मा और ज्ञान का आश्रय प्रतीत होता है। जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद से देहों का भेद होने पर भी 'अहं प्रत्यय' ('मैं' प्रतीति) की अनुवृत्ति होने से देह अहं-प्रत्यय का अवलम्बन नहीं है। किन्तु 'काणोऽहम्' 'बधिरोऽहम्' (मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ,) इत्यादि प्रतीति से यथासम्भव इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, यह चार्वाक के अनुयायियों का मत है।

२ कौन इन्द्रिय आत्मा है ? इसमें कोई विनिगमक (प्रमाण) नहीं है, इसलिए सभी इन्द्रियाँ आत्मा हैं। अर्थात् एक देह में अनेक आत्मा हैं। यद्यपि सब प्राणियों के सब इन्द्रियाँ हों—यह नियम नहीं है, तथापि जिसके जितनी इन्द्रियाँ हैं, उसके देह में उतने आत्मा हैं।

३ कोई कहते हैं—इन्द्रियों का समूह आत्मा है। स्वप्न में इन्द्रियों के न होने पर भी 'अहमस्मि' (मैं हूँ) यह प्रतीति होती है; इसलिए इन्द्रियाँ आत्मा नहीं, किन्तु मन ही आत्मा है, यह अन्य के मत का कथन है—'मन इत्येके' से।

४ सुषुप्ति-अवस्था में मन नहीं होता और योगी के शरीर में व्यवहार के अभावकाल में मन नहीं होता, परन्तु श्वास चलता रहता है। इसलिए मन आत्मा नहीं, किन्तु प्राण आत्मा है।

५ अहंप्रत्यय का अवलम्बन प्राण है।

६ सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक इन चार प्रकार के बौद्धों में से प्रथम तीन क्षणिक विज्ञानवादी हैं। ज्ञान के बिना बाह्य पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं। वह ज्ञान अर्थक्रियाकारी होने के कारण क्रिया का प्रतिक्षण

जैन[1] लोग कहते हैं—देह और इन्द्रियों से भिन्न देह के बराबर परिमाणवाला 'त्वम्' पदका अर्थ है। वैशेषिक[2], नैयायिक और मीमांसक कहते हैं—'त्वम्' पदार्थ (आत्मा) कर्त्ता[3], भोक्ता[4], जड़[5] और व्यापक[6] है। मीमांसकों के एकदेशी भाट्ट[7] लोग कहते हैं—'त्वम्' पदार्थ जड़ और बोधरूप है। सांख्य और पातञ्जल कहते हैं कि केवल ज्ञानस्वरूप और भोक्ता[8] ही 'त्वम्' पदार्थ है। अद्वैतवादी कहते हैं कि

विनाश होने से प्रतिक्षण विनाशी है। इसलिए द्वितीय क्षण में होनेवाले ध्वंस का प्रतियोगी होने से क्षणिक है। वही आलय-विज्ञान (अहंकार) धारारूप है। माध्यमिक कहता है—जैसे घटादि दृश्य प्रमेय (ज्ञान का विषय) होने से दृश्य हैं, वैसे ज्ञान भी प्रमेय होने से दृश्य है। जो दृश्य है, वह सब मिथ्या है। ज्ञान भी दृश्य है, वह भी मिथ्या है। इसलिए क्षणिक विज्ञान आत्मा तो है, परन्तु वह सत्रूप नहीं, किन्तु शून्य (मिथ्याभूत) है।

१ जैन को आर्हत कहते हैं। उनके मत में अर्हन् नामक एक नित्यसिद्ध पुरुष है। उसके मत के अनुयायी होने के कारण उनको आर्हत कहते हैं। इनका मत है—जैसे बाल्य आदि अवस्थाओं के भेद से शरीर के वृद्धि और क्षय होते रहते हैं, वैसे ही आत्मा के भी वृद्धि-क्षय होते रहते हैं। इनके होने पर भी आत्मा अनित्य नहीं है, क्योंकि परिमाण का भेद होने पर भी आत्मा का देह की तरह सर्वथा नाश नहीं हो जाता, इसीको परिणामी नित्यत्व कहते हैं।

२ जो परिमाणवाला पदार्थ होता है, वह सावयव होता है। जो सावयव होता है वह विनाशी होता है। आत्मा परिमाणवाला है, इसलिए विनाशी होगा। तब कृतहानि (इस जन्म में किये हुए कर्मों के फल के भोग के बिना विनाश) और अकृताभ्यागम (इस जन्म में जो भोग प्राप्त हो रहे हैं उनकी कर्मों के बिना ही प्राप्ति) ये दो दोष प्राप्त होते हैं। इसलिए आत्मा देह और इन्द्रियों से अतिरिक्त है। नित्य है। निरवयव है। विभु है। ज्ञानवान् है। यह वैशेषिक, तार्किक और प्राभाकर का मत है।

३ कर्त्ता शब्द का अर्थ है कृतिमान्।

४ सुख-दुःखादि का अनुभव करनेवाला।

५ ज्ञान-शून्य।

६ सर्व मूर्त्त-पदार्थों से संयोगवाला।

७ 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुति के विरोध से विभु आत्मा केवल जड़ ही नहीं, किन्तु 'मामहं जानामि' (मैं मुझको जानता हूँ) इस प्रकार दृश्यत्व और द्रष्टृत्व दोनों धर्म आत्मा में प्रतीत होते हैं, इसलिए आत्मा किसी अंश में जड़ और किसी अंश में ज्ञानरूप है, यह कुमारिल भट्ट का मत है।

८ 'निष्क्रियं निष्कलं शान्तम्' इस श्रुति से आत्मा निरवयव प्रतीत होता है, इसलिए

अविद्या[१] से कर्तृत्व आदि अवस्थाओं को प्राप्त होनेवाला वस्तुतः निर्धर्मक परमानन्द-बोध ही 'त्वम्' पदार्थ है।

निरंश होने से उसके जड़ और ज्ञान दो रूप नहीं हो सकते; इसलिए नित्यज्ञानस्वरूप भोक्ता ही आत्मा है। अपरिणामी होने से कर्त्ता नहीं है। किन्तु परिणामिनी बुद्धि में ही कर्तृत्व है। भाव यह है कि अपरिणामी स्वभाव होने से आत्मा कर्त्ता तो हो नहीं सकता, परन्तु उसका भोक्ता होना युक्त है; क्योंकि जड़ देहादि पदार्थों को भोग प्राप्त नहीं हो सकता, अन्यथा मृत-देहादि को भी भोग की प्राप्ति होने लगेगी; इसीलिए जडत्वादि कल्पना से रहित केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, यह सांख्य और पतञ्जलि का मत है।

१ 'असंगो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष असंग है) इस श्रुति के विरोध से आत्मा भोक्ता भी नहीं है, किन्तु प्रातिभासिक (कल्पित अथवा मिथ्या) कर्तृत्वभोक्तृत्ववान् आत्मा है—यह वेदान्त का मत है, क्योंकि निःसंग होते हुए भी आविद्यक (मिथ्या अथवा कल्पित) भोक्तृत्व की तरह आविद्यक कर्तृत्व भी आत्मा में युक्त है।

इस प्रकार जीव के स्वरूप के विषय में देहात्मवाद से आरम्भ करके निर्धर्मक आत्मवाद पर्यन्त मत दिखाये हैं। उनमें मतभेद से जीवात्मा का स्वरूप दो प्रकार का है—अनित्य और नित्य। अनित्य भी दो प्रकार का है—सत्य और मिथ्या। देहात्मवाद से लेकर क्षणिक विज्ञानवादी पर्यन्तों के मत में सत्य और अनित्य है। माध्यमिक के मत में मिथ्याभूत एवं अनित्य है। नित्य भी दो प्रकार का होता है—परिणामी नित्य और कूटस्थ नित्य। दिगम्बरों के मत में परिणामी नित्य है। वैशेषिक से लेकर औपनिषद पर्यन्तों के मत में कूटस्थ नित्य है। वैशेषिक के मत में आत्मा स्वयंप्रकाश नहीं है। किन्तु अपने से भिन्न अपने गुण—ज्ञान से आत्मा का प्रकाश होता है, इसलिए स्वयंप्रकाश न होने से पाषाण आदि की तरह आत्मा इनके मत में जड़ ही है। भट्ट के अनुयायी कहते हैं—'अहमस्मि' (मैं हूँ) यह प्रतीति जब होती है तब उस प्रतीति का आश्रय और विषय भी आत्मा ही प्रतीत होता है। एक ही आत्मा में एक ही ज्ञान के आश्रयता और विषयता दो धर्म हैं। इस प्रतीति की सिद्धि के लिए आत्मा के जड़ और ज्ञान दो अंश अङ्गीकार करने चाहिये। ज्ञान-अंश से वह ज्ञाता और जड़-अंश से ज्ञान का विषय है। इसी प्रकार 'मामहं न जानामि' (मैं अपनेको नहीं जानता) इस प्रतीति में एक ही आत्मा में अंश-भेद से कर्तृत्व और कर्मत्व उपपादन करना चाहिये। भट्ट के अनुयायी वैशेषिकादि की तरह ज्ञान को आत्मा का गुण नहीं मानते, किन्तु अंश मानते हैं। इसलिए ज्ञान-अंश से आत्मा साक्षी और जड़-अंश से सुखादिकों का भोक्ता है। सांख्यादि के मत में केवल ज्ञानरूप ही आत्मा है। अंश से भी जड़ नहीं—यह विशेष है। औपनिषद अद्वैत वेदान्ती शङ्कराचार्यजी तो उपनिषद्प्रमाण से आत्मा के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। अनुमान आत्मा में स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, किन्तु उपनिषद् से ज्ञात आत्मा का अनुवादक है।

एवं सामान्यतोऽहंप्रत्ययसिद्धे चिदात्मनि वादिविप्रतिपत्तिभिः सन्दिग्धेऽहंप्रत्ययस्यालम्बनविशेषनिर्णयायाह भगवानाचार्यः—

इस प्रकार सामान्यतः 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति से सिद्ध चिदात्मा में वादियों के विवाद से सन्देह[1] होने पर 'मैं हूँ' इस प्रतीति के आश्रय के विशेष निर्णय के लिए भगवान् आचार्य कहते हैं।

आस्तिकों में से वैशेषिक सबसे पिछड़ा हुआ है, क्योंकि शब्दप्रमाण को न मानने से वह वेद के प्रामाण्य को अङ्गीकार नहीं करता। ईश्वर को मानता है, इसलिए आस्तिक है। वेद को नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है। इसीलिए वैशेपिक को अर्धवैनाशिक (आधा नास्तिक) कहते हैं। नैयायिक यद्यपि वेदप्रामाण्य और ईश्वर दोनों को मानता है, तथापि 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि शुद्ध जीवप्रतिपादक श्रुतियों का और 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेद-प्रतिपादक श्रुतियों का अभेद को भावना में तात्पर्य है ऐसा अङ्गीकार करता है। अर्थात् अभेद है नहीं, अभेद को भावना करनी चाहिये—ऐसा मानता है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि विश्व और ब्रह्म के अभेद की बोधक श्रुतियों का 'विश्व का कर्ता ब्रह्म है' ऐसा अर्थ करता है। इससे प्रतीत होता है कि नैयायिक का वेदान्तमत में आदर नहीं है। प्रभाकर और भट्ट का तो वेदान्तदर्शन से द्वेष नहीं है, क्योंकि—

> 'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
> दृढत्वमेतद्विषयस्तु बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥'

इस भाट्टकारिका से प्रतीत होता है कि भट्टजी को वेदान्तदर्शन में बड़ा आदर है। इसी तरह—

> 'आत्मा निष्प्रपञ्चं ब्रह्मैव, तथापि कर्मप्रसङ्गे न तथा वाच्यम्। उक्तं हि
> श्रीकृष्णेन भगवता—'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्'।

ऐसा प्राभाकर के ग्रन्थ में कथन है। इससे प्रतीत होता है कि प्राभाकर को भी वेदान्त में आदर है। भट्ट अपने ग्रन्थ में आत्मा को जड़बोधस्वरूप कहते हैं, इससे प्रतीत होता है कि वेदान्तप्रतिपादित अविद्योपहित चिद्रूप आत्मा का वे अङ्गीकार करते हैं। प्राभाकर स्वयंप्रकाश अनित्य ज्ञान का आश्रय जड़रूप आत्मा है, यह मानता है। और प्रपञ्च के ज्ञान में उसने अन्यथाख्यातिमात्र का भी कथन नहीं किया है, इसलिए भट्ट की अपेक्षा प्राभाकर वेदान्त मत से दूर है। सांख्यादि ने अपने ग्रन्थ में आत्मा को असङ्ग माना है, इसलिए वह भट्ट की अपेक्षा वेदान्तमत के समीप है। पातञ्जल 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इस सूत्र से ईश्वर का अङ्गीकार करते हैं। सांख्य ईश्वर का अङ्गीकार नहीं करते। इसी आशय से वैशेपिकादि के निर्देश के अनन्तर तार्किकादि का निर्देश आचार्यों ने किया है।

[1] आत्मा शरीरादि स्वभाव है कि नहीं, इस प्रकार का विशेषतः सन्देह होने पर।

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ १ ॥

'अहं' अहमर्थ[१] का अवलम्बन न भूमि है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाश है, न प्रत्येक इन्द्रिय है, न भूमि आदि का समूह है और न इन्द्रियों का समूह है; क्योंकि ये सब व्यभिचारी (विनाशी) हैं। सुषुप्ति में एक साक्षिरूप से सिद्ध, अद्वितीय, अविनाशी, निर्धर्मक शिव जो है, वही मैं हूँ ॥ १ ॥

अस्यार्थः—अहमहम्प्रत्ययालम्बनम् । एकोऽद्वितीयः । अवशिष्टः सर्वद्वैतबाधेऽप्यबाधितः । शिवः परमानन्दबोधरूपः, तस्यैव मङ्गलरूपत्वात् । केवलो निर्धर्मकः । तेनाद्वितीयः सर्वप्रमाणाबाध्यः परमानन्दबोध एवाहम्प्रत्ययालम्बनमित्यौपनिषदपक्ष एव श्रेयानित्यर्थः । एतदुपपादनाय इतरवादिमतानि निराकरिष्यन् प्रथमं देहात्मवादं निराकरोति 'न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुर्नखम्' इति ।

अहम्[२] = 'मैं हूँ' इस ज्ञान का अवलम्बन । एक = अद्वितीय[३] । अवशिष्ट = घट-पट आदि समस्त प्रपञ्च के बाधित होने पर भी अबाधित[४] । शिव = परमानन्दज्ञानस्वरूप[५] क्योंकि वही मंगलरूप है । केवल = धर्मरहित[६] । इससे सिद्ध हुआ कि अद्वितीय किसी

---

१ अहंप्रत्यय का जो आलम्बनविशेष देहादिरूप से प्रतीत होता है, वह भूमि आदि से भिन्न है, यह निर्णय करने के लिए ।

२ अहंप्रत्यय का विषय ।

३ द्वित्वादि संख्या के पूरक माया और तत्कार्यरूप द्वितीय से रहित ।

४ आत्मतत्त्वज्ञान से सर्वद्वैत के मूलभूत अज्ञान का उच्छेद होने पर भी बाध का साक्षी होने से सत्यरूप ।

५ नित्यानन्दबोधस्वरूप ।

६ सब धर्मों से रहित ।

प्रमाण से भी जिसका बाध नहीं होता, परमानन्दबोधस्वरूप ही 'अहम्' इत्याकारक ज्ञान का विषय है, अर्थात् 'मैं' शब्द का अर्थ है—यह अद्वैत वेदान्त का पक्ष ही श्रेष्ठ है। इसके उपपादन के लिए अन्य वादियों के मतों का निराकरण करनेवाले आचार्य श्रीशङ्कर पहले[१] 'न भूमि है, न जल है' इत्यादि से देहात्मवाद का निराकरण करते हैं।

अत्राहमिति सर्वत्र प्रत्येकं नञा सम्बद्ध्यते। या भूमिः सोऽहं न भवामि, योऽहं सा भूमिर्न भवति इति च परस्परतादात्म्याभावो द्रष्टव्यः। यद्यपि वादिना प्रत्येकं भूम्यादेरात्मत्वं नाभ्युपेयते, संघातस्यैव तदभ्युपगमात्; तथापि तन्मतेऽवयव्यनङ्गीकारात्पञ्चमतत्त्वाभ्युपगमप्रसङ्गेन च संयोगादिसंबन्धानभ्युपगमात् संहन्तुरभावाच्च संघातो नोपपद्यते इत्यभिप्रेत्य प्रत्येकभूतनिराकरणेन भौतिकदेहात्मवादो निराकृतः। यद्यपि भूतचतुष्टयतत्त्ववादिनो मते आवरणाभावत्वेनाभिमतस्य स्थिरस्यासत आकाशस्य देहानुपादानत्वम्; तथापि सिद्धान्ते तस्य भावत्वदेहोपादानत्वाद्यङ्गीकारात्तत्राप्यात्मत्वप्रसक्त्या तन्निराकृतम्। अथवा न वायुरित्यन्तमेव देहात्मवादस्य निराकरणम्। न खमिति शून्यवादस्य, खशब्दस्य शून्यवाचकत्वात्।

यहाँ पर 'अहम्' का प्रत्येक नञ् (न) के साथ सम्बन्ध है। जो भूमि[२] है वह मैं नहीं हूँ, जो मैं हूँ वह भूमि नहीं है। इस प्रकार परस्पर अभेद का अभाव अर्थात् भेद

---

१ देहात्मवाद अतितुच्छ है, इसलिए आचार्य ने पहले उसीका निराकरण किया है। प्रश्न—जैसे शुक्ति में भ्रान्त पुरुष को 'इदं रजतम्' यह प्रतीति होती है, वैसे चार्वाक को आत्मा में 'अयं देहः' यह प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रतीति में शुक्ति की प्रतीति नहीं है, वैसे ही 'अयं देहः' इस प्रतीति में आत्मा की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, सो होती है। 'देह में यह आत्मा है' ऐसी प्रतीति भी नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त न्याय से देह की प्रतीति के अभाव का प्रसङ्ग है। किन्तु देह और आत्मा का परस्पर भेद है, उसमें चार्वाक को अभेद की प्रतीति होती है। ऐसी दशा में जैसे रजतभ्रम की निवृत्ति के लिए 'नेदं रजतम्' कहा जाता है, वैसे ही 'देहात्मनोर्नाऽभेदः' (देह और आत्मा का अभेद नहीं है) ऐसा कहना चाहिये था। आचार्य ने 'न भूमिः' इत्यादि क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—'या भूमिः' इति।

२ भाव यह है कि 'न भूमिः' यह एक वाक्य है, इसी प्रकार 'न तोयम्' इत्यादि भी भिन्न-भिन्न वाक्य हैं। 'अहम्' इस पद का सब वाक्यों से सम्बन्ध है। जो भूमि है, वह मैं नहीं

देखना चाहिये। यद्यपि वादी प्रत्येक भूमि आदि को आत्मा नहीं मानता, किन्तु पृथ्वी आदि के समूहरूप[1] देह को ही उसने आत्मा माना है, तथापि उसके मत में अवयवी[2] नहीं माना गया, अतएव उसे पञ्चम तत्त्व मानना पड़ेगा, क्योंकि संयोगादि सम्बन्ध को भी वह नहीं मानता और संघात करनेवाले चेतन के अभाव से संघात भी नहीं बन सकता। ऐसा विचारकर प्रत्येक भूत (पृथ्वी आदि) के निराकरण से भौतिक देहात्मवाद का खण्डन हो गया।

हूँ, यह अर्थ है। इस वाक्य से भूमि का उद्देश्य करके 'अहम्' अर्थ के अभेद का निषेध है। इसी वाक्य की आवृत्ति से उद्देश्य-विधेयभाव को विपरीत कर देने से 'जो मैं हूँ वह भूमि नहीं' यह द्वितीय अर्थ होता है। इसमें 'अहम्' अर्थ को उद्देश्य करके भूमि के अभेद का निषेध है, अर्थात् देह और आत्मा का अभेद नहीं है, यह फलित होता है। 'न तोयम्' इत्यादि वाक्यों की भी ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिये।

२ देहाकार से परिणत पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय का संघात ही आत्मा है—यह चार्वाक का सिद्धान्त है।

३ पृथ्वी आदि तत्त्वचतुष्टय का संघात देह है, वही आत्मा है —यह चार्वाक का मत है। उसमें चार्वाक से यह पूछना चाहिये कि वह संघात चारों तत्त्वों के संयोग से होता है अथवा विना संयोग ही के ? प्रथम पक्ष में भी तन्तुओं का नाश किये बिना ही जैसे तन्तुओं के संयोग-विशेष से तन्तुओं से अतिरिक्त पटरूप द्रव्य उत्पन्न होता है, वैसे ही चारों तत्त्वों का विना नाश किये ही उन तत्त्वों के संयोगविशेष से उन तत्त्वों से अतिरिक्त देहरूपी द्रव्य उत्पन्न होता है ? अथवा जैसे दुग्ध के अवयवों के संयोगविशेष से दुग्ध के स्वरूप का नाश करके दधिरूप द्रव्य उत्पन्न होता है, वैसे ही पृथ्वी आदि तत्त्वों के संयोगविशेष से पृथ्वी आदि तत्त्वों के स्वरूप को नष्ट करके देह उत्पन्न होती है। प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं है, क्योंकि चार्वाक प्रत्यक्ष ही को प्रमाण मानता है। तन्तुओं से अतिरिक्त पटरूप द्रव्य का वह स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि तन्तु और पटरूप भिन्न-भिन्न दो द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता, न उनका परिमाण ही द्विगुण हो जाता है। द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि चार तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न होनेवाली देह पृथ्वी नहीं कही जा सकती। क्योंकि पृथिवीत्व धर्म अव्याप्य वृत्ति (अपने आधार के एकदेश में रहनेवाला) नहीं है और इस मत में दुग्ध-अवयवों की तरह पृथ्वी आदि अवयवों का स्वरूप से विनाश का अङ्गीकार है। इसी न्याय से देह को जल, तेज और वायुरूप भी नहीं कह सकते, इसलिए चार भूतों से अतिरिक्त पाँचवाँ द्रव्य देह मानना होगा। तत्त्वचतुष्टयवादी चार्वाक को यह अङ्गीकार नहीं है। 'विना संयोग के पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का संघात देह है' इस पक्ष में धान्य की राशि (ढेर) में पड़े हुए धान्यों का परस्पर संयोग होने पर भी उनका वह संयोग असंयुक्तों की तरह ही कोई विलक्षण संघातरूपी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। किसी प्रकार पृथ्वी आदि तत्त्वों का संघात देह है, यह भी सिद्ध हो जाय, तथापि चैतन्य तो उसमें तत्त्वों

यद्यपि[1] केवल पृथ्वी आदि चार भूतों को माननेवाले चार्वाक के मत में पृथ्वी आदि आवरण के अभावरूप से अभिमत, अस्थिर, असत् आकाश देह का उपादान नहीं हो सकता, तथापि[2] वेदान्त-सिद्धान्त में आकाश भावपदार्थ एवं शरीर का उपादान आदि माना गया है। उसमें आत्मत्वबुद्धि न हो जाय, इसलिए उसका निराकरण किया है। अथवा 'न वायुः' यहींतक देहात्मवाद का खण्डन है। 'न खम्' (न आकाश ही आत्मा है) इससे शून्यवाद का खण्डन है, क्योंकि खशब्द शून्य का वाचक है।

नेन्द्रियमिति प्रत्येकमिन्द्रियाणामात्मत्वनिरासः। न तेषां समूह इति मिलितानां भूतानां देहावयव्याकारेण परिणतानामिन्द्रियाणां च मिलितानां निरासः। पूर्वं सङ्घातमभ्युपगम्य प्रत्येकं भूतानि निराकृतानि। अधुना तु संघातमभ्युपगम्यापि निराकृतानीति भेदः। भूतनिराकरणेन भौतिकयोः प्राणमनसोर्निरासः। मनोनिराकरणेन च मनोवृत्तेः क्षणिकविज्ञानस्य

के संघात की सिद्धि के अनन्तर ही उत्पन्न होता है। संघात से पहले सङ्घात करनेवाला चेतन उसके मत में कोई है नहीं, तो चेतन के अभाव से तत्त्वों का संघात सिद्ध नहीं हो सकता। इस दोष की निवृत्ति (संघातसिद्धि) के लिए यदि वह पृथ्वी आदि चार तत्त्वों को आत्मा माने, तो पृथ्वी आदि चार आत्माओं का संघात देह है यह मानना होगा। सो कह नहीं सकते, क्योंकि पृथ्वी आदि तत्त्व प्रत्येक आत्मा नहीं है—इस अर्थ का निरूपण करने के लिए 'न भूमिः' इत्यादि श्लोक की रचना की है।

१ चार्वाक के मत में आकाश नामवाला कोई भावरूप पदार्थ नहीं है, किन्तु आवरण करनेवाले चार प्रकार के भौतिक पदार्थों का जो अभाव है, वही आकाश-पद से कहा जाता है, इसलिए जिस देह में भूतचतुष्टय की स्थिति है, उस देह में भूतचतुष्टय का अभाव नहीं रह सकता है, इसलिए आकाश देह का उपादान कारण नहीं है। किंच देह की भावरूप से प्रतीति होती है, इसलिए उसका उपादान कारण भी भावरूप ही होना चाहिये, अभावरूप नहीं। ऐसी दशा में, जब कि चार्वाक आकाश को देह का उपादान कारण मानते ही नहीं हैं, फिर आचार्यों ने 'न खम्' इस वाक्य से आकाश के आत्मा होने के निषेध की प्रतिज्ञा क्यों की? यह आशय है।

२ अद्वैतवादियों के मत में भूतचतुष्टय की तरह आकाश भी स्थिर है, भावरूप से प्रतीत होता है और देह का उपादान कारण भी है। 'न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुः' इतना कहने से चार्वाक के मत का यद्यपि खण्डन हो जाता है। फिर भी यदि आचार्य 'न खम्' यह न कहते तो सन्देह हो सकता था कि आचार्य आकाश को तो आत्मा नहीं मानते हैं? इस सम्भावना को दूर करने के लिए 'न खम्' यह कहा है।

देहातिरिक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्य च निरासः, सिद्धान्ते ज्ञानेच्छा-सुखादीनामन्तःकरणाश्रयत्वाभ्युपगमात्। कामसङ्कल्पादीन् प्रकृत्य 'एतत्सर्वं मन एव' इति श्रुतेः। तेन देहमारभ्य केवलभोक्तृपर्यन्तानां तत्तद्वाद्यभिमताना-मनात्मत्वं प्रतिज्ञातं भवति। तत्र हेतुमाह—अनैकान्तिकत्वादिति। व्यभिचा-रित्वाद्, विनाशित्वादिति यावत्।

'नेन्द्रियम्' (इन्द्रिय आत्मा नहीं है) इससे प्रत्येक इन्द्रिय में आत्मत्व का खण्डन किया है। 'न तेषां समूहः' (न उनका समूह ही आत्मा है) इससे देहरूपी अवयवी के आकार को प्राप्त हुए मिलित पृथिवी आदि भूतों का तथा मिलित इन्द्रियों का निरास किया गया है। पहिले संघात को न मानकर प्रत्येक भूत में आत्मत्व का निरास किया, अब सङ्घात को मानकर भी उनका निराकरण किया, यह भेद है। भूतों के निराकरण से भौतिक प्राण एवं मन में भी आत्मत्व का निराकरण हो गया। मन[1] के निराकरण से मन की वृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान एवं देह से अतिरिक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदिसे विशिष्ट (आत्मा) का निराकरण हो गया। वेदान्त-सिद्धान्त[2] में ज्ञान, इच्छा, सुख आदि अन्तःकरण के

---

१ प्रश्न—सुगत के माने हुए क्षणिक विज्ञान में आत्मता का निषेध हो सकता है, क्योंकि मन जब आत्मा नहीं तो उसकी वृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं, यह ठीक ही है। परन्तु वैशेषिक से अभिमत देह एवं मन से व्यतिरिक्त आत्मा का मन के आत्मत्व-निराकरण से कैसे निराकरण हो सकता है? उत्तर—वैशेषिक यद्यपि देह और मन से अतिरिक्त आत्मा मानते हैं, तथापि उस आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता स्वीकार करते हैं। वेदान्त-सिद्धान्त में कर्तृत्व और भोक्तृत्व मन ही के धर्म हैं तो मन के आत्मत्व-निराकरण से कर्तृत्वादिविशिष्ट आत्मा का निराकरण हो गया, इसलिए वैशेषिक के अभिमत आत्मा के स्वरूप की सिद्धि ही नहीं हो सकती, यह आशय है।

प्रश्न—मनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस प्रतीति के अनुरोध से 'अहम्' शब्द के अर्थ आत्मा ही में कर्तृत्वभोक्तृत्व स्वीकार करना चाहिये? उत्तर—उक्त प्रतीतिरूपी प्रमाण ही से 'अहमर्थ' में कर्तृत्व सिद्ध होता है, आत्मा में नहीं। 'अहम्' शब्द का अर्थ आत्मा नहीं है, किन्तु मन की वृत्तिविशेष है। इसीलिए 'अहं जानामि' (मैं जानता हूँ) 'अहमिच्छामि' (मैं इच्छा करता हूँ) 'अहं सुखी' (मैं सुखी हूँ) इस प्रकार 'अहम्' शब्दार्थ में प्रतीयमान ज्ञान, इच्छा, सुख आदि मन ही के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

२ इस अर्थ में श्रुति का अनुग्रह दिखाते हैं।

आश्रित माने गये हैं, क्योंकि काम[1] सङ्कल्प आदि के प्रकरण में यह सब मन ही है. ऐसा श्रुतिप्रतिपादित हैं। इससे पूर्वोक्त तत्-तत् वादियों से स्वीकृत देह से लेकर केवल भोक्तापर्यन्त सब अनात्मा[2] हैं, ऐसी प्रतिज्ञा हुई। उसमें हेतु देते हैं, क्योंकि ये सब विनाशी हैं—नश्वर हैं।

---

१ 'काम इच्छा' यह श्रुति इच्छा मन का धर्म है, यह प्रतिपादन करती है, इसलिए 'अहमिच्छामि' इस प्रतीति में भी इच्छा अहमर्थ का धर्म है, यह सिद्ध करती है। यदि अहमर्थ मन से अतिरिक्त होता तो श्रुति और प्रतीति का विरोध होता। इसलिए दोनों की एकवाक्यता के लिए मन ही अहमर्थ है, यह अङ्गीकार करना चाहिये। प्रश्न—अहमर्थ मन नहीं है, किन्तु मन से अतिरिक्त आत्मा ही अहमर्थ है। कामादि आत्मा ही के धर्म हैं, मन के नहीं। 'एतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति से विरोध भी नहीं, क्योंकि मनश्शब्द का अर्थ लक्षणा से मनोमूलक है। वैशेषिक भी आत्मा में कामादि की उत्पत्ति मन के संयोग से मानते हैं। उत्तर—लक्षणा में कोई प्रमाण नहीं है। 'न विधौ परः शब्दार्थः' (विधि में शब्दार्थ लाक्षणिक नहीं हुआ करता) इस न्याय का विरोध भी है। प्रश्न—कामादि को मन का धर्म मानने पर भी 'एतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति के मनःशब्द का लक्षणा से आपको भी मनोनिष्ठ यह अर्थ करना होगा। इसलिए दोनों के मत में लक्षणा तुल्य है। उत्तर—हमारे मत में धर्म और धर्मी का तादात्म्य है, इसलिए 'नीलं वस्त्रम्' इस प्रतीति की तरह 'एतत्सर्वं मन एव' इस प्रतीति का लक्षणा के बिना ही निर्वाह हो सकता है। इसलिए अहमर्थ आत्मा नहीं, किन्तु मन ही है यह सिद्ध हो गया।

भागवत में आत्मा और अहमर्थ के भेद का स्वीकार करके हर्षादि अहंकार के धर्म हैं, यह प्रतिपादन करके उनमें आत्मधर्मता का निषेध किया है।

'हर्षशोकभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य चैवैते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥'

(हर्षादि अहङ्कार के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। जन्म-मृत्यु भी आत्मा के नहीं) ब्रह्मपुराण में भी कर्तृत्व को आत्मधर्मता का निषेध किया है)—

'कुर्वन्त्यचेतनाः कर्म देहेन्द्रियगणाः सदा ।
चेतनस्तदधिष्ठाता शान्तात्मा न करोत्यसौ ॥'

(अचेतन देहेन्द्रियादि ही कर्म करते हैं, इनका अधिष्ठाता चेतन शान्त आत्मा है, वह कुछ नहीं करता)।

२ भाट्ट, सांख्य और पातञ्जल आत्मा को भोक्ता मानते हैं, सुख-दुःखादिमान् होना ही भोक्तृत्व है, उक्त न्याय से भोक्तृत्व मन में ही है, आत्मा में नहीं। इस दशा में भोक्ता मन के आत्मत्व-निराकरण से भट्टादि से अभिमत आत्मस्वरूप का निराकरण हो गया। दिगम्बरादि से अभिमत आत्मस्वरूप वृद्धि और क्षयवाला है। वास्तव में वृद्धि-क्षय देह ही के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इस प्रकार वृद्धि-क्षयवाले देह के आत्मत्व-निराकरण ही से दिगम्बरादि से अभिमत आत्मस्वरूप का निराकरण हो गया।

आत्मनो देशकालापरिच्छिन्नत्वात् तत्परिच्छिन्नानां घटादिवदनात्मत्वात्, तद्ध्वंसप्रागभावयोश्च ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अनात्मनां जडत्वात्, स्वभिन्नस्य चात्मत्वाभावात्, आत्मन एकत्वेऽपि सुखदुःखाद्याश्रयाणामन्तःकरणानां भेदाभ्युपगमाद् व्यवस्थोपपत्तेः। स्वेनैव स्वाभावग्रहणे विरोधाद्, ग्राह्यकाले ग्राहकासत्त्वाद्, ग्राहकसत्त्वे ग्राह्याभावात्, कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च न तस्य ध्वंसप्रागभावौ।

आत्मा[1] देश और काल से अपरिच्छिन्न है। देश-काल से परिच्छिन्न पदार्थ घट, पट आदि के समान अनात्मा हैं। आत्मा के ध्वंस[2] और प्रागभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। आत्मा से भिन्न पदार्थ जड़ हैं। आत्मा से भिन्न कोई दूसरा आत्मा है नहीं, जो आत्मा के अभाव को ग्रहण करे। आत्मा के एक[3] होने पर भी सुख, दुःख आदि के आश्रय अन्तःकरणों के भेद के स्वीकार से सुख-दुःख की व्यवस्था वन जाती है। स्वयं[4]

---

१ आत्मा देशादि से अपरिच्छिन्न है, अन्य दार्शनिकों द्वारा अभिमत आत्मा देह-इन्द्रियादि एवं घटादि की तरह काल-परिच्छिन्न है, इसलिए वह आत्मा नहीं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये चारों प्रकार के अभाव आत्मा के नहीं हो सकते, क्योंकि काल से परिच्छिन्न वस्तु ही के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हुआ करते हैं। देश से परिच्छिन्न वस्तु का अत्यन्ताभाव होता है, जैसे—भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति से भूतल में घट का अभाव है। वस्तु से परिच्छिन्न वस्तु ही का भेद हुआ करता है। भेद ही अन्योन्याभाव है। वेदान्ती से अभिमत आत्मा का कोई भी अभाव सम्भव नहीं, क्योंकि उसका सत् रूप से सर्वदा सर्वत्र स्फुरण होता है। इसलिए आत्मा त्रिविध परिच्छेद से रहित है, यही उपपादन करते हुए पहिले आत्मा में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की अनुपपत्ति दिखाते हैं।

२ 'प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है' इस न्याय से ध्वंस और प्रागभाव के साधक प्रमाण के होने पर उनकी सिद्धि हो सकती है। यदि यह कहा जाय, तो वह प्रमाण यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमाण ज्ञाता में ज्ञान को उत्पन्न करता है। आत्मा के प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव का ज्ञाता अनात्मा तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह जड़ है। आत्मा अपने प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का साधक हो नहीं सकता, क्योंकि वेदान्तमत में आत्मा एक है. वह आप अपने अभाव को कैसे ग्रहण करेगा?

३ प्रश्न—एक ही आत्मा अपने प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को क्यों नहीं ग्रहण कर सकता?

४ उत्तर— स्वप्रागभावकाल और स्वध्वंसकाल में स्वयं आत्मा नहीं रह सकता है और 'स्व' के अस्तित्वकाल में ग्राह्य स्वप्रागभाव और स्वप्रध्वंसाभाव नहीं हो सकते। इस प्रकार ग्रहीता के असम्भव से, ग्रहीतृसापेक्ष प्रमाण का असञ्चार होने से आत्मा के प्रागभाव और

अपने अभाव के ग्रहण में विरोध है, क्योंकि अपने प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के समय आत्मा नहीं है, आत्मा की सत्ता में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं हैं। दूसरी बात यह कि कृत[१] कर्मों की हानि और अकृत कर्मों की प्राप्तिरूप दोष हो जायगा। इसलिए आत्मा के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं हो सकते।

सद्रूपस्य आत्मनः सर्वत्रानुगमाच्च नात्यन्ताभावसम्भवः। द्वैतस्य मिथ्यात्वेनाधिष्ठानसत्तातादात्म्यापन्नतयैव सिद्धत्वात् शुक्तिरजतादिवदध्यस्तस्य तत्तादात्म्याभावानुपपत्तेः। तेनात्मा नाभावप्रतियोगी। अभावप्रतियोगिनश्च देहेन्द्रियादयः। तेनामी नात्मानः। किन्तु स्वप्रकाशबोधरूपे आत्मन्यद्वैतेऽप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्याकल्पिता अनिर्वचनीया एवेति सिद्धान्तरहस्यम्।

सत्रूप[२] से सर्वत्र विद्यमान होने के कारण आत्मा का अत्यन्ताभाव भी नहीं हो सकता। द्वैतप्रपञ्च[३] मिथ्या है, अधिष्ठानरूप ब्रह्म के साथ अभेद होने के कारण ही वह

प्रध्वंसाभाव की असिद्धि का उपपादन करके कारणान्तर से भी उनकी असिद्धि का उपपादन करते हैं।

१ आत्मा का प्रध्वंसाभाव अङ्गीकार करने पर आत्मा के किए हुए उन कर्मों की, जिनके फल का उपभोग नहीं हुआ है, हानि का आत्मा के विनाशकाल में फलोपभोग के विना ही स्वीकार करना होगा। वैसे ही आत्मा के प्रागभाव के अङ्गीकार करने पर आत्मा की उत्पत्ति के अनन्तर सद्यो जायमान सुख-दुःखोपभोग का आगमन बिना कारण ही के स्वीकार करना होगा। यह दोनों ही ठीक नहीं हैं, क्योंकि भोग के विना कर्मों का क्षय और कारण के बिना आकस्मिक कार्य की उत्पत्ति किसी के भी स्वीकार करने के योग्य नहीं है। इस प्रकार आत्मा के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के असम्भव का उपपादन करके अब आत्मा के अत्यन्ताभाव के असम्भव का उपपादन करते हैं।

२ आत्मा सन्मात्ररूप है यह श्रुतियों का उद्घोष है। 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' (घट है, पट है) इस प्रकार सत्रूप आत्मा का सर्वत्र अनुगम देखा जाता है। इसलिए सत्रूप आत्मा के अत्यन्ताभाव का कहीं भी सम्भव नहीं है। अब इसके बाद आत्मा के अन्योन्याभाव के असम्भव का उपादन करते हैं।

३ अन्योन्याभाव भेद है। जैसे पट में यह घट नहीं है, इस प्रकार घट के भेद का अनुभव होता है; वैसे ही किसी वस्तु में यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार आत्मभेद कहना होगा। वह सम्भव नहीं है, क्योंकि अनात्मा—मिथ्याभूत सर्वपदार्थ—आत्मा में आरोपित हैं। आरोपित की सिद्धि अधिष्ठानभूत आत्मा के तादात्म्य ही से हो सकती है। आत्मा के तादात्म्य से सिद्ध होनेवाले अनात्माओं में आत्मभेद कहा नहीं जा सकता। जैसे शुक्ति के तादात्म्य से प्रतीत

सिद्ध हुआ है। अतः शुक्ति में रजत के समान अध्यस्त होने से उसमें आत्मा के तादात्म्य का अभाव (भेद) उपपन्न नहीं हो सकता। पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो गया कि आत्मा[1] अभाव का प्रतियोगी नहीं हैं। अभाव के प्रतियोगी देह, इन्द्रिय आदि हैं। इसलिए[2] वे आत्मा नहीं हैं। किन्तु[3] स्वप्रकाश ज्ञानरूप अद्वितीय आत्मा में

होनेवाले रजत में यह शुक्ति नहीं है, यह निषेध वास्तव में नहीं हो सकता; वैसे ही आत्मा के तादात्म्य से प्रतीत होनेवाले अनात्माओं में आत्मभेद सिद्ध नहीं हो सकता।

१ उक्त रीति से आत्मा में चतुर्विध अभाव का असम्भव होने से आत्मा अभाव का प्रतियोगी नहीं है।

२ अभाव के प्रतियोगी होने से वादियों से अङ्गीकृत देहादि का तो अभाव सम्भव है, क्योंकि देह की उत्पत्ति से पहले उसका प्रागभाव है। देह का विनाश होने पर उसका प्रध्वंसाभाव है। देह विभु नहीं है, इसलिए जहां देह नहीं वहाँ उसका अत्यन्ताभाव भी है। देह से भिन्न घट-पटादिक वस्तुएँ उनके मत में सत्य हैं। उनमें देह का भेद भी है। इस प्रकार देह के चतुर्विध अभाव उपलब्ध होते हैं। आत्मा का तो इन चतुर्विध अभावों में से एक भी अभाव सम्भव नहीं है। जिसका एक भी अभाव हो, वह आत्मा नहीं हो सकता। तब चतुर्विध अभाव के प्रतियोगी देहादिक कैसे आत्मा हो सकते हैं? इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, प्राण और क्षणिक विज्ञान इनके चारों प्रकार के अभाव उपलब्ध होते हैं। वे आत्मा कैसे हो सकते हैं? जिस आत्मा का प्रतियोगीरूप से भी किसी अभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है, उसका अभाव के साथ तादात्म्य तो सुतरां नहीं हो सकता। इसलिए शून्यात्मवादी के मत का निरास हो गया। जैन और मीमांसकों के मत में यद्यपि आत्मस्वरूप नित्य है, आत्मा की उत्पत्ति और विनाश के अभाव से उनके मत में आत्मा का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव सम्भव नहीं है, तथापि वे आत्मा को विभु नहीं मानते, इसलिए आत्मा के अत्यन्ताभाव का सम्भव है। उनके मत में द्वैत सत्य है, इसलिए आत्मा से भिन्न घटादि वस्तुओं में आत्मा के भेद का भी सम्भव है। वैशेषिक, सांख्य और पातञ्जलों के मत में आत्मा नित्य है, इसलिए उसके प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं हैं। विभु है, इसलिए उसका अत्यन्ताभाव भी नहीं है। परन्तु द्वैत को वे सत्य मानते हैं, इसलिए उनके मत में अचेतन पृथिव्यादि सत्य वस्तुओं में आत्मा के भेद का सम्भव है। यद्यपि देहादि के मिथ्या होने से देहादि में अनात्मत्व सिद्ध है, तथापि आचार्यों ने वह हेतु नहीं दिया, क्योंकि वादी लोग देहादि को मिथ्या नहीं मानते।

प्रश्न—यदि देहादि आत्मा नहीं हैं, तो उनकी 'मनुष्योऽहम्', 'ब्राह्मणोऽहम्' (मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ) इस प्रकार आत्मरूप से क्यों प्रतीति होती है?

३ उत्तर—शुक्ति में रजत की तरह अविद्या से देहादि आत्मा में आरोपित हैं, इसलिए उनकी आत्मरूप से प्रतीति होती है।

४

अनिर्वचनीय अनादि अविद्यासे कल्पित हैं और स्वयं भी अनिर्वचनीय ही हैं। यह वेदान्तसिद्धान्त का रहस्य है।

ननु बोधरूप आत्मेति तवाभ्युपगमात् सुषुप्तौ च बोधाभावाद् गाढं मूढोऽहमासं न किञ्चिदवेदिषमिति सुप्तोत्थितस्य परामर्शात् कथमव्यभिचारिता तस्येत्याशङ्क्याह—सुषुप्त्येकसिद्ध इति । अयमर्थः—आत्मनः सुषुप्तिसाक्षित्वान्न तत्र तदभावः। अन्यथा मूढोऽहमासमिति परामर्शानुपपत्तेः। मातृमानमितिमेयानां व्यभिचारित्वेऽपि तद्भावाभावसाक्षिणः कालत्रयेऽप्यव्यभिचारात्।

प्रश्न—शुक्ति का जब 'इदमंश' से प्रकाश और शुक्ति अंश से अप्रकाश होता है, तभी उसमें रजत का आरोप देखा जाता है। स्पष्ट प्रकाश में वर्त्तमान समीपवर्ती शुक्ति, शुक्ति-अंश से ही प्रकाशित होती है, इसलिए उसमें रजत का आरोप नहीं देखा जाता। गाढ अन्धकार में स्थित शुक्ति इदमंश से भी अप्रकाशित होती है, उसमें भी रजत का आरोप नहीं देखा जाता। शुक्ति आदि जड़-पदार्थ परप्रकाश्य हैं, इसलिए प्रकाशक दीपादि के सन्निधान के तारतम्य से उनका अंश से प्रकाश और अंश से अप्रकाश बन सकता है। आत्मा को तो तुम स्वयंप्रकाश, ज्ञानस्वरूप और निरंश मानते हो, इसलिए वह सदा सब प्रकार से प्रकाशमान है, उसमें अप्रकाशित कोई अंश ही नहीं है, फिर आत्मा में देहादि का आरोप कैसे? किंच, शुक्ति से भिन्न रजत अन्यत्र कान्ताकरादि में सत्यरूप से प्रतीत होता है, इसलिए उसका शुक्ति में आरोप होता है। असत् वन्ध्यापुत्र और शशशृङ्ग का किसीमें आरोप नहीं देखा जाता। वेदान्ती के मत में तो आत्मा से अन्यत्र कहीं देहादि की सत्ता है ही नहीं, तो फिर देहादि में आत्मा का आरोप कैसे?

उत्तर—आत्मा स्वयंप्रकाश है, वास्तव में आवृत भी नहीं है, परन्तु उसकी शक्ति अनादि अविद्या से आवृतस्वरूप की तरह अविद्या से उपहित जीव की दृष्टि में अंश से प्रकाशमान होती है। निरंश स्वप्रकाश भी आत्मा में यह अनादि अविद्या अपने से उपहित जीव की दृष्टि से अंशभेद की कल्पना करके अंश से आत्मस्वरूप के आच्छादन में समर्थ हो सकती है। और यह जो पूर्ववादी ने कहा कि अन्यत्र सत्यत्वेन प्रतीत रजतादि का शुक्ति आदि में आरोप हुआ करता है, वेदान्ती के मत में देहादि सत्य कहीं हैं ही नहीं, तो फिर उनका आत्मा में आरोप कैसे? इसका उत्तर यह है कि भ्रमस्थल में आरोपित वस्तु अन्यत्र सत्य होनी चाहिये—इसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सत्य सर्प जिसने नहीं देखा है, चित्र-लिखित सर्प को देखकर उसके चित्त में 'ऐसा सर्प होता है' ऐसी भावना दृढ हो जाने पर कभी निमित्त के होने पर रज्जु में सर्प का आरोप हो सकता है। इसलिए भ्रम में आरोपित वस्तु के ज्ञान का संस्कार कारण है। वस्तु के सत्यत्व की अपेक्षा नहीं है। संस्कार तो मिथ्याभूत वस्तु से भी हो सकता है।

शङ्का—आप आत्मा को ज्ञानरूप[1] मानते हैं, सुषुप्ति में ज्ञान होता नहीं, इसलिए सोकर उठे हुए पुरुष को मैं अत्यन्त मूढ़ हो गया था, मैंने कुछ भी नहीं जाना—ऐसा स्मरण होता है। ऐसी दशा में आत्मा अविनाशी कैसे?

समाधान—इस शङ्का के निराकरण के लिए कहा—'सुषुप्त्येकसिद्धः[2]।' इसका अर्थ यह है—आत्मा सुषुप्ति का साक्षी है, इसलिए सुषुप्ति में उसका अभाव नहीं होता। अन्यथा मैं अत्यन्त मूढ़ हो गया था, इस प्रकार का स्मरण न होता। प्रमाता[3], प्रमाण, प्रमा और प्रमेय के व्यभिचारी होने पर भी उनकी सत्ता और असत्ता के साक्षी का तीनों काल में नाश नहीं होता।

---

१ सुषुप्ति-अवस्था में स्थित मूढत्व, जिसका जाग्रत् अवस्था में 'मूढोऽहमासम्' (मैं मूढ़ हो गया था) ऐसा स्मरण होता है, उससे सुषुप्ति में मूढत्व की सिद्धि होती है। मूढत्व ज्ञान का अभाव है। ज्ञान का अभाव होने पर ज्ञानरूप आत्मा सुषुप्ति में सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए सिद्धान्ती से अभिमत ज्ञानरूप आत्मा भी व्यभिचारी है—यह पूर्ववादी का आशय है

२ सुषुप्ति-अवस्था में विद्यमान मूढत्व का अनुभव सुषुप्तिकाल में है या नहीं? यदि अनुभव नहीं है, तो जाग्रत् अवस्था में स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभव के न होने से संस्कार नहीं होता और संस्कार के न होने से स्मरण नहीं हो सकता। यदि सुषुप्तिकाल में मूढत्व का अनुभव है, तो वह अनुभव ही सुषुप्ति का साक्षी ज्ञानरूप आत्मा है। इसलिए सुषुप्ति में आत्मा का व्यभिचार नहीं है, यह भाव है।

३ शरीर को व्याप्त करके स्थित अन्तःकरण घटादि-ज्ञानकाल में गवाक्ष के खोल देने से दीपक के प्रकाश की तरह अपने आश्रयभूत शरीर को न त्यागता हुआ ही विकसित होकर नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकलकर सूक्ष्म तन्तु की तरह विषयदेश में जाकर, विषय को व्याप्त करके विषयाकार से परिणत हो जाता है, वहाँ शरीर में स्थित अन्तःकरण का भाग 'कर्ता' कहा जाता है। सूक्ष्म तन्तु की तरह शरीर और विषय के मध्य स्थित जो अन्तःकरण का भाग उससे उपहित चैतन्य प्रमाणचैतन्य कहा जाता है। विषय के आकार के सदृश आकार से परिणत विषयदेश में स्थित अन्तःकरण के भाग से उपहित चैतन्य प्रमितिचैतन्य कहा जाता है। घटादि विषयों से उपहित चैतन्य प्रमेयचैतन्य कहा जाता है। ये तत्तदुपहित चैतन्यरूप प्रमाता आदि चारों व्यभिचारी हैं, क्योंकि उपाधि के होने पर उनका भाव और उपाधि के न होने पर उनका अभाव हो जाता है। परन्तु उन

ननु प्रमाश्रयः प्रमाता, स एव कर्त्ता भोक्ता प्रदीपवत् स्वपरसाधारण-सर्वभासकश्चेति न घटादिवत्साक्षिसापेक्ष इति चेत्, न। विकारित्वेन स्ववि-कारसाक्षित्वानुपपत्तेर्दृश्यस्य द्रष्टृत्वाभावात् प्रमातुश्च परिणामित्वेन दृश्य-त्वात्। एकस्य कूटस्थस्यैव सर्वसाक्षित्वात्।

शङ्का—प्रमा[1]का आश्रय प्रमाता है। वही कर्त्ता है और वही भोक्ता है। दीपक के समान अपना तथा अन्य का प्रकाशक भी वही है, घट आदि के समान साक्षी की अपेक्षा भी उसे नहीं है।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमाता विकारी[2] है, इसलिए प्रमाता अपने विकार का साक्षी स्वयं नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि दृश्य द्रष्टा नहीं हो सकता। प्रमाता परिणामी होने से दृश्य है, इसलिए प्रमाता

कारों का साक्षिभूत जो अनुपहित चैतन्य है, वह तो सदा सतरूप से अव्यभिचारी ही है। जैसे प्रमेय के भाव और अभाव का साक्षी अन्य होता है, वैसे ही प्रमाता के भाव एवं अभाव का साक्षी अन्य है—यह कहा। इसको सहन न करके वैशेपिक-मतानुसारी शङ्का करता है।

१ शङ्का करनेवाले का यह आशय है कि प्रमा यथार्थज्ञान को कहते हैं और वह ज्ञान आत्मा का गुण है। उस ज्ञान का आश्रय केवल आत्मा ही कर्त्ता-भोक्ता है। अन्तःकरणोपहित आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। अन्तःकरण तो ज्ञान में, कर्तृत्व में और भोक्तृत्व में केवल आत्मा का सहायक है। उसका ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता आत्मा के स्वरूप में प्रवेश नहीं है। इस दशा में जैसे दीपक अपने और अपनी प्रभा से संयुक्त घट के प्रकाश में अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं रखता है, वैसे ही आत्मा भी स्व, स्वनिष्ठज्ञान और विषय का प्रकाश करने में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। है इसलिए साक्षी की उसको अपेक्षा नहीं, अतः साक्षी नहीं है।

२ विकारित्व परिणामित्व है। यदि आत्मा ही प्रमाता हो, तो उसका विषया-कार से परिणाम अवश्यंभावी है, क्योंकि विषयाकार परिणाम ही को ज्ञान कहते हैं। जो-जो परिणामी हैं, वे सब दृश्य हैं, इस व्याप्ति से आत्मा दृश्य सिद्ध हो जायगा और दृश्य होने से वह द्रष्टा नहीं हो सकता एवं द्रष्टा न होने से वह साक्षी नहीं हो सकता।

प्रश्न—ज्ञान विषयाकार परिणाम नहीं है, किन्तु तार्किक मत के अनुसार विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होनेवाला गुणविशेष है, इसलिए आत्मा परिणामी नहीं है।

भी प्रमेय की तरह अपनी सत्ता तथा असत्ता का साक्षी नहीं हो सकता। केवल असङ्ग, अविकारी आत्मा ही सबका साक्षी है।

नन्वेकः कूटस्थो निर्धर्मकः साक्षी नाद्रियते, अप्रामाणिकत्वादिति चेत्, न; 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वेता० ६।१४, का० २।२) 'न [1]दृष्टेर्द्रष्टारं[2] पश्येः' (बृ० ३।७।२३) 'अदृष्टो[3] द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) '[4]नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादि वदता वेदान्तप्रमाणराजेन तस्यैव सर्वसाक्षित्वेनाभिषिक्तत्वात्।

शङ्का—[5]अद्वितीय, [6]कूटस्थ, प्रमादि धर्मरहित साक्षी का आदर नहीं होता, क्योंकि ऐसा साक्षी प्रामाणिक नहीं माना जाता।

उत्तर—तथापि निर्गुण, सगुण दो अवस्थाओं के भेद से भिन्न होनेवाले आत्मा का परिणाम अवश्य मानना होगा, क्योंकि 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' उत्पन्न होता हुआ और नष्ट होता हुआ धर्म अवश्य धर्मी को विकृत (उत्पत्ति-नाशवाला) कर देता है, इसलिए अवस्थाभेद से भी जहाँ भेद नहीं है, उस अपरिणामी कूटस्थ आत्मा को ही सर्वसाक्षी मानना चाहिये। दृश्य प्रमाता साक्षी नहीं हो सकता।

१ चक्षुरादि में रहनेवाली लौकिक दृष्टि (दर्शनशक्ति) के।

२ अन्तर्यामीरूप से व्याप्त हुए द्रष्टा परमात्मा को तू नहीं देख सकता, परमात्मा लौकिक दृष्टि का विषय नहीं होता, क्योंकि वह लौकिक दृष्टि का साक्षी है। इसलिए परमात्मा सर्वसाक्षी है, यह सिद्ध हुआ।

३ लौकिक दृष्टि का अविषय परमात्मा स्वयं सबका साक्षी होने से द्रष्टा है।

४ परमात्मा से भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है। इसलिए जिसको द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, जीव आदि कहते हैं, वह परमात्मा ही है।

५ याज्ञवल्क्यस्मृति में साक्षी के प्रकरण में कहा है—'त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्त्तक्रियापराः'—उसके विरुद्ध एक निर्धर्मक आत्मा को साक्षी कैसे कह सकते हैं? उसीके अग्रिम श्लोक में—'कूटकृद्विकलेन्द्रियाः' कूटकृत् (कपटकारी) की साक्षिता का निषेध किया है, इस स्मृति के विरुद्ध कूटस्थ को ही तुम साक्षी कहते हो, उसको हम कैसे मानें? पूर्वपक्षी का यह आशय है। इसपर प्रमाणों में मूर्धाभिषिक्त श्रुति ही यहाँ प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—'तमेवेति'।

६ याज्ञवल्क्य का वचन व्यवहारविषयक है, इसलिए उससे विरोध नहीं। किंच, याज्ञवल्क्य ने जो कूटकृत् में साक्षिता का निषेध किया है, वहाँपर कूटकृत् का अर्थ कपटकारी

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि '[1]तमेव भान्त०' 'न दृष्टेः' इत्यादि कहते हुए वेदान्तप्रमाणराज ने उसीका (आत्मा का) सबके साक्षीरूपसे अभिषेक किया है।

ननु महदेतदिन्द्रजालं प्रमाश्रयानकूटस्थान् विहाय कूटस्थमप्रमाश्रयमेव प्रमाणराजः सर्वसाक्षिणं करोतीति। बाढमिन्द्रजालमेवैतत्, स्वप्नवदविद्याविलसितत्वात्। तथापि दृश्यस्य घटादिवज्जडत्वेन कथं प्रमाश्रयत्वमिति चेत्, न; दर्पणादिवत्स्वच्छत्वेन चित्प्रतिबिम्बग्राहकत्वाच्चित्तादात्म्याध्यासाद्वा।

शङ्का—यह तो बड़ा इन्द्रजाल है। जो कि प्रमाणराज प्रमा के आश्रय[2] एवं अकूटस्थों[3] को छोड़कर कूटस्थ[4] तथा प्रमाशून्य[5] को सबका साक्षी बनाता है।

है। आत्मा को तो कूटस्थ कहते हैं, यहाँ कूटस्थ शब्द का अर्थ एक निर्विकाररूप से सदा वर्तमान है, क्योंकि 'एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः' [अम० ३।१।७३] (एक ही रूप से जो तीनों कालों में व्यापक नित्य हो उसको कूटस्थ कहते हैं)। 'कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ' इति मेदिनी। मेदिनीकोष में कूट-शब्द का अर्थ निश्चल है। इसलिए निश्चल होकर स्थित होनेवाला—यह कूटस्थ-शब्द का अर्थ है।

१ 'तमेव भान्तम्' इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है—ये सब सूर्य, चन्द्र, बिजली आदि स्वतः प्रकाशमान नहीं हैं। सूर्यादि में स्वतःप्रकाश की सामर्थ्य नहीं है, किन्तु 'तमेव भान्तमनुभाति' सबसे पहले प्रकाशमान परमात्मा के अनुग्रह से सूर्यादि भासते हैं। उस परमात्मा की ही दीप्ति से सूर्यादि सारा जगत् भासता है। इसलिए परमात्मा 'भा' रूप है, यह निश्चय होता है, क्योंकि जिसमें भासनशक्ति न हो, वह दूसरे का भासन नहीं कर सकता। जैसे लोक में घटादि पदार्थ दूसरे पदार्थ के भासक नहीं होते और जो भारूप सूर्यादि हैं, वे अन्य पदार्थों के प्रकाशक होते हैं, ऐसा देखा जाता है। इसलिए जगत् के प्रकाशक सूर्यादि का भी प्रकाश करनेवाला परमात्मा सर्वसाक्षी है, यह सिद्ध हुआ।

२ यथार्थ ज्ञानवाले।

३ अकपटकारी। कूट नाम कपट का है, कूटस्थ कपट में स्थित होनेवाला, इसलिए अकूटस्थ (अकपटकारी) ऐसे ही पुरुषों को राजा लोक में साक्षी स्वीकार करता है, परमात्मा तो सर्वथा इससे विपरीत है।

४ कूट (कपट) कपटरूप संसार में स्थित।

५ जो प्रमा का आश्रय नहीं है। अबाधित विषयाकार अन्तःकरणवृत्ति को प्रमा कहते हैं, उसका आश्रय अन्तःकरण ही है, क्योंकि वह परिणामी है, परमात्मा अपरिणामी है, इसलिए प्रमा का आश्रय नहीं है और वह कूट में स्थित है, इसलिए अकूटस्थ भी नहीं है।

समाधान—हाँ, अवश्य यह इन्द्रजाल ही है। क्योंकि स्वप्न के जगत् के समान यह भी अविद्या से उत्पन्न हुआ है।

शङ्का—तो[1] भी दृश्य पदार्थ घट आदि के समान जड़ है, अतः वह प्रमा का आश्रय कैसे ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पण के समान स्वच्छ होने से अन्तःकरण में चित् के प्रतिबिम्ब[2] को ग्रहण करने की शक्ति है। अथवा अन्तःकरण में चित्[3] का तादात्म्याध्यास है। इसलिए जड़ भी अन्तःकरण प्रमा का आश्रय हो सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

ननु नीरूपस्य निरवयवस्यात्मनः कथं प्रतिबिम्ब इति चेत्, कात्रानुपपत्तिः, विभ्रमहेतूनां विचित्रत्वात्। जपाकुसुमरूपस्य नीरूपस्य निरवयवस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनात्। शब्दस्यापि प्रतिशब्दाख्यप्रतिबिम्बोपलम्भात्। तयोः संप्रतिपन्नप्रतिबिम्बवैलक्षण्यानिरूपणात्। तथापीन्द्रियग्राह्यस्यैव प्रतिबिम्ब इति चेत्, न; व्यभिचारात्। अनिन्द्रियग्राह्यस्य साक्षिप्रत्यक्षस्याप्याकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बोपलम्भात्। अन्यथा जानुमात्रेऽप्युदकेऽतिगम्भीरप्रतीतिर्न स्यात्। आकाशप्रतिबिम्बस्य साक्षिभास्यत्वेऽपि सालोकस्य साभ्रस्य च प्रतिबिम्बितत्वात्तद्ग्रहणार्थमधिष्ठानग्रहणार्थं च चक्षुषोऽपेक्षणात्। एतेन नीलं नभ इत्यादिविभ्रमेऽपि चक्षुरन्वयव्यतिरेकौ व्याख्यातौ। तत्र सालोकस्याकाशस्याधिष्ठानत्वात्। तस्माच्चाक्षुषप्रतिबिम्बमेव रूपसापेक्षं नान्यदित्यवधेयम्।

---

१ प्रमा ज्ञानविशेष है, अन्तःकरण की वृत्ति में जो प्रमात्व है वह औपचारिक है, वास्तविक नहीं। क्योंकि ज्ञान चैतन्य ही है, इसलिए प्रमा चेतन का ही धर्म हो सकता है, अचेतन अन्तःकरण का नहीं, यह आशय है।

२ वास्तव में चैतन्य का आश्रय न होता हुआ भी अन्तःकरण चिति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, इसलिए उसको चैतन्य का आश्रय कहते हैं।

३ अथवा अचेतन अन्तःकरण का चेतन के साथ जो भेद है, उसका ज्ञान नहीं होता। इसलिए अन्तःकरण को चैतन्य का आश्रय कहते हैं। चैतन्य का आश्रय होना ही प्रमा का आश्रय होना (प्रमातृत्व होना) है।

शङ्का[१]—नीरूप निरवयव आत्मा का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ?

समाधान—इसमें क्या अनुपपत्ति[२] है ? अर्थात् कोई भी नहीं, क्योंकि भ्रान्ति के कारण अनेक[३] हुआ करते हैं। जपा के फूल का रूप भी नीरूप है, पर स्फटिक आदि में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, और शब्द भी रूपरहित है, उसके भी प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है। इनको हम प्रतिबिम्ब ही नहीं मानते ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वसम्मत प्रतिबिम्ब से इनमें[४] कोई विलक्षणता नहीं

---

१ पूर्वपक्षी—आत्मा का प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिबिम्ब की सामग्री नहीं है। तथाहि, अपने सम्मुख स्थित दर्पणरूपी उपाधि से अपहृत होकर नेत्र की रश्मियाँ लौट जाती हैं, तब नेत्र द्वारा ग्रीवा में स्थित अपने बिम्बरूपी मुख को देखता हुआ भी पुरुष ग्रीवा में स्थितत्व के अज्ञानरूपी दोष से अभिमुख दर्पणरूपी उपाधि में अन्तर्गतत्व का आरोप कर लेता है कि मेरा मुख दर्पण के अन्दर है, इसीको प्रतिबिम्ब-भ्रम कहते हैं। वहाँपर बिम्बरूप मुख का चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप के अधीन है और दर्पणरूपी उपाधि की अभिमुखता सावयवत्व के अधीन है। आत्मा के न रूप है, न अवयव। फिर आत्मा का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब कैसे ?

२ सिद्धान्ती—सरूप सावयव मुख के प्रतिबिम्ब की तरह नीरूप निरवयव वस्तु का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है, इसलिए सरूप सावयव बिम्बस्थल की अपेक्षा नीरूप निरवयव बिम्बस्थल में सामग्री का भेद अवश्य मानना होगा, इसलिए आत्मा के प्रतिबिम्ब में अनुपपत्ति का कोई लेश भी नहीं है।

३ नाना प्रकार के। रूपवान् और सावयव वस्तु का ही प्रतिबिम्ब होता है, सिद्धान्ती इस सामग्री का व्यभिचार दिखाता है।

४ रूप रूप से रहित है, क्योंकि रूप गुण है, गुण में गुण नहीं रहता। अवयव द्रव्य ही का हुआ करता है, रूप द्रव्य नहीं, इसलिए वह सावयव भी नहीं है। तथापि जपाकुसुम के रूप का स्फटिकरूपी उपाधि के अन्तर्गतत्वारोपरूप प्रतिबिम्ब देखा जाता है। तथा च रूपवान् और सावयव का ही प्रतिबिम्ब हुआ करता है, इस सामग्री का स्फटिक में व्यभिचार है।

पूर्वपक्षी—दर्पण में मुख की प्रतीति रूप और अवयव विशिष्ट ही हुआ करती है, उसीका प्रतिबिम्बशब्द से व्यवहार होता है। फिर नीरूप के प्रतिबिम्ब का कथन कैसे ? जपाकुसुम के रूप का जहाँ स्फटिक में प्रतिबिम्ब होता है, वहाँ रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है, इस सामग्री का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि रूप में यद्यपि साक्षात् (समवाय-सम्बन्ध से) रूप नहीं है, तथापि तादात्म्य सम्बन्ध से रूप में रूप है ही।

सिद्धान्ती—तथापि किसी भी सम्बन्ध से रूप से रहित शब्द का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, क्योंकि मठ के मध्य स्थित पुरुष के कण्ठदेश में उत्पन्न हुआ शब्द मठ के ऊपरी

है। तो भी इन्द्रियग्राह्य का ही प्रतिबिम्ब होता है, ऐसा नहीं कह सकते। ऐसा मानने में व्यभिचार है, क्योंकि इन्द्रियों[1] से प्रत्यक्ष न होनेवाले साक्षिभास्य आकाश के भी

भाग में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। पुरुष के कण्ठदेश में उत्पन्न हुए शब्द का मठ के ऊर्ध्वाकाश में प्रतिबिम्ब होता है, यह स्वीकार करना होगा।

पूर्वपक्षी—'रक्तः स्फटिकः' यह भ्रम 'पीतः शङ्खः' इस भ्रम के सदृश है, इसलिए भ्रम है। शब्दस्थल में तो प्रतिध्वनिरूप शब्दान्तर उत्पन्न होता है, इसलिए उसके अनुसार सामग्री का भेदकल्पन कैसे?

सिद्धान्ती—दर्पण में उपलभ्यमान मुख जैसे सर्वसम्मत मुख-प्रतिबिम्ब है, उसके सदृश ही स्फटिक में रक्तिमा की और मठ के ऊर्ध्वाकाश में प्रतिशब्द की प्रतीति होती है। जैसे मुख से भिन्न दर्पण में मुख की उपलब्धि होती है, वैसे ही जपाकुसुम की रक्तिमा से भिन्न स्फटिक में रक्तिमा की उपलब्धि होती है, इसलिए उसमें प्रतिबिम्ब का लक्षण तुल्य है, क्योंकि अन्य के सम्बन्ध से अन्य में उपलभ्यमान होना ही प्रतिबिम्ब का लक्षण है। अर्थात् उपाधि के अन्तर्गतत्व रूप आरोपित धर्म से विशिष्ट बिम्ब ही प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार मुख की तरह जपाकुसुमरूप और शब्द भी उपाध्यन्तर्गतत्वरूप आरोपित धर्म से विशिष्ट होकर ही प्रतीत होते हैं। इसलिए रूप और शब्द के प्रतिबिम्बत्व में संकोच नहीं होना चाहिये।

पूर्वपक्षी—चक्षुर्योग्यता का व्यभिचार होने पर भी शब्द में बहिरिन्द्रिययोग्यता का व्यभिचार नहीं है। इसलिए शब्द का प्रतिबिम्ब हो, आत्मा तो किसी भी इन्द्रिय का ग्राह्य नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे?

१ सिद्धान्ती—किसी भी इन्द्रिय से अग्राह्य केवल साक्षिभास्य रूपरहित निरवयव आकाश का भी जलादि में प्रतिबिम्ब देखा जाता है।

पूर्वपक्षी—सुखादिकों की तरह आकाश यदि साक्षिभास्य है, तो साक्षिभास्य सुखादि की तरह आकाश का भी अन्धे पुरुष को साक्षात्कार होना चाहिये।

सिद्धान्ती—होता ही है। जाग्रत् और स्वप्न में भासमान घट आदि मूर्त पदार्थों में रहनेवाले आकाश का अन्धे को भी प्रत्यक्ष होता ही है।

पूर्वपक्षी—नेत्र को ऊपर करने से आकाश के जितने प्रदेश में नेत्र का संयोग होता है, उतने ही आकाश का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए आकाश चाक्षुप है, यह प्रभाकर का मत है। किंच, अन्धे पुरुष को भी घट में उसी आकाश की प्रतीति होती है, जो घट से अवच्छिन्न है, सम्पूर्ण आकाश की प्रतीति नहीं होती। यदि आकाश साक्षिभास्य है, तो अन्ध और अनन्ध दोनों को सम्पूर्ण आकाश का प्रत्यक्ष होना चाहिये। चाक्षुप मानने पर तो घट की तरह आकाश के जितने भाग में नेत्र का संयोग होता है, उतने ही का प्रत्यक्ष होता है। साक्षिभास्यत्वपक्ष में उसके प्रत्यक्ष के लिए नेत्र का कोई उपयोग ही नहीं है, इसलिए यह व्यवस्था नहीं हो सकती।

जल आदि में प्रतिविम्ब की उपलब्धि होती है। [1]यदि आकाश का प्रतिबिम्ब न मानोगे, तो जाँघमात्र जल में भी अतिगम्भीर जल की प्रतीति नहीं होगी।

सिद्धान्ती—जैसे काल के साक्षिभास्य होने पर भी भासमान घट-पटादि का अधिकरण वर्तमान क्षणरूप काल की ही 'इदानीं घटः', 'इदानीं पटः' इत्यादि रूप से प्रतीति होती है, क्योंकि घटाकार-वृत्ति से घटाधिकरण क्षण के आवरण का नाश होकर उसी क्षण का अनावृत साक्षी के साथ सम्बन्ध होता है। इसलिए उक्त प्रतीतियों में वर्त्तमान क्षण का ही भान होता है। उक्त प्रतीतियों को यदि परोक्षज्ञान मानें, तो अतीत और अनागत क्षणों की भी प्रतीति होनी चाहिये। क्योंकि परोक्षज्ञानस्थल में वृत्ति की विषयता अतीत-अनागत पदार्थों में भी हुआ करती है और 'इदानीं घटः' इत्यादि प्रतीति में विषयाधिकरण क्षण ही विषय होता है, यह नियम है; वैसे ही आकाश के साक्षिभास्य होने पर भी भासमान घटादिकों से अवच्छिन्न आकाश ही के आवरण का घटाकारवृत्ति से नाश होता है। इसलिए घटावच्छिन्न आकाश के साथ ही अनावृत साक्षी का सम्बन्ध होने से 'घटाकाशः' पटाकाशः' यह प्रतीति होती है। ऊर्ध्वभाग में व्यापृत नेत्र से जितना आलोक (प्रकाश) का भाग ग्रहण किया जाता है, उस आलोकावच्छिन्न आकाश का साक्षी से ग्रहण होता है। अन्धे पुरुष से भी त्वचा से गृह्यमाण घट में तदवच्छिन्न आकाश का साक्षी ही से ग्रहण होता है। इसलिए आकाश का जो ज्ञान होता है, वह घटादि प्रत्यक्ष की तरह प्रमातृ-प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि आकाश में रूप के न होने से चक्षुरिन्द्रिय का उसमें सञ्चार ही नहीं है। अनुमान भी नहीं है, क्योंकि अनुमान के कारण व्याप्ति-ज्ञानादि वहाँ नहीं हैं। इसलिए आकाश में किसी भी प्रमाण का सञ्चार न होने से आकाश का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है, क्योंकि प्रमाण-जन्य मनोवृत्ति में ही मन का परिणाम हुआ करता है, यह नियम है। इसीलिए शुक्तिस्थल में रजताध्यास में रजताकारवृत्ति मन का परिणाम नहीं होता, वह वृत्ति अविद्या से कल्पित है। इसीलिए वेदान्त-सिद्धान्त में अध्यस्त रजत साक्षिभास्य है, वैसे ही आकाश भी साक्षी-प्रत्यक्ष है, यह सिद्ध हो गया। इसलिए जैसे इन्द्रियों से अग्राह्य आकाश का जल में प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही इन्द्रियों से अग्राह्य आत्मा का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब हो सकता है।

पूर्वपक्षी—जल में आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु जल के अभ्यन्तरवर्ती जो आकाश है, उसीकी प्रतीति होती है।

१ सिद्धान्ती—जानुमात्र परिमाण जल में उससे अधिक परिमाणविशिष्ट आकाश की प्रतीति होती है, क्योंकि उसीमें चन्द्र, नक्षत्र आदि अवकाश से प्रतीत होते हैं। इसलिए जल में आकाश का प्रतिबिम्ब अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

पूर्वपक्षी—इस रीति से जल में आकाश का प्रतिबिम्ब मानने पर भी उसके साक्षात्कार का साधन तो नेत्र ही है, यदि नेत्र उसका साधन न होता, तो अन्धे पुरुष को भी जलाकाश का प्रत्यक्ष हो जाता। इसलिए प्रतिबिम्ब के प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय साधन है। बिम्ब

¹आकाश के प्रतिबिम्ब के साक्षिभास्य होने पर भी आकाश का प्रतिबिम्ब मेघसहित है और आलोकसहित है। उनके ग्रहण के लिए और अधिष्ठान के ग्रहण के लिए

और प्रतिबिम्ब दोनों के ज्ञान की सामग्री समान हुआ करती है। जब आकाश का प्रतिबिम्ब चाक्षुष है, तो बिम्ब भी चाक्षुष है। इसलिए आकाश साक्षिभास्य नहीं, किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। अतएव इन्द्रियग्राह्य का ही प्रतिबिम्ब हुआ करता है, इस नियम का व्यभिचार नहीं। आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती—आकाश में रूप नहीं है, इसलिए आकाश के प्रतिबिम्ब का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आकाश में जो चाक्षुषत्वप्रतीति होती है, वह भ्रम ही है।

पूर्वपक्षी—तब आकाश के बिम्ब और प्रतिबिम्ब के प्रत्यक्ष में चक्षु की अपेक्षा क्यों होती है?

सिद्धान्ती—आकाशप्रदेश में पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का जो अभाव है, उस अभाव के ग्रहण करने के लिए चक्षु का व्यापार है; क्योंकि पृथ्वी आदि का अभाव और आकाश ये दोनों समनियत पदार्थ हैं। जहाँ पृथिव्यादिकों का अभाव होता है, वहीं आकाश होता है। और जहाँ आकाश होता है, वहाँ पृथिव्यादि का अभाव होता है। पृथिव्यादि के अभाव के ग्रहण से ही आकाश का ग्रहण होता है। समनियत होने से ही बौद्ध लोग आकाश को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते, किन्तु पृथिव्यादि का अभाव ही आकाश है, यह कहते हैं। इसलिए आकाशदेश में स्थित पृथिव्यादि का अभाव ही चाक्षुष है, उस अभाव का अधिकरण भावरूप आकाश चाक्षुष नहीं है। अतः आकाश साक्षिमात्र-प्रत्यक्ष का विषय है, यह सिद्ध हुआ। किंच, प्रतिबिम्बाकाश के ज्ञान के समय प्रतिबिम्ब की उपाधि जलरूप अधिष्ठान के ज्ञान के लिए चक्षु की आवश्यकता है।

१ पूर्वपक्षी—'नीलं नभः' यह प्रतीति चक्षुष्मान् ही को होती है, अन्धे को नहीं, इसलिए चक्षु के सद्भाव में उस प्रतीति का सद्भाव यह अन्वय और चक्षु के अभाव में उस प्रतीति का अभाव यह व्यतिरेक है। यदि यह प्रतीति सत्य है, तो उक्त अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु आकाश में रूपवत्ता सिद्ध होगी। यदि वह प्रतीति सत्य नहीं, किन्तु भ्रम है, तो भी आरोपित नीलरूप ज्ञान के लिए चक्षु की अपेक्षा है। इस दशा में भी चक्षु के अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु एक रूपवान् ही में दूसरे रूप का भ्रम हुआ करता है, जैसे श्वेत शङ्ख में पीत रूप का भ्रम। इस दशा में भी आकाश रूपवान् ही होता है। दोनों प्रकार से रूपवान् होने से आकाश इन्द्रियग्राह्य सिद्ध होता है, साक्षिभास्य नहीं।

सिद्धान्ती—'नीलं नभः' यह प्रतीति भ्रम ही है, आरोपित नीलरूप का अधिष्ठान केवल आकाश होता, तो उसको रूपवत्ता सिद्ध होती। किन्तु केवल आकाश अधिष्ठान नहीं, वरन आलोकसहित आकाश अधिष्ठान है। आलोक रूपवान् है ही, इसलिए उसमें नीलरूप-भ्रम सिद्ध हो सकता है।

चक्षु की अपेक्षा है। इससे[१] नील आकाश इत्यादि भ्रम में भी चक्षु के अन्वय और व्यतिरेक की व्याख्या हो गयी। नील आकाश इस वाक्य से कथित भ्रम में आलोक-सहित आकाश अधिष्ठान है। इसलिए[२] चाक्षुष द्रव्यों का प्रतिबिम्ब ही रूपसापेक्ष होता है, अन्य द्रव्यों का प्रतिबिम्ब रूपसापेक्ष नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

तथाप्यात्मनः प्रतिबिम्बे किं मानमिति चेच्छृणु। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। तदस्य[३] रूपं प्रतिचक्षणाय' (बृ० २।५।१९) 'मायाभासेन[४] जीवेशौ करोति।'

एक[५] एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

(ब्रह्मबिन्दुः १२)

---

१ जैसे केवल रज्जु सर्प-भ्रम का अधिष्ठान नहीं, किन्तु अन्धकार से आवृत ही रज्जु सर्प-भ्रम का अधिष्ठान है, वैसे ही यहाँ आलोकसहित आकाश ही नीलरूप-भ्रम का अधिष्ठान है। तादृश अधिष्ठान के अन्तर्गत आलोक के ज्ञान के लिए और आरोपित नीलरूप के ज्ञान के लिए ही चक्षु की अपेक्षा है। इसलिए चक्षु के अन्वय-व्यतिरेक की भी अनुपपत्ति नहीं है और आकाश में रूपवत्ता का प्रसङ्ग भी नहीं है, यह भाव है।

२ रूपवान् ही का प्रतिबिम्ब होता है, यह नियम चाक्षुष प्रतिबिम्बविषयक ही है। सब प्रतिबिम्बों में यह नियम नहीं है, यह अर्थ है।

३ श्रुत्यर्थ—प्रतिचक्षण व्यवहारविशेष है। इस परमात्मा का मन में प्रवेश किया हुआ वह प्रतिबिम्बस्वरूप 'अहम्' इस अध्यास को उत्पन्न करके आचार्य-शिष्यादिरूप से अध्यापन-अध्ययनादि व्यवहार के लिए पर्याप्त हुआ।

४ श्रुत्यर्थ—परमात्मा की शक्ति माया आभास (प्रतिबिम्ब) से अपने आश्रयभूत एक ही परमात्मा को अपने में और अपने कार्य मन में प्रतिबिम्ब के वश जीवेश्वरभेद से विभक्त कर देती है।

५ श्रुत्यर्थ—स्वभाव से एकस्वरूप होता हुआ भी परमात्मा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह प्रत्येक मन में प्रवेश करके बहुस्वरूप होकर दृश्यमान होता है।

इत्यादिश्रुतिः—'स[1] एष इह प्रविष्टः' (बृ० १ । ४ । ७) 'स एतमेव[2] सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३ । १२) 'तत्सृष्ट्वा[3] तदेवानुप्राविशत्' (तै० २ । ६ । १) इत्यादिप्रवेशश्रुत्यर्थान्यथानुपपत्तिः, 'आभास[4] एव च' (ब्र०सू० २ । ३ । ५०) 'अतएव[5] चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्रह्मसू० ३ । २ । १८) इत्यादिपारमर्षसूत्राणि च तत्र मानानि ।

---

१ श्रुत्यर्थ—वह परमात्मा ही कर्मफलों के आश्रय अशनायादिमान् (भूख-प्यासवाले) ब्रह्मादि स्थावरपर्यन्त देहों में प्रवेश किये हुए है।

२ श्रुत्यर्थ—वह परमात्मा ही इस मूर्धा के मध्यभाग कपालों की सन्धिरूप सीमा (स्थानविशेष) को विदीर्ण करके उस द्वार से देह में प्रवेश कर गया।

३ श्रुत्यर्थ—परमात्मा उस कार्यजात को उत्पन्न करके अपने से उत्पन्न किये हुए उस कार्यजात में आप ही प्रवेश कर गया। इन श्रुतियों में देहादिकों में परमात्मा का प्रवेश कहा है, वह प्रवेश बहिर्भाग में स्थित देवदत्त के गृहप्रवेश की तरह तो हो नहीं सकता, क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा के लिए कोई बहिर्भाग ही नहीं है। इसलिए श्रुतिप्रतिपादित प्रवेश की अन्यथानुपपत्ति से परमात्मा के प्रतिबिम्ब की कल्पना होती है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख प्रविष्ट की तरह होता है, वैसा ही आत्मा का प्रवेश है। यह प्रतिबिम्ब स्वच्छ अन्तःकरण में व्यक्त होता है। उस प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्तःकरण को ही जीव कहते हैं।

४ सूत्रार्थ—इस जीव को जड़ सूर्य की तरह परमात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही समझना चाहिये। यह न साक्षात् परमात्मा ही है और न परमात्मा से भिन्न ही है।

५ सूत्रार्थ—आत्मा की एकता ही से श्रुति में जीव को सूर्यकादि की उपमा दी है, यह सूत्र का अर्थ है। 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति श्रुतिः। जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होता हुआ भी घटादि-भेद से भिन्न जलों में अनुगत होकर अनेक रूप हो जाता है, वैसे ही यह अज स्वयंप्रकाश आत्मा देव एक होता हुआ भी मायारूप उपाधि से क्षेत्रों में अनुगत होकर अनेक रूप हो जाता है, यह श्रुति का अर्थ है।

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान्॥ (याज्ञ० स्मृ० ३।१४४)

जैसे एक ही आकाश घटादि-भेद से भिन्न प्रतीत होता है, जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलपात्रों में भिन्न-भिन्न की तरह प्रतीत होता है, वैसे ही एक ही आत्मा अन्तःकरणरूप उपाधियों के भेद से भिन्न-भिन्न की तरह प्रतीत होता है, यह स्मृति का अर्थ है।

शङ्का—तथापि आत्मा के प्रतिबिम्ब में क्या प्रमाण है ?[1]

समाधान—सुनिये, 'रूपं[2] रूपम्', 'मायाऽऽभासेन', 'एक एव हि' इत्यादि श्रुतियों और 'स एष इह०', 'स एतमेव सीमानं वि०', 'तत्सृष्ट्वा०' इत्यादि प्रवेश-श्रुतियों की अन्यथा-अनुपपत्ति एवं 'आभास एव च', 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि आर्षसूत्र भी परमात्मा के प्रतिविम्ब में प्रमाण हैं। अतः परमात्मा का प्रतिबिम्ब होता है, ऐसी कल्पना होती है।

तस्य च प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वमेवेति प्रतिबिम्बवादिनः। मिथ्यात्वमेवेत्याभासवादिनः। स्वरूपे तु न विवाद इत्यन्यत्। अचेतनविलक्षणत्वं तु तस्य श्रुतिसिद्धं अनुभवसिद्धं च। तस्मात् सिद्धमन्तःकरणस्य प्रतिबिम्बाध्यासद्वारा प्रमातृत्वम्।

प्रतिबिम्बवादी[3] उस प्रतिबिम्ब को सत्य कहते हैं और आभासवादी

---

१ यद्यपि उक्त रीति से रूप के न होने पर भी और इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी आत्मा के प्रतिबिम्ब का सम्भव है और प्रतिबिम्बरूप से मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध भी हो सकता है, यह सिद्ध हो गया। तथापि मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब है ही, यह निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि सम्भव प्रमाण नहीं है। निश्चय प्रमाण ही से हुआ करता है, क्योंकि वन में दूर से दृश्यमान वस्तु में 'स्थाणु है अथवा पुरुष ?' ऐसा संशय होने पर इस वन में भीलों के सञ्चार का सम्भव है, इसलिए यह पुरुष ही है, ऐसा निश्चय नहीं हुआ करता। इसलिए चेतन के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध से मन को प्रमातृत्व है, यह निश्चय कैसे हो सकता है, यह आशय है।

२ रूप-धातु का अर्थ व्यवहार है, उससे करण में घञ् प्रत्यय होकर रूप शब्द बनता है। इसलिए व्यवहार का करण रूप है, यह अर्थ सिद्ध हुआ। सब व्यवहारों का करण मन है, इसलिए श्रुति ने मन को रूप कहा है और मन ही से 'अहम् अस्मि' (मैं हूँ) इस रूप से आत्मा का व्यवहार होता है। प्रतिरूप शब्द का अर्थ प्रतिबिम्ब है। परमात्मा प्रत्येक मन में प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश कर गया, यह श्रुति का तात्पर्य है।

३ विवरणकार और संक्षेपशारीरककार प्रतिबिम्बवादी हैं। जीव चेतन का प्रतिबिम्ब है, यह उनका मत है। लोक में दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ की समीपता से मुखरूप बिम्ब ही मुख से भेद और दर्पण की अन्तर्गतता—इन दो धर्मों से प्रतीत होता है। वास्तव में बिम्बरूप मुख से भिन्न दर्पण के अन्तर्गत कोई वस्तु नहीं है। इस मत में बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब की पृथक् सत्ता नहीं है, न वह मिथ्या ही है, क्योंकि बिम्बरूप से वह सत्य है। इस मत में दर्पणादि में ऐसी शक्ति है कि वह दर्पणादि सत्य बिम्ब ही में भेद की कल्पना करके

मिथ्या[1] कहते हैं। परन्तु स्वरूप में किसीका विवाद नहीं है। यह बात विचारान्तर की है। अचेतन-विलक्षणता[2] तो उसमें श्रुति से भी सिद्ध है और अनुभव से भी।

स्व (दर्पण) के अन्तर्गतत्वमात्र की कल्पना करता है। जैसे सरव शङ्ख में नेत्रस्थित पित्त पीतिमा की कल्पना करता है—यह उनका आशय है।

१ आभासवादी वार्त्तिककार हैं। जीव चेतन का आभास है—यह उनका मत है। लोक में बिम्बभूत मुख आदि की अपेक्षा दर्पणादि में दृश्यमान प्रतिबिम्बरूप मुख आदि बिम्ब के सदृश होते हुए भी बिम्ब से भिन्न हैं, वह प्रतिबिम्ब मिथ्याभूत प्रातिभासिक सर्प की तरह अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। इस मत में दर्पणादि में ऐसी शक्ति है कि वह अपने अन्तर्गत बिम्ब के सदृश बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब की कल्पना करता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवादियों के मत से प्रतिबिम्ब की सत्यता और आभासवादियों के मत में प्रतिबिम्ब की असत्यता हो। प्रतिबिम्ब के स्वरूप में दोनों एक मत हैं। इस रीति से मन में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है, उसके सम्बन्ध से जड़ मन में भी प्रमातृत्व उत्पन्न होता है (मन प्रमाता हो जाता है), जैसे जल में प्रविष्ट सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता है, उस प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध से जल भी चमकता है। इस प्रकार जैसे जल में सूर्य के प्रकाश का सम्बन्ध देखा जाता है, वैसे ही स्व (मन) के अन्तर्गत चित्प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध से मन में प्रकाश का सम्बन्ध होता है। प्रकाश ही ज्ञान है। उसीको चैतन्य कहते हैं। इसलिए मन ज्ञाता (ज्ञानाश्रय) हो सकता है। चेतन का प्रतिबिम्ब चेतन के सदृश ज्ञानरूप है, उस ज्ञानरूप प्रतिबिम्ब का आश्रय होने से अन्तःकरण ज्ञाता और प्रमाता कहा जाता है।

शङ्का—प्रतिबिम्ब अचेतन है, जब वह स्वयं ही ज्ञानरूप नहीं तो उसके सम्बन्ध से मन ज्ञाता कैसे ?

२ 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४। ४। १) इस श्रुति में जीव को विज्ञानमय कहा है, इसलिए जीव चेतन है और 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार प्राणिमात्र को अपने चैतन्य का प्रत्यक्ष भी होता है।

शङ्का—उक्त श्रुति और प्रत्यक्ष से जीव में चेतनत्व सिद्ध होता है और 'रूपं रूपम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति आदि प्रमाणों से जीव की प्रतिबिम्बता सिद्ध होती है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। जीव चेतन है तो प्रतिबिम्ब नहीं, प्रतिबिम्ब है तो चेतन नहीं, इसलिए यह उभयतःपाशा रज्जु है।

उत्तर—प्रतिबिम्बवादियों के मत में प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं होता, इसलिए चेतन का प्रतिबिम्ब जीव चेतन ही है, अचेतन नहीं। आभासवादियों के मत में तो यद्यपि प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न है, परन्तु शुक्ति-रजत की तरह प्रातिभासिक अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब की वे उत्पत्ति मानते हैं। उसकी उत्पत्ति में बिम्ब और अविद्या दोनों उपादान

इसलिए[1] यह सिद्ध हो गया कि अन्तःकरण प्रतिबिम्बाध्यास द्वारा प्रमाता है।

नन्वध्यासोऽपि नोपपद्येत। तथा[2] हि, आत्मनि वा अनात्माऽध्यस्यते, अनात्मनि वाऽऽत्मा। नाद्यः, तस्य निस्सामान्यविशेषत्वेन सर्वदा भासमानत्वेन सादृश्यादिरहितत्वेन चाधिष्ठानत्वासम्भवात्। नापि द्वितीयः, तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। मिथ्यावस्तुनोऽधिष्ठानत्वे शून्यवादप्रसङ्गात्, तस्य[3] च सत्यत्वे तदनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। न हि सत्यं क्वचिन्निवर्तते। निवर्त्यमानं वा ज्ञानेन।

कारण हैं, इसलिए प्रतिबिम्ब के साथ बिम्ब के चैतन्य के सम्बन्ध का सम्भव है। इस रीति से जैसे चित्र में स्थित सूर्य निस्तेज दीखता है, वैसे जल में निस्तेज नहीं दीखता, वैसे ही जलगत सूर्य-प्रतिबिम्ब की तरह चेतन का प्रतिबिम्ब जीव भी अचेतन नहीं है। प्रथम मत में प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन है, द्वितीय मत में चेतन और अचेतन दोनों से विलक्षण है, इसलिए अचेतन से विलक्षणता दोनों के मत में सिद्ध है।

१ 'प्रतिबिम्बाध्यासद्वारा' का द्वन्द्वसमास करने से अर्थ होता है—प्रतिबिम्ब और अध्यास के द्वारा अन्तःकरण में चेतन का प्रतिबिम्ब होता है, इसलिए प्रतिबिम्ब द्वारा अन्तःकरण प्रमाता है। आत्मा (चित्), अनात्मा (अन्तःकरण) इन दोनों की एकता के अध्यास से भी अन्तःकरण प्रमाता है। अध्यास के द्वारा अन्तःकरण के प्रमातृत्व का आक्षेप करते हैं—'नन्वध्यासोऽपि' यहाँसे लेकर 'सौगतमतापत्तिः' एतत्पर्यन्त ग्रन्थ से।

२ ऐक्यवादी सिद्धान्ती के मत में आत्म-अनात्मरूपद्वय सत्य नहीं है। उन दोनों में से एकका आरोप अवश्य मानना होगा। वह आरोप दो प्रकार से होता है, इस आशय से विकल्प करते हैं—'तथाहि' इति।

३ प्रकाश और अन्धकार की सन्धि में विद्यमान शुक्ति जब रजतरूप से प्रतीत होती है, उस समय अधिष्ठानरूप शुक्ति जड़ होने से परप्रकाश्य है। वह प्रकाश के सम्बन्ध से 'इदन्त्व' अथवा द्रव्यत्व अथवा रजतसदृश चाकचिक्य आदि सामान्यरूप से प्रतीत होती है। अन्धकार का भी सम्बन्ध है, इसलिए शुक्तित्व अथवा नीलपृष्ठत्रिकोणत्व आदि विशेषरूप से वह नहीं प्रतीत होती। दूर देश में विद्यमान शुक्ति तो अन्धकार का अभाव होने पर भी दूरत्वदोष के वश से विशेषरूप से नहीं प्रतीत होती, इसलिए उस स्थल में रजत का आरोप हो सकता है। समीप में और स्पष्ट प्रकाश में विद्यमान शुक्ति तो शुक्तित्व आदि विशेषरूप से भी प्रतीत होती है, इसलिए वहाँपर रजत का आरोप नहीं होता। वैसे ही गाढ़ अन्धकार में विद्यमान शुक्ति सामान्यरूप से भी नहीं प्रतीत होती, वहाँपर भी रजत का आरोप नहीं होता। इसलिए सर्वत्र भ्रमस्थल में अधिष्ठान सामान्य-विशेष धर्म का आश्रय और परप्रकाश्य तथा आरोप्य वस्तु के सदृश

शङ्का—अध्यास भी तो नहीं वन सकता, क्योंकि आत्मा में अनात्मा का अध्यास करते हो या अनात्मा में आत्मा का? पहला पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा सामान्य-विशेष-शून्य है, सर्वदा भासमान है, सादृश्य आदि से रहित है; इसलिए आत्मा अधिष्ठान नहीं हो सकता। अब रहा दूसरा पक्ष, सो भी नहीं वन सकता, क्योंकि अनात्मा[1] को मिथ्या माना है। यदि मिथ्या[2] वस्तु को अधिष्ठान माना जाय तो शून्यवाद का प्रसङ्ग हो जायगा। यदि अनात्मा को सत्य मानो तो अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग हो जायगा, अर्थात् मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि सत्य वस्तु की कभी निवृत्ति ही नहीं[3] होती, जिसकी ज्ञान से निवृत्ति होती है, वह सत्य[4] ही नहीं है।

होना चाहिये। आत्मा तो निर्धर्मक है, स्वप्रकाश है, किसीके भी सदृश नहीं है, इसलिए आत्मा में अनात्मा अन्तःकरणादि का आरोप नहीं हो सकता।

१ अनात्मा अन्तःकरणादि को अद्वैतवादी मिथ्या मानते हैं, मिथ्या वस्तु भ्रम का अधिष्ठान नहीं होती। मिथ्या शुक्ति में कभी रजत का भ्रम नहीं होता।

पूर्वपक्षी—प्रातिभासिक सर्प में भी वर्णविशेष का आरोप देखा जाता है, उसी प्रकार अनात्मा में भी आत्मा का अध्यास हो सकता है, ऐसा मानने में क्या हानि है?

२ सिद्धान्ती—जैसे अन्धकार का अपसरण होने पर मिथ्याभूत सर्प और उसमें आरोपित वर्णविशेष दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही मोक्षकाल में मूल अविद्या का अपसरण होने पर मिथ्याभूत अनात्मवस्तु और उसमें आरोपित आत्मा दोनों ही निवृत्त हो जायँगे। इस प्रकार शून्यवाद का प्रसङ्ग होगा। यदि इस दोष के परिहार के लिए अनात्मभूत अन्तःकरणादिकों को सत्य मानोगे, तो सिद्धान्ती कहता है 'तस्य चेति'।

३ सत्य वस्तु का कभी भी किसी प्रकार नाश नहीं होता, अतः सत्य अन्तःकरणादि प्रपञ्च की निवृत्ति न होने से मोक्ष का असम्भव हो जायगा, क्योंकि मोक्ष-अवस्था में द्वैत के भान का तुम्हें अङ्गीकार नहीं है।

४ सत्य वस्तु कालत्रयाऽवाध्य हुआ करती है।

पूर्वपक्षी—जैसे वैशेषिकमत में सत्य घट का दण्ड से नाश देखा जाता है, वैसे ही सत्य अन्तःकरण का भी मोक्ष-अवस्था में नाश हो सकता है।

सिद्धान्ती—जैसे घट के विनाश का कारण दण्ड है, वैसे ही सत्य अन्तःकरणादि द्वैत-प्रपञ्च के नाश का कारण कौन है? उसका नाशक ज्ञान कहोगे, तो अत्यन्त अपरिदृष्ट कल्पना होगी। सत्य वस्तु का कभी भी ज्ञान से नाश नहीं देखा जाता। जिसका ज्ञान से नाश होता है वे शुक्ति-रजतादि कभी सत्य नहीं देखे गये हैं। यदि कहो कि ज्ञान से अन्य कोई विनाश का कारण है, तो वह कौन है? यदि कहो आत्मा है, तो इस पक्ष में आत्मा अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा से सत्य अनात्माओं का विनाश कैसे हो सकता है? और इस द्वितीय पक्ष में तत्त्वज्ञान से मोक्षसिद्धि की प्रतिपादक श्रुतियों का भी विरोध है।

श्रुतयश्च—

'भिद्यते[1] हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' (मु० २ । २ । ८)

'तमेव[2] विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८)

'तरति[3] शोकमात्मवित्' (७ । १ । ३)

इत्याद्या ज्ञानात् सर्वसंसारनिवृत्तिं दर्शयन्त्यस्तस्य मिथ्यात्वं सूचयन्ति । 'एकमेवाद्वितीयम्'[4] (छा० ६ । २ । १) 'अतोऽन्यदार्तम्'[5] (बृ० ३ । ४ । २) 'नेह[6] नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४ । ४ । १९) 'अथात[7] आदेशो नेति

---

१ श्रुत्यर्थ—पर (प्रकृष्ट) सर्वप्रपञ्च का अधिष्ठान सूक्ष्म ही स्थूल प्रपञ्चरूप से प्रतीत होता हुआ अवर हो जाता है, उस ब्रह्म का दर्शन होने पर अर्थात् 'वह परब्रह्म साक्षात् मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर बुद्धि में रहनेवाली हृदयग्रन्थि (अविद्यावासनापुञ्ज) नष्ट हो जाती है । गङ्गा के प्रवाह की तरह मरणपर्यन्त हृदय में सञ्चार करनेवाले सब संशय कट जाते और सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

२ श्रुत्यर्थ—उस परमात्मा के ही ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण (मोक्ष) होता है । ज्ञान के सिवा मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है ।

३ श्रुत्यर्थ—आत्मज्ञानी शोक को तैर जाता है (मुक्त हो जाता है) । इन श्रुतियों में 'तस्मिन् दृष्टे, तमेव विदित्वा, आत्मवित्' इत्यादि पदों से आत्मज्ञान का अनुवाद करके हृदयग्रन्थिभेद, संशयच्छेद, कर्मक्षय, मृत्यूल्लंघन और शोकतरणादि का विधान है और वह संसार की निवृत्ति के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि संसार के होते हुए हृदयग्रन्थिभेदादि का असम्भव है । आत्मज्ञान से उत्पन्न होनेवाली संसारनिवृत्ति तो संसार के मिथ्या होने पर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं । क्योंकि सत्य की ज्ञान से निवृत्ति नहीं हुआ करती, यह अभी कहा है । इसलिए इन श्रुतियों से संसार मिथ्या सूचित होता है । वादबुद्धि के विषय को मिथ्या कहते हैं । अब साक्षात् मिथ्यात्वप्रतिपादक श्रुतियाँ दिखाते हैं ।

४ पुरोदृश्यमान यह सब जगत् उत्पत्ति से पहले एक ही था, किञ्चिन्मात्र भी इसमें द्वितीय नहीं था ।

५ इस आत्मा से भिन्न सब पदार्थ आर्त (विनाशी) हैं ।

६ मन से द्रष्टव्य इस ब्रह्म में कुछ भी अनेक नहीं है ।

७ 'वह ब्रह्म सत्य का सत्य है' इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करके इसके अनन्तर श्रुति ने कहा है । यतः सत्य का सत्य ही शेष रह जाता है, इसलिए उस ब्रह्म का

नेति' (बृ० २ । ३ । ६) इत्याद्याः श्रुतयः साक्षादेव मिथ्यात्वं प्रतिपादयन्ति । दृश्यत्वेन[1] शुक्तिरजतादिवन्मिथ्यात्वानुमानाच्च ।

'भिद्यते हृदय०' 'तमेव' विदित्वा' 'तरति शोक०' इत्यादि श्रुतियाँ ज्ञान से सकल संसार की निवृत्ति को दिखाती हुईं संसार को मिथ्या सिद्ध करती हैं । 'एकमेवाद्वितीयम्', 'अतोऽन्यदार्तम्','नेह नानास्ति०','अथात आदेशो नेति०' इत्यादि श्रुतियाँ साक्षात् उसके मिथ्यात्व का प्रतिपादन करती हैं । दृश्यत्व-हेतु से शुक्ति-रजत आदि के समान अनात्मा के मिथ्यात्व का अनुमान भी हो सकता है ।

आत्मन्यध्यस्ततयैवानात्मनि सिद्धे तत्रात्माध्यासः । अनात्माध्यासेन चात्मनो दोषसाद्दृश्यादिसंभवात्तत्रानात्माध्यास इत्यात्माश्रयाद्यन्यतमदोष-प्रसङ्गाच्च । एतेनात्मानात्माध्यासस्य आविद्यकत्वात् न विकल्पावसर इत्यपास्तम्, स्वप्रकाशात्मनि विद्याया अप्यनुपपत्तेः । तथाहि—सा अध्यस्ता अन-

---

उपदेश 'नेति-नेति' है । यहाँ दो 'इति' शब्दों से पुरोदृश्यमान सब जगत् का ग्रहण होता है । उसके साथ दो नकारों का सम्बन्ध होने से नेति-नेति का अर्थ होता है—जो-जो वस्तु प्राप्त होती है, उसका निषेध करना ही ब्रह्म का दर्शन है । अर्थात् सब वृत्तियों का निषेध करने से जो शेष रहता है, वही सत्य (मोक्षपर्यन्त रहनेवाला लिङ्ग-शरीर) का सत्य ब्रह्म है । इन श्रुतियों में न-शब्द से और आर्त-शब्द से आत्मभिन्न सब वस्तुओं का स्पष्ट प्रतिपादन किया है ।

१ अनुमान का स्वरूप—घट, पट आदि जगत् मिथ्या है, दृश्य होने से, प्रातिभासिक रजत की तरह । इस प्रकार अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग के आपादन से, मिथ्यात्वसूचक श्रुतियों के विरोध के उद्भावन से, साक्षात् मिथ्यात्वप्रतिपादक श्रुतियों के विरोध के उद्भावन से और अनुमान से अनात्मा के सत्यत्व को दूषित करके अनात्मा में आत्माध्यास होता है । इस द्वितीय पक्ष में शून्यवादप्रसङ्गरूपी दोष का समर्थन हुआ ।

पूर्वपक्षी—अनात्मा मिथ्या हो, तथापि वह शशशृङ्ग की तरह अत्यन्त असत् नहीं है, क्योंकि तुम प्रातिभासिक को मिथ्या कहते हो । वैसे प्रातिभासिक अनात्मा का जो भी अधिष्ठान होगा, वह सत्य होगा । इसलिए शून्यवाद का प्रसङ्ग नहीं है । जैसे प्रातिभासिक मृगजल में चलन, वहन आदि क्रियाओं का आरोप किया जाता है, वहाँपर तत्त्वज्ञान से जब चलन, वहन आदि क्रियाओं का नाश होता है, उसी समय उनके अधिष्ठान प्रातिभासिक जल का यद्यपि विनाश हो जाता है, तथापि उस आरोपित जल का अधिष्ठानभूत ऊसर तो शेष रह ही जाता है । इसी प्रकार सब अनात्माओं का नाश होने पर सत्य आत्मवस्तु शेष रहेगी ? ऐसी शङ्का होने पर सिद्धान्ती कहता है ।

ध्यस्ता वा। तत्राद्ये कथं नात्माश्रयाद्यन्यतमदोषप्रसङ्गः। अन्त्ये तस्या अनुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। सर्वस्याध्यासमूलत्वे भ्रमप्रमादिव्यवस्था च न स्यात्। एकस्यैवात्मनः प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रमातृरूपता च विरुद्धा। अविरोधाभ्युपगमे वा सौगतमतापत्तिरिति।

आत्मा[1] में अध्यस्त होने के कारण ही अनात्मा सिद्ध है, उसमें (अनात्मा में) आत्मा का अध्यास कैसे? आत्मा में जो अनात्मा[2] का अध्यास आप मानते हैं

---

१ सिद्धान्ती—आत्माध्यास के अधिष्ठान के लिए जो अनात्म-वस्तु होगी, वह भी अध्यास ही से सिद्ध होगी। उसके अध्यास की अनात्म' से भिन्न आत्मरूप वस्तु में ही कल्पना करनी होगी। स्व का स्व में अध्यास सम्भव नहीं है, इसलिए आत्माश्रय दोष होगा; अतः कहते हैं—'अनात्मा' इति।

२ आत्मा में जो अनात्मा का अध्यास है, वह सम्भव नहीं है; क्योंकि आत्मा में दोष-साद्दश्यादि दोषों का सम्भव नहीं है, यह अभी कहा है। इसलिए अध्यास की सिद्धि के लिए अनात्माध्यास ही से अधिष्ठान आत्मा में मलिनता का सम्पादन करना होगा। इस दशा में अनात्माध्यास से आत्मा में मलिनता और उस मलिनता से अनात्माध्यास—इस प्रकार आत्माश्रय दोष होता है। अथवा आत्मा में अनात्माध्यास की सिद्धि के लिए आत्मा में दोषसाद्दश्यादि का अध्यास मानना होगा। यह दोषसाद्दश्यादि का अध्यास भी अनात्माध्यास ही है, क्योंकि दोषसाद्दश्यादि आत्मा से भिन्न हैं। ऐसी दशा में अनात्माध्यास को अनात्माध्यास की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष है। यदि कहें कि आत्मा में अध्यस्त अन्तःकरणादि भी अनात्मा हैं और दोषसाद्दश्यादि भी अनात्मा हैं, तथापि अनात्मव्यक्ति के भेद से आत्माश्रय दोष नहीं है। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि दोषसाद्दश्याध्यास भी स्वच्छ आत्मा में नहीं हो सकता; इसलिए आत्मा में मलिनता के सम्पादन के लिए दोषसाद्दश्याध्यास की अवश्य अपेक्षा होगी। इसलिए आत्माश्रय दोष तदवस्थ है। यदि कहें कि आत्मा में अनात्म अन्तःकरणादि के अध्यास के लिए जिन प्रथम दोषसाद्दश्यादि का अध्यास किया है, वे ही प्राथमिक दोषसाद्दश्यादि अध्यास के उपपादक नहीं हैं, जिससे आत्माश्रय दोष हो, किन्तु प्राथमिक दोषसाद्दश्यों से भिन्न ये द्वितीय दोषसाद्दश्यादि अन्य ही हैं। तथापि इस द्वितीय दोषसाद्दश्यादि के अध्यास की सिद्धि के लिए तृतीय की कल्पना करनी होगी। वह तृतीय भी प्राथमिकों की अपेक्षा अभिन्न है अथवा भिन्न? प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष है। द्वितीय पक्ष में तृतीयाध्यास की सिद्धि के लिए चतुर्थ की कल्पना करनी होगी। वह चतुर्थ भी प्राथमिकों की अपेक्षा अभिन्न है अथवा भिन्न? प्रथम पक्ष में चक्रक दोष है। द्वितीय पक्ष में उनके लिए पञ्चम, पञ्चम के लिए षष्ठ की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष होता है।

वह आत्मा में दोषसादृश्य आदि के न होने से उपपन्न नहीं हो सकता, उसकी उपपत्ति के लिए अनात्माध्यास स्वयं अपने अधिष्ठान को मलिन करता है। ऐसी दशा में अनात्माध्यास को अन्य अनात्माध्यास की अपेक्षा स्पष्ट है, अतः आत्माश्रय दोष हुआ। इससे[1] आत्मा में जो अनात्मा का अध्यास है, वह आविद्यक है, इसलिए यहाँपर विकल्प का अवसर नहीं है, ऐसा कहनेवाले अद्वैतवादी की उक्ति का निराकरण हो गया। क्योंकि स्वप्रकाश[2] आत्मा में अविद्या की भी उपपत्ति नहीं हो सकती। तथाहि—अविद्या अध्यस्ता है या अनध्यस्ता? प्रथम पक्ष में आत्माश्रयादि दोषों का प्रसङ्ग क्यों[3] न होगा।

---

१ दोनों प्रकार के अध्यास का असम्भव होने से। इसपर सिद्धान्ती कहते हैं, आत्मा में अनात्माध्यास आविद्यक है, इसलिए विकल्प का अवसर नहीं है। उसका भाव यह है कि अध्यास अविद्या का परिणाम है, अविद्या स्वयं अनिर्वचनीया है। उसका किसी रूप से निर्वचन नहीं हो सकता। उसका स्वरूप ही ऐसा है। जब अविद्या अनिर्वचनीया है, तो उसके कार्य अध्यास का भी निर्वचन नहीं हो सकता। जिस अर्थ का निर्वचन हो सकता हो, उसीके विषय में ईदृश (ऐसा)-तादृश (वैसा) यह विकल्प युक्त है, अनिर्वचनीय में नहीं। तथा च आत्मा में अनात्मा का अध्यास है अथवा अनात्मा में आत्मा का अध्यास? इत्यादि विकल्प का अनिर्वचनीय अध्यास में अवकाश ही नहीं है।

पूर्वपक्षी—जिस अर्थ का सम्भव न हो सके, उसमें स्वभाववाद का अङ्गीकार करके समाधान करना उचित नहीं है। इसलिए अद्वैतवादी की यह युक्ति समीचीन नहीं है कि आविद्यक पदार्थों में विकल्प का अवसर नहीं। यह विचार अविद्या की सिद्धि के उत्तरकाल में हो सकता है। वह अविद्या ही सिद्ध नहीं हो सकती।

२ स्वप्रकाश आत्मा में सूर्य में अन्धकार के सम्बन्ध की तरह अविद्या का सम्बन्ध अयुक्त है।

३ स्वप्रकाश आत्मा के प्रकाश का जबतक थोड़ा भी तिरोधान न हो, तबतक अविद्या का अध्यास नहीं हो सकता, क्योंकि स्पष्ट आलोक में पूर्ण रीति से प्रकाशमान शुक्ति में रजत का अध्यास नहीं होता। प्रकाश का तिरोधान अविद्याध्यास से ही करना होगा। इसलिए अविद्याध्यास को अविद्याध्यास की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष है। यदि अन्तःकरणादि के अध्यास के कारणभूत अविद्या से भिन्न द्वितीया अविद्या प्रकाश का तिरोधान करनेवाली है—ऐसा कहा जाय, तो उस द्वितीया अविद्या के अध्यास के लिए प्रकाश का तिरोधान जिस अविद्या के अध्यास से होता है, वह अविद्या द्वितीया अविद्यास्वरूपा है अथवा प्रथमा अविद्यास्वरूपा अथवा उन दोनों से भिन्न तृतीया है—ये तीन कल्प हो सकते हैं। आद्य कल्प में आत्माश्रय, द्वितीय कल्प में अन्योन्याश्रय, तृतीय कल्प में उस तृतीया अविद्या के अध्यास के लिए प्रकाश का तिरोधान जिस अविद्या के अध्यास से होता है, वह अविद्या

द्वितीय[1] पक्ष में उसका कभी नाश न होने से अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग हो जायगा। यदि सभी[2] पदार्थों को अध्यासमूलक ही मानो, तो भ्रम, प्रमा आदि की व्यवस्था न बनेगी। एक ही आत्मा को प्रमाण, प्रमेय, प्रमा और प्रमाता मानना भी विरुद्ध[3] है। यदि कहो कि हम विरोध[4] नहीं मानते, तो बौद्धमत[5] में और आपके मत में कोई भेद नहीं रह जायगा।

अत्रोच्यते—'अहं मनुष्यः कर्ता भोक्ते'त्यादिप्रतीतिस्तावत्सर्वजनप्रसिद्धा। सा च न स्मृतिः, अपरोक्षावभासत्वाद् भेदाग्रहपूर्वकत्वाच्च। नापि प्रमा, श्रुतियुक्तिबाधितत्वात्।

क्या तृतीया अविद्यास्वरूपा है, अथवा द्वितीया अविद्यास्वरूपा है, अथवा प्रथमा अविद्यास्वरूपा है, अथवा इन तीनों अविद्याओं से भिन्न चतुर्थी है—ये चार कल्प हो सकते हैं। आद्य कल्प में आत्माश्रय, द्वितीय में अन्योऽन्याश्रय, तृतीय में चक्रक, और चतुर्थ कल्प में उस चतुर्थ अविद्या के अध्यास के लिए प्रकाश-तिरोधान किसी अन्य अविद्या से, उसका भी किसी अन्य अविद्या से, ऐसी अनवस्था दुर्धर हो जायगी।

१ यदि अविद्या अध्यस्त न हो, तो आत्मा की तरह वह पारमार्थिक सत्य होगी। पारमार्थिक सत्य वस्तु का तत्त्वज्ञान से भी नाश नहीं हुआ करता, इसलिए अनध्यस्तत्वपक्ष में मोक्ष का असम्भव है, यह आशय है।

२ सत्य शुक्ति का ज्ञान प्रमा, उसी शुक्ति में असत्य रजत का ज्ञान भ्रम—यह व्यवस्था लोक में देखी जाती है। यदि सम्पूर्ण जगत् को अविद्याध्यासमूलक मानोगे, तो रजत की तरह शुक्ति भी असत्य ही सिद्ध होगी। ऐसी दशा में यह ज्ञान यथार्थ है, यह अयथार्थ है—ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती।

३ क्रिया ही कारक नहीं हुआ करती। द्वैतवादी तार्किकों के मत में प्रमिति ज्ञानविशेष है और ज्ञान मानसी क्रिया है। ज्ञान के साधन इन्द्रियादि प्रमाण हैं। ज्ञान के विषय शब्द, स्पर्शादि प्रमेय हैं। ज्ञान का आश्रय आत्मा प्रमाता है। अद्वैतवादियों के मत में तो एक ही चैतन्य प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति है—यह विरुद्ध है।

४ एक ही चैतन्य में औपाधिक भेद की कल्पना करके विरोध नहीं हो सकता, ऐसा कहें तो 'सौगतमतापत्तिः' होगी।

५ सौगत विज्ञानवादी बौद्ध को कहते हैं। उसके मत में आत्मा, मन, इन्द्रियाँ, विषय-सुख आदि सब पदार्थ ज्ञानस्वरूप ही हैं। ज्ञान से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं। इसलिए अद्वैतवादी का विज्ञानवादी बौद्ध के मत में प्रवेश हो जाता है। 'ननु अध्यासोऽपि नोपपद्यते' यहाँ से लेकर 'सौगतमतापत्तिः' एतद् ग्रन्थपर्यन्त सब पूर्वपक्ष ही कहे गये हैं। जहाँ कहीं

यहाँ[1] पर कहते हैं—मैं[2] मनुष्य हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ इत्यादि प्रतीति सर्वजन-प्रसिद्ध है। यह[3] प्रतीति स्मृति नहीं है, क्योंकि यह अपरोक्षज्ञानरूप[4] है और भेद के

सिद्धान्ती का कथन है, वह भी पूर्वपक्ष की पुष्टि के लिए ही कहा गया है। अब उन सब पूर्वपक्षों का समाधान करते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादि-ग्रन्थ से।

१ पूर्वपक्षी ने मायावाद को सहन न करते हुए अध्यास पर कतिपय आक्षेप किये हैं। आक्षेपरूप हेतु से अध्यास में विकल्पासहत्वप्रदर्शनपूर्वक असम्भवता दिखायी है। परन्तु आक्षेप का हेतु यह नहीं बतलाया कि अध्यास अनावश्यक है। तथाच यदि अध्यास की आवश्यकता सिद्ध कर दी जाय और पूर्वपक्षी भो उसको स्वीकार कर ले, उस दशा में अध्यास में जो असम्भवता दोष है, उसका निराकरण पूर्वपक्षी को भी करना ही पड़ेगा—यह विचार करके सिद्धान्ती पहले अध्यास की आवश्यकता सिद्ध करता है।

२ 'अहं मनुष्यः'—मैं मनुष्य हूँ, कर्त्ता, भोक्ता हूँ इत्यादि प्रतीति सब ज्ञानी पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है; वह भ्रमरूप है, यह दिखाते हैं। जब उसका भ्रमत्व सिद्ध हो जायगा, तो अध्यास के विना भ्रम नहीं हुआ करता, इसलिए पूर्वपक्षी के गले में भी अध्यास बलात् पतित हो जायगा। अन्यथानुपपत्ति (और किसी प्रकार से इसके न बनने) से जहाँ वस्तु की सिद्धि किया करते हैं, वहाँपर अन्य बहुत से विरुद्ध प्रमाणों का भी अन्यथानुपपत्ति ही निरास कर दिया करती है, जैसा कि कहा है—

'अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्ट्यदृष्टिवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका॥'

अदृष्टिवैमत्यम्—अन्यत्र कहीं भी अदर्शन से होनेवाली विपरीत बुद्धि। अर्थात् जैसे अन्यथानुपपत्ति बलवती होने से अन्यत्र कहीं भी अदर्शनरूपी विरुद्ध हेतु को दूर करके वस्तु को सिद्ध करती है, वैसे ही यहाँ भी अध्यास के विना भ्रम की अनुपपत्ति विकल्पासहत्व आदि दोषों को दूर करके अध्यास को सिद्ध कर ही देगी।

३ स्मृति और अनुभवभेद से ज्ञान दो प्रकार का है। अनुभव भी प्रमा और भ्रम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ पर 'अहं मनुष्यः कर्त्ता भोक्ता' इस ज्ञान में भ्रमता सिद्ध करना है, इसलिए यह ज्ञान स्मृति भी नहीं है, प्रमा भी नहीं है, यह पहले सिद्ध करना होगा। इसलिए यह ज्ञान स्मृति नहीं है यह सिद्ध करते हैं।

४ 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान प्रत्यक्षरूप है। यद्यपि परोक्ष और अपरोक्षभेद से अनुभवरूप ज्ञान दो प्रकार का होता है, तथापि स्मृतिरूप ज्ञान परोक्षरूप ही हुआ करता है—यह नियम है। 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान परोक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है। किंच, सत्य रजत और मिथ्या रजत में जो 'इदं रजतम्' यह प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्ष में पुरोऽवस्थित वस्तु में रजत के भेद का अज्ञान कारण है। सत्य रजत में रजत

अज्ञानपूर्वक है। उक्त प्रतीति प्रमा भी नहीं[1] है, क्योंकि श्रुति, स्मृति और युक्तियों से इसका बाध है।

तथा[2] च श्रुतयः—'यो[3]ऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः[4] पुरुषः' (बृ० ४। ३। ७), 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २ । ५ । १९)। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २। १। १), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३। ९। २८), 'य आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८। ७। १) 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म। य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३। ४। १), 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३। ५। १)। 'स यत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४। ३। १५) इत्याद्या अकर्तृ-भोक्तृपरमानन्दब्रह्मरूपतामात्मनो दर्शयन्ति।

का भेद है ही नहीं, इसलिए उसका अज्ञान है। मिथ्या रजत में तो रजतभेद है, परन्तु इन्द्रिय के दोष से उसका अज्ञान है। इसलिए प्रत्यक्ष में सर्वत्र भेदाग्रह को कारणता है। प्रकृत में 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान प्रत्यक्ष है। स्मृति में तो कहीं भी भेद के अज्ञान को कारणता नहीं है। इसलिए 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान स्मृति नहीं है, यह अर्थ है। अब प्रमात्व का निषेध करते हैं।

१ आत्मा में भौतिक शरीरविशेषरूप मनुष्यत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व श्रुति और युक्ति से बाधित है।

२ इसका 'अकर्तृभोक्तृब्रह्मरूपतामात्मनो दर्शयन्ति' इसके साथ अन्वय करना (क्योंकि इन श्रुतियों में जीवात्मा अकर्ता, अभोक्ता ब्रह्मरूप कहा जाता है, इसलिए 'अहं मनुष्यः कर्ता भोक्ता' इस प्रकार जीवात्मा में जो मनुष्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रतीत होता है) मिथ्या ही है—यह सिद्ध होता है।

३ 'कतमः आत्मा ?' जनक के इस प्रश्न का यह उत्तर है। प्राणों के मध्य जो ज्ञानस्वरूप है, वह आत्मा है, मनुष्यत्वादि धर्मविशिष्ट भौतिक देह आत्मा नहीं है।

४ 'हृत्' अन्तःकरण का नाम है। वह अन्तःकरण लौकिकज्ञानकाल में विषयाकार परिणाम को प्राप्त होकर विषय का प्रकाश करता है। आत्मा तो उस विषयप्रकाशक अन्तःकरण का अन्तर्ज्योति (अन्दर प्रकाशनशक्ति का दाता) है, इसलिए आत्मा सबका प्रकाशक ही है, किसीसे प्रकाश्य नहीं है, इसीलिए भौतिक जडदेहरूप नहीं है।

'योऽयं वि०', 'अयमात्मा०[1]', 'सत्यं ज्ञानम०', विज्ञानमानन्दं', 'य[2] आत्मापहतपाप्मा०','यत्साक्षादपरोक्षाद्[3] ब्रह्म०' 'योऽशनायापि०'[4] 'स यत्र'[5] इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द ब्रह्मरूप बताती हैं।

---

१ यह जीवात्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है और ब्रह्म के स्वरूप का 'सत्यं ज्ञानम्' इस श्रुति में और 'विज्ञानमानन्दम्' इस श्रुति में वर्णन किया है। ब्रह्म सत्य है अर्थात् मिथ्या नहीं है; ज्ञान है, जड़ नहीं; अनन्त है, विनाशी नहीं; आनन्दरूप है, कभी भी दुःखी नहीं—यह इन दोनों श्रुतियों का अर्थ है। अतः मिथ्याभूत, जड़, विनाशी और दुःखी देह ब्रह्मरूप नहीं है। इसीलिए वह आत्मा भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और आत्मा में भेद ही नहीं है।

२ पातकवाची 'पाप' शब्द पुण्य का भी उपलक्षण है। आत्मा में पुण्य-पाप के न होने से कर्तृत्व का निषेध हो गया, क्योंकि पुण्य-पाप के बिना कर्तृत्व नहीं हुआ करता। कर्तृत्व के अभाव से भोक्तृत्व का भी निषेध हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती और भोग के पुण्य-पाप कारण हैं।

३ 'अपरोक्षात्' इसका अर्थ है—अपरोक्ष (प्रत्यक्ष)। लोक में जो घट-पट आदि पदार्थ प्रत्यक्ष कहे जाते हैं, वे स्वरूप से प्रत्यक्ष नही हैं, क्योंकि जड़ और अप्रकाश हैं, किन्तु चेतन के तादात्म्य से उनका प्रत्यक्ष होता है, इसलिए घट-पटादि पदार्थ साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु चेतन के द्वारा परम्परया प्रत्यक्ष हैं। ब्रह्म तो साक्षात् प्रत्यक्ष है, यह अर्थ है। 'सर्वान्तरः' इस श्रुति में सर्वशब्द बिना सङ्कोच के प्रवृत्त हुआ है, इसलिए लोक में आन्तरत्वेन प्रसिद्ध जो अन्तःकरणादि पदार्थ हैं, उनका भी आत्मा आन्तर है—यह सिद्ध होता है। साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप और सबका आन्तर जो आत्मा है, वह तू मुझे बतला—यह श्रुति का अर्थ है। इसलिए घट आदि की तरह जड़ होने, अन्य द्वारा प्रत्यक्ष होने और अन्तःकरणादि से बाह्य होने के कारण मनुष्यत्वादि धर्मविशिष्ट देह आत्मा नहीं है—यह सिद्ध हो गया।

४ अशनाया (भूख) और पिपासा (तृषा) दोनों प्राण के धर्म हैं। शोक और मोह अन्तःकरण के धर्म हैं। जरा और मृत्यु देह के धर्म हैं। आत्मा में भूख-प्यास नहीं, इसलिए वह प्राण नहीं। शोक-मोह नहीं, इसलिए वह अन्तःकरण नहीं। आत्मा में जरा और मृत्यु नहीं, इसलिए वह देह नहीं।

५ वह आत्मा स्वप्न में जिन अश्व-गजादि को देखता है, उनके साथ उसका वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष आत्मा असङ्ग (सम्बन्धसामान्यरहित) है। इससे आत्मा में कर्तृत्व का निषेध हो गया, क्योंकि कर्तृत्व क्रिया के सम्बन्ध के अधीन है, आत्मा सब सम्बन्धों से रहित है। कर्तृत्व का निरास होने पर भोक्तृत्व का निरास हो गया।

युक्तयश्च—विकारिणः परिच्छिन्नत्वेन अनात्मत्वापत्तेः, स्वेनैव स्वस्य ग्रहणे कर्तृकर्मभावविरोधाद् दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः, भेदेनाभेदेन वा धर्मिधर्मभावानुपपत्तेश्च।

युक्तियाँ[1] ये हैं—

'अहं मनुष्यः' ऐसी प्रतीति को यदि प्रमा मानो, तो देहविशेषरूप जो मनुष्य है, उसीको आत्मा मानना पड़ेगा। देह विकारी[2] होने से परिच्छिन्न है। अतः उसमें घट, पट आदि के समान अनात्मत्व की आपत्ति है। 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीति का साक्षी देहात्मवादी के मत में देह ही होगी। अतः अपने[3] से अपना ग्रहण भी नहीं

---

१ 'सुखात्मक एवात्मेत्याद्याः' इसके साथ इसका अन्वय करना चाहिए। ये युक्तियाँ आत्मा अकर्त्ता, अभोक्ता, परमानन्द ब्रह्मस्वरूप है—यह सिद्ध करती हैं। 'युक्ति' शब्द का अर्थ अनुमान और अनुकूल तर्क है।

२ 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति यदि प्रमा हो, तो देहविशेषरूप मनुष्य को आत्मा मानना पड़ेगा—यह सम्भव नहीं, क्योंकि देह विकारी है। जो विकारी होता है वह परिच्छिन्न हुआ करता है, क्योंकि विकारी का विनाश आवश्यक है। जिसका विनाश होता है, वह काल से परिच्छिन्न हुआ करता है। किंच, वृद्धिक्षयरूप विकार व्यापक के नहीं हुआ करते, इसलिए देह को अव्यापक कहना होगा। और देह की अव्यापकता का अनुभव भी होता है, इसलिए देह में देशपरिच्छेद है ही। घटादि भिन्न वस्तुओं का भी देह में भेद है, इसलिए देह में वस्तुपरिच्छेद भी है। जो परिच्छिन्न होता है, वह आत्मा नहीं हुआ करता। इसलिए ऐसा अनुमान करना चाहिए—'देह आत्मा नहीं है, घटादिकों की तरह परिच्छिन्न होने से।' यहाँ पर देहात्मवादी चार्वाक की शङ्का है कि आत्मा परिच्छिन्न ही है, और देह ही आत्मा है। जो तुमने अनुमान किया वह अनुमान तो 'अहं मनुष्यः', 'अहं गौरः' इत्यादि प्रतीति के विरुद्ध होने से बाधित है—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि देह को आत्मा मानने पर कृतनाश और अकृताभ्यागमरूप दो दोषों की प्राप्ति है। स्वभाववाद से समाधान तो मध्यस्थ पुरुष को सन्तोष देनेवाला नहीं होता। देह को आत्मा मानकर भी दोष कहते हैं।

३ देहात्मवादी के मत में 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीति का साक्षी भी देह ही को मानना होगा, क्योंकि उसके मत में देह से अतिरिक्त साक्षी का अङ्गीकार नहीं है। ऐसी दशा में देह ही द्रष्टा होगा और उसमें रहनेवाली दर्शनक्रिया का कर्म (दृश्य) भी देह ही होगा अर्थात् देह ही द्रष्टा और देह ही दृश्य होगा। सो सम्भव नहीं, क्योंकि दर्शन का कर्त्ता दर्शन का कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि स्वातन्त्र्येण विवक्षित अर्थ को कर्त्ता कहते हैं, अन्य कारक कर्त्ता के परतन्त्र हुआ करते हैं। स्वतन्त्ररूप और परतन्त्ररूप से एक देह की

हो सकता। देह को ही द्रष्टा और देह को ही दृश्य मानने से कर्ता और कर्म के परस्पर विरुद्ध होने से दर्शक और दृश्य सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं होता। ज्ञान का देह के साथ भेद[1] या अभेद से धर्मि-धर्मभाव भी नहीं बनेगा।

एक काल में विवक्षा नहीं हो सकती। यदि कहें, मनुष्यत्वादिधर्मविशिष्ट देह दृश्य है और केवल देह द्रष्टा है, इसलिए ये विरोध नहीं; यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दृशिक्रिया ज्ञानरूप है, उसका जड़ देह में सर्वथा असम्भव है।

१ भाव यह है कि देहात्मवादी के मत में दर्शनक्रिया आत्मस्वरूप तो हो नहीं सकती, क्योंकि विलक्षण है। दर्शनक्रिया अमूर्त्त और ज्ञानरूप मानसी क्रिया है। स्थूल देह मूर्त्त है। उस मूर्त्त देह के साथ अमूर्त्त दर्शनरूपी क्रिया का अभेद सम्बन्ध तो बन नहीं सकता। उन दोनों का कोई भेदरूप सम्बन्ध कहना होगा। संयोग तो दो द्रव्यों का ही हुआ करता है। दृशिक्रिया द्रव्य नहीं है, उसका देहरूपी द्रव्य के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि समवाय अथवा अन्य किसी सम्बन्ध की कल्पना करोगे, तो वह सम्बन्ध दर्शन क्रिया और देह इन दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है कि अभिन्न है? अभिन्न तो कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसी दशा में धर्मी से अभिन्न सम्बन्ध और सम्बन्ध से अभिन्न धर्म—इस प्रकार ज्ञान और देह इन दोनों धर्म और धर्मियों का भी अभेद ही कहना होगा। वह बन नहीं सकता, क्योंकि दर्शनरूप ज्ञान आन्तर अमूर्त्त है। देह बाह्य और मूर्त्त है। इसलिए उनका अभेद सम्भव नहीं है। यदि सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न है—इस दूसरे पक्ष का अङ्गीकार करें, तो इस पक्ष में भी जैसे सम्बन्धियों के परस्पर सम्बन्ध के लिए समवाय का अङ्गीकार किया है, वैसे ही सम्बन्धियों के साथ समवाय के सम्बन्ध के लिए भी अन्य समवाय-सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि पूर्वपक्षी कहें कि जैसे दीपक प्रकाशरूप होने से अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही समवाय-सम्बन्धरूप होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता, सो ठीक नहीं, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता है, क्योंकि दीप में तो यह प्रत्यक्ष से अनुभव होता है कि वह अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता। इसलिए 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' (जो दीखता है सो ठीक ही है) इस न्याय से दीपक में तो वैसा हो। किन्तु समवाय तो कहीं अन्यत्र दृष्ट नहीं है। उसकी तो तुम ही कल्पना करते हो। उसमें जैसे सम्बन्धियों को सम्बन्ध के लिए अपनेसे भिन्न समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा है, वैसे ही समवाय सम्बन्ध को भी सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध के लिए अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा है, यह दोष हो सकता है, इसलिए ज्ञान और आत्मा का धर्म-धर्मीभाव न भेद से सम्भव है और न अभेद से ही सम्भव है।

शङ्का—देहातिरिक्त आत्मवादी वेदान्ती के मत में भी ज्ञान और आत्मा का धर्म-धर्मी-भाव नहीं हो सकता, क्योंकि भेद से धर्म-धर्मी-भाव कहोगे तो तुम्हारा कहा हुआ ही अनवस्था दोष हो सकता है। अभेद तो सम्भव नहीं है, क्योंकि नित्य और अनित्य का अभेद

ज्ञानानित्यत्वपक्षे तत्तद्व्यक्तिभेदध्वंसप्रागभावसमवायज्ञानत्वजात्याद्यभ्युपगमे गौरवादेकत्वाभ्युपगमे चातिलाघवात् घटज्ञानं पटज्ञानमित्युपाधिभेदपुरस्कारेणैव ज्ञानभेदप्रतीतेः, स्वतस्तु ज्ञानं ज्ञानमित्येकरूपावगमात् तदुत्पत्तिविनाशप्रतीत्योश्च अवश्यकल्प्यविषयसम्बन्धविषयतयाप्युपपत्तेरुपाधिपरामर्शमन्तरेण स्वत एव घटाद् घटान्तरस्य भेदप्रतीतेस्तत्प्रतिबन्दिग्रहासम्भवादाकाशकालदिशामपि नानात्वापत्तेश्च, कर्तृत्वादेर्वास्तवत्वे अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, स्वप्रकाशानभ्युपगमे च जगदान्ध्यप्रसङ्गात्, परमप्रेमास्पदत्वेन च तस्यानन्दरूपत्वान्निर्धर्मकनित्यस्वप्रकाशसुखात्मक एवात्मेत्याद्याः।

ज्ञान[१] को अनित्य मानने में अनेक ज्ञान, उनका अन्योन्याभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, सब ज्ञानों में रहनेवाली एक ज्ञानत्व जाति और उसका ज्ञान के साथ समवाय इत्यादि के स्वीकार में बहुत बड़ा गौरव[२] है। किन्तु एक मानने में अत्यन्त लाघव है। तो घटज्ञान और पटज्ञान को भी एक ही मान लो, इसमें भी तो लाघव है ? नहीं, उक्त स्थल में उपाधि के भेद से ज्ञान में भेद की प्रतीति होती है। केवल ज्ञान तो एक ही है, ज्ञान ज्ञान इत्यादि एक रूप से उसका बोध होता है। ज्ञान की उपपत्ति

नहीं हो सकता, क्योंकि वेदान्ती के मत में आत्मा नित्य और ज्ञान अनित्य है—यह प्रत्यक्ष अनुभव है।

उत्तर—ज्ञान नित्य है। नित्यत्व की सिद्धि के लिए अनित्यत्वपक्ष में दोष कहते हैं।

१ ज्ञान अनित्य है यह अङ्गीकार करने पर ज्ञान अनेक अवश्य मानने होंगे, क्योंकि नष्ट हुए, विद्यमान और उत्पत्स्यमान ज्ञानों की एक व्यक्ति नहीं हो सकती; इसलिए ज्ञान-व्यक्ति का नानात्व अङ्गीकार करना एक गौरव तथा प्रत्येक ज्ञान-व्यक्ति के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानने पड़ेंगे, फिर उन अनेक ज्ञान-व्यक्तियों में एक ज्ञानत्व जाति माननी पड़ेगी एवं उस ज्ञानत्व जाति का अपने आश्रयभूत व्यक्तियों के साथ समवाय सम्बन्ध मानना पड़ेगा—ये अनेक गौरव हैं।

२ लाघव ही यदि अभीष्ट है, तो घट-पट आदिकों की भी एकता माननी चाहिये। परस्परविरुद्ध प्रकाश और अन्धकार की, शीत और उष्ण की, सुख और दुःख की भी एकता माननी चाहिये। किम्बहुना, पञ्च महाभूतों की और पञ्च इन्द्रियों की पञ्चत्वकल्पना भी गौरव से ग्रस्त है, इसलिए नहीं करनी चाहिये—ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसको यह उत्तर देना चाहिये कि जहाँ परस्पर की विलक्षणता रूप स्वरूप के भेद का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वहाँ तो अनुभव के अनुसार भेद अङ्गीकार करना ही चाहिये। उसमें गौरव दोष नहीं हो सकता।

और विनाश की प्रतीति तो अवश्य कल्पनीय जो घट-पट आदि विषयसम्बन्ध तद्विषयतया हो सकती है। उपाधि-परामर्श के विना एक घट से दूसरे घट की भेद-प्रतीति होती है। उसकी प्रतिबन्दी के ग्रह का यहाँ असम्भव है। और आकाश, काल, दिशाओं के भी नानात्व की आपत्ति होती है। कर्तृत्वादि को वास्तव मानने पर अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग होता है, क्योंकि समस्त गुणों की निवृत्ति ही तो मोक्ष है। कर्तृत्वादि की सत्ता में मोक्ष नहीं हो सकता। आत्मा को स्वप्रकाश न मानें, तो जगत् का आन्ध्य-प्रसङ्ग हो जायगा। परम[1] प्रेम का पात्र होने से वह आनन्दरूप है। अतः कर्तृत्वादि धर्मरहित नित्य, स्वप्रकाश, सुखस्वरूप ही आत्मा है।

कल्पनीय (कल्पना करने के योग्य) पदार्थ में लाघव-गौरव की चर्चा हुआ करती है। यद्यपि 'घटज्ञानं पटज्ञानम्' इस प्रकार ज्ञान का भेद प्रतीत होता है, स्वरूप से ज्ञान का भेद नहीं, किन्तु घट-पट आति उपाधि के भेद से भेद है; इसलिए उपाधि के भेद से उपाधेय ज्ञान में भेद की कल्पना है, प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए यहाँ पर लाघव-गौरव चर्चा का अवसर है। इसीलिए घटमठरूपी उपाधि का भेद होने पर भी आकाश का भेद तार्किकों ने स्वीकार नहीं किया है। इसलिए विषय एवं आश्रय का भेद होने पर भी लाघव से ज्ञान एक ही मानना चाहिये।

शङ्का—'घटज्ञानं नष्टम्' (घटज्ञान नष्ट हो गया), 'पटज्ञानमुत्पन्नम्' (पटज्ञान उत्पन्न हुआ) इस प्रतीति से ज्ञान अनेक मानने चाहिये।

उत्तर—ज्ञान का घट-पट आदि विषयों के साथ जो सम्बन्ध है, यह प्रतीति उस सम्बन्ध को विषय करती है। अर्थात् 'घटज्ञानं नष्टम्' इसका अर्थ है—ज्ञान में घट का सम्बन्ध नष्ट हो गया। 'पटज्ञानमुत्पन्नम्' इसका अर्थ है—ज्ञान में पट का सम्बन्ध उत्पन्न हो गया। इसलिए विषय-सम्बन्ध की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान में उपचार है। इसलिए ज्ञान एक है, नित्य है, यह सिद्ध हुआ। उस नित्य, एक ज्ञान के साथ नित्य, एक आत्मा का अभेद हो सकता है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं, जहाँ अभेद से धर्म-धर्मीभाव होता है, वहाँ आश्रय की निर्धर्मकता में पर्यवसान होता है; इसलिए आत्मा निर्धर्मक सिद्ध हुआ। कर्तृत्वादि धर्म से भी आत्मा की सधर्मकता नहीं है, क्योंकि कर्तृत्वादि अध्यस्त हैं। यदि कर्तृत्वादि संसार स्वाभाविक होता, तो उसका नाश न होने से कभी मोक्ष की सिद्धि न होती।

१ तथा चोक्तं पञ्चदश्याम्—

'मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीष्यते।
तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दमात्मनः॥' (पञ्चदशी १। न०)

तस्मात् परिशेषाद् भ्रान्तिरियमिति स्थिते तत्कारणमपि योग्यं किञ्चित्कल्पनीयम् । कल्प्यमानञ्च तदात्मन्यध्यस्ततयैव धर्मिग्राहकमानेन सिद्ध्यतीति न जानामीति साक्षिप्रतीतिसिद्धमनिर्वाच्यमज्ञानमेव तत् ।

पूर्वोक्त सन्दर्भ से यह सिद्ध हो गया कि 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रम है। ऐसी दशा में उस भ्रम के योग्य किसी कारण[1] की भी कल्पना करनी चाहिये। कल्पना किया जाता हुआ वह कारण आत्मा में अध्यस्त होने से ही धर्मिग्राहक मान से सिद्ध होता है, इसलिए 'मैं नहीं जानता' ऐसी साक्षिप्रतीति से सिद्ध अनिर्वचनीय अज्ञान ही उक्त भ्रम का कारण है।

न चेदमभावरूपम्, ज्ञानस्य नित्यत्वेन तदभावानुपपत्तेरुक्तत्वात्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां च व्याघातापत्तेः ।

इतने ही ग्रन्थसन्दर्भ से देह आत्मा है—इस मत का खण्डन हो गया, इसलिए 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रान्तिरूप है, यह अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये।

१ शुद्ध चैतन्य तो निर्विकार है, इसलिए वह कारणता के योग्य नहीं है, वह उपादान-कारण अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये—'भ्रान्तिज्ञान भावरूप उपादान-कारणवाला है, घट की तरह जन्यभाव होने से'। इस अनुमान से सिद्ध होनेवाला उपादान-कारण भ्रान्ति ज्ञानरूप कार्य के आश्रयीभूत आत्मा ही में सिद्ध होता है, क्योंकि भ्रमरूप कार्य आत्मा में है, तो उसका उपादान-कारण भी आत्मा ही में होना चाहिये। व्यधिकरण होने पर कार्य-कारणभाव बन नहीं सकता। ऐसी दशा में धर्मीभूत उपादान-कारण का ग्राहक जो कार्य-कारण-भाव-मूलक अनुमान है, वही उस उपादान-कारण की आत्मवृत्तितारूप धर्म का ग्राहक होता है। भ्रान्तिज्ञान मिथ्या है, इसलिए उसके योग्य उपादान-कारण को भी मिथ्या ही होना चाहिये; क्योंकि उपादान-कारण कार्य का सजातीय हुआ करता है—यह नियम है। आत्मा में वास्तव में कोई धर्म है नहीं, इसलिए आत्मा में भ्रान्तिज्ञान का उपादान कारण भी अध्यस्त ही सिद्ध होता है। वह उपादान-कारण ज्ञानाभाव से अतिरिक्त भावरूप अनादि अज्ञान ही 'न जानामि' (मैं नहीं जानता) इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है, वह अज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि अद्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होता है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति में आत्मभिन्न सत् वस्तु का निषेध भी है और ज्ञानी की दृष्टि से अज्ञान की प्रतीति नहीं होती, वह भावरूप अज्ञान असत् भी नहीं है, क्योंकि भावरूप भ्रम कार्य का उपादान-कारण है और 'न जानामि' इस प्रतीति का विषय है, इसलिए अज्ञान अनिर्वचनीय सिद्ध होता है।

यह[1] अज्ञान अभावरूप नहीं है, क्योंकि ज्ञान[2] नित्य है। उसके अभाव की उपपत्ति नहीं हो सकती—यह बात कही जा चुकी है; और धर्मी[3] और प्रतियोगी के ज्ञान और अज्ञान से व्याघात भी हो जायगा।

---

१ 'अहमात्मानं न जानामि', 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय भावरूप अनिर्वचनीय अज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानाभाव है, इसलिए भावरूप अज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होता—यह पूर्वपक्षी का आशय है, ऐसा कहनेवाले पूर्वपक्षी से पूछना चाहिये कि 'न जानामि' इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव ज्ञानसामान्याभाव है अथवा ज्ञानविशेषाभाव? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं, क्योंकि 'न जानामि' यह प्रत्यक्ष प्रतीति भी तो ज्ञानरूप है। उसके होते हुए ज्ञानसामान्याभाव कैसे हो सकता है? एक घट के होते हुए अन्य सकल घटों का अभाव होने पर भी घटसामान्याभाव की प्रतीति नहीं होती। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, ज्ञान में स्वतः भेद है नहीं, क्योंकि ज्ञान की एकता सिद्ध कर चुके हैं। जब ज्ञान में भेद नहीं तो ज्ञानविशेष हो ही नहीं सकता, फिर उसका अभाव कैसा? इसलिए ज्ञान एक है और नित्य है, उसका अभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए 'न जानामि' इस प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव नहीं, किन्तु अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान है।

२ इससे दोनों से सम्मत ज्ञानाभाव ही से 'अहमज्ञः' इस प्रतीति की उपपत्ति होने पर ज्ञानाभाव से अतिरिक्त भावरूप अज्ञान की कल्पना में गौरव होने से वह नहीं करनी चाहिये, यह निरस्त हो गया, क्योंकि ज्ञान नित्य है, हमारे मत में उसके अभाव का अङ्गीकार नहीं।

शङ्का—इस ग्रामीण को गवय का ज्ञान नहीं है, इस प्रकार प्रतीत होनेवाला जो ज्ञानविशेष का निषेध है, उसकी क्या गति होगी?

उत्तर—इस प्रतीति का यह अर्थ नहीं है कि इस ग्रामीण को गवय का ज्ञान नहीं है, किन्तु इसका अर्थ है—इसके ज्ञान का गवय विषय नहीं है। 'घटमहं न जानामि' इत्यादि स्थल में भी मेरे ज्ञान की विषयता का घट में निषेध है, यही समझना चाहिये। 'न जानामि' इस प्रत्यक्ष का विषय ज्ञानाभाव को मानने में अन्य दोष कहते हैं।

३ 'अहं न जानामि' इस ज्ञानाभाव को विषय करनेवाले प्रत्यक्षानुभवकाल में ज्ञानाभाव के धर्मी आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान है, अथवा नहीं? वैसे ही उस काल में ज्ञानाभाव के प्रतियोगी ज्ञान का स्मरणात्मक ज्ञान है, अथवा नहीं? दोनों विकल्पों में से प्रथम पक्ष में धर्मीज्ञान और प्रतियोगी ज्ञान के होते हुए उस काल में ज्ञानाभाव की सत्ता ही नहीं है, तो उसका प्रत्यक्ष अनुभव कैसे हो? क्योंकि विषय के न होने पर उस विषय का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। द्वितीय पक्ष में ज्ञानाभाव की प्रतीति ही नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव के ज्ञान में धर्मी और प्रतियोगी दोनों के ज्ञान की अपेक्षा हुआ करती है।

नापि भ्रमसंशयतत्संस्कारपरम्परारूपम्, अपरोक्षत्वात्, अतीतानागतभ्रमसंशयतत्संस्काराणां च परोक्षत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्। आवरणात्मकत्वाद्, भ्रमोपादानत्वाच्च आत्मनो निर्विकारत्वादन्तःकरणादेश्च तज्जन्यत्वात्, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १ । ३) इति गुणवत्त्वश्रुतेश्च। 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४ । १०), 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (० २ । ५ । १९)। 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८ । ३ । २), 'नीहारेण प्रावृताः' (तै० सं० ४ । ६ । २ । २)' 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० १ । १०) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च माया अविद्या अनिर्वाच्यमनृतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यं चाज्ञानमेव स्वपराध्यासे कारणम्। न चात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गः; अनादित्वेनोत्पत्त्यभावात्, स्वप्रकाशात्मन एव तज्ज्ञप्तिरूपत्वात्।

अज्ञान[1] भ्रम-परम्परारूप, संशय-परम्परारूप और तत्संस्कार-परम्परारूप भी नहीं है, क्योंकि अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। अतीत और अनागत भ्रम-संशय-संस्कार परोक्ष[2] है, अतः वे नहीं जाने जा सकते। अज्ञान आवरणात्मक[3] है, और भ्रम का

---

१ भ्रम-परम्परा, संशय-परम्परा, भ्रमसंस्कार-परम्परा और संशयसंस्कार-परम्परा इन चारों में से कोई भी 'अहमज्ञः' इत्याकारक प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय अज्ञानरूप नहीं है। 'परम्परा' प्रवाह का नाम है। प्रवाहघटक एक-एक व्यक्ति तो उस अज्ञान का स्वरूप नहीं है, क्योंकि 'अहमज्ञः' यह प्रतीति चिरकाल तक बनी रहती है। भ्रम आदि एक-एक क्षणिक हैं, इसलिए चारों की परम्परा का ग्रहण किया है।

२ 'अहमज्ञः' यह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसका विषय भ्रम आदि की परम्परा नहीं हो सकती, क्योंकि परम्परा परोक्ष है, उनमें से परम्परा के घटक संस्कारों में से तो किसी एक का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। फिर उनकी परम्परा के प्रत्यक्ष का तो क्या कहना है। भ्रम और संशय वर्त्तमानकाल में यद्यपि प्रत्यक्ष के योग्य हैं, तथापि भूतभ्रम और भूतसंशय वैसे ही भविष्यद्भ्रम और भविष्यत्संशय प्रत्यक्ष के योग्य नहीं, इसलिए उनकी परम्परा भी प्रत्यक्ष के योग्य नहीं।

३ 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति का जो विषय है, वह विज्ञानघन आत्मा के स्वरूप का आवरण करनेवाला प्रतीत होता है। भ्रम और संशय तो मनोवृत्तिरूप लौकिक ज्ञानविशेष होने से आवरण के कर्त्ता नहीं हैं। संस्कार भी आवरण का कर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह मनोवृत्तिविशेष ज्ञान का जनक होता है। और मनोवृत्तिरूप

कारण[1] है, इसलिए अज्ञान अभाव नहीं है। आत्मा निर्विकार है, अतः वह भी भ्रम का कारण नहीं बन सकता। अन्तःकरण[2] अज्ञान से ही जन्य है, इसलिए वह भी अज्ञानरूपी भ्रम का उपादान नहीं हो सकता।

'देवात्मशक्तिं[3] स्वगुणैः०' इत्यादि गुणवत्त्व-श्रुति से अज्ञान में गुणवत्त्व की प्रतीति होती है। 'मायां[4] तु०', 'इन्द्रो माया०[5]', 'अनृतेन[6] हि०', 'नीहारेण०[7]',

---

ज्ञान सर्वत्र आवरण का भङ्ग करनेवाला देखा गया है। 'अहमज्ञः' इस प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव पदार्थ से आवरण कहीं नहीं देखा जाता।

शङ्का—तेज का अभावरूप अन्धकार घटादि पदार्थों का आवरण करता है, यह देखा जाता है।

उत्तर—वेदान्ती के मत में अन्धकार अभाव नहीं है, किन्तु नीलरूपवाला द्रव्य है।

१ 'अहं मनुष्यः' इत्यादि भ्रम का उपादान इस भ्रम का सजातीय भावरूप अज्ञान ही 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है, यह स्वीकार करना चाहिये।

२ अन्तःकरणादि भी 'अहं मनुष्यः' इस भ्रम के उपादान कारण नहीं हैं, क्योंकि वे भी अनिर्वचनीय एवं जन्य हैं। उनका भी उपादान कारण भावरूप अज्ञान ही है, अज्ञान के कार्य अन्तःकरणादि त्रिगुणात्मक हैं, इसलिए उनका कारण भावरूप अज्ञान भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिये। इस प्रकार युक्ति से भावरूप अज्ञान की सिद्धिकर भावरूप अज्ञान में श्रुति प्रमाण दिखाते हैं।

३ देव (सृष्ट्यादि क्रीडावान् परमेश्वर) की आत्मशक्ति (स्वकीया शक्ति)—स्व (ईश्वर) को आश्रय करनेवाली स्व (ईश्वर) को विषय करनेवाली शक्ति—को ध्यान से युक्त होकर उन मुनियों ने देखा और वह शक्ति अपने सत्त्व, रज, तमरूप तीन गुणों से युक्त है। 'स्वगुणैः' इसमें स्वशब्द से आत्मशक्ति का परामर्श है। 'शक्ति' नाम है कार्य के उत्पन्न करने की सामर्थ्य का। इस श्रुति में जो आत्मशक्ति कही है, वही भावरूप अनादि अज्ञान है। गुणवती होने से भी वह अभावरूप नहीं है।

४ महेश्वर की जो अनिर्वचनीया कार्यजननशक्ति माया है, उसीको जगत् का मूल कारण समझना चाहिये।

५ इन्द्र (आत्मा) एक होता हुआ भी मायाओं से अनेक रूप प्रतीत होता है।

६ अनृत (अज्ञान) से प्रत्यूढ (व्याप्त) प्रजा मूल कारण को नहीं जानती।

७ नीहारसदृश भावरूप अनादि अज्ञान से आच्छादित तुम—जिसने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया है—उसे नहीं जानते। जैसे नीहार अत्यन्त असत् नहीं है, क्योंकि दृष्टि को आवृत कर लेता है। अत्यन्त सत् भी नहीं है, क्योंकि काष्ठ-पाषाणादिरूप

'भूयश्चान्ते०[1]' इत्यादि श्रुतियों से माया`, अविद्या,[3] अनिर्वचनीय[4], असत्य[5] एवं तत्त्वज्ञान से निवृत्त होने योग्य अज्ञान ही अपने[6] और अहङ्कारादि जगत् के अध्यास में कारण है। आत्माश्रयादि दोष का भी यहां प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि अज्ञान अनादि है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती, इससे आत्माश्रय का निराकरण हो गया। स्वप्रकाश आत्मा ही उसका ज्ञान है, इसलिए अज्ञान में भी आत्माश्रय-दोष नहीं हुआ।

तेन अज्ञानाध्यासविशिष्टचैतन्येऽहङ्काराध्यासः, तद्विशिष्टे च काम-सङ्कल्पादीनामहङ्कारधर्माणामिन्द्रियधर्माणां च काणत्वबधिरत्वादीनामध्यासः।

अन्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार अज्ञान भी अत्यन्त असत् नहीं है, क्योंकि ईश्वर-तत्त्व को आवृत करता है। सत् भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है। ऐसे अनिर्वचनीय अज्ञान से तुम सब जीव 'प्रावृताः' (ढँके हुए) हो—यह अर्थ है।

१ परमात्मा के ध्यान से प्रारब्धभोग के अन्त में फिर विश्वमाया (सर्वमाया) की निवृत्ति होती है। माया का विश्वत्व अनेक प्रकार का होना ही है, वह आवरण और विक्षेपशक्ति के भेद से दो प्रकार का है। आवरणशक्ति भी असत्त्वापादक और अभानापादक भेद से दो प्रकार की है।

२ विचित्र सृष्टि करने की सामर्थ्य।

३ ज्ञान के विरुद्ध स्वभाववाली।

४ सत् और असत् से विलक्षण।

५ अध्यस्त।

६ जैसे जब अन्धकार से रज्जु का स्वरूप किञ्चित् आवृत होता है, तभी वह रज्जु सर्प का अधिष्ठान होती है; वैसे ही स्वच्छ आत्मा अज्ञान का अधिष्ठान है। उस अधिष्ठानता के लिए मलिनतारूप आवरण का उसी अज्ञानाध्यास से सम्पादन करना होगा। इसलिए अज्ञान के अध्यास में अज्ञान स्वयं ही कारण है। अज्ञानाध्यासविशिष्ट आत्मा अहंकारादि का अधिष्ठान होकर फिर उत्तरोत्तर अध्यास में कारण होता है। यहाँ अज्ञान स्व (अज्ञान) से कैसे उत्पन्न हुआ? इस आत्माश्रय की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अज्ञान अनादि है, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, इसलिए अज्ञान उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहना चाहिये। किन्तु अज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए। अज्ञान के ज्ञान में भी आत्माश्रय दोष नहीं है, क्योंकि अज्ञान का ज्ञान आत्मरूप होने से नित्य है। 'अहमज्ञः' इस प्रकार साक्षीरूप ज्ञान का विषय होकर अज्ञान भासता है, वह साक्षी नित्य है।

इन्द्रियाणान्तु परोक्षत्वान्नापरोक्षधर्म्यध्यास इति सिद्धान्तः। तद्विशिष्टे च स्थूलदेहाध्यासो धर्मपुरस्कारेणैव 'अहं मनुष्यः' इत्याकारः। न च स्वरूपतोऽहं देह इत्यध्यासः, तथा प्रतीत्यभावात्। तद्विशिष्टे च स्थौल्यादीनां देहधर्माणामध्यासः। तद्विशिष्टे च बाह्यानां पुत्रभार्य्यादीनां साकल्यवैकल्यादिधर्माध्यासः।

अध्यास[1] के निर्दोषपूर्वक समर्थित होने से अज्ञान के अध्यास से युक्त चैतन्य में अहङ्कार का अध्यास होता है और अहङ्कारविशिष्ट[2] चैतन्य में काम, सङ्कल्प आदि अहङ्कार के धर्मों का एवं काणत्व, बधिरत्व आदि इन्द्रियधर्मों का अध्यास होता है। इन्द्रियां परोक्ष हैं, इसलिए अपरोक्ष इन्द्रियरूपी धर्मी का अध्यास नहीं होता, ऐसा

---

१ शङ्का—'अज्ञोऽहम्' इस प्रतीति के अधिष्ठान अज्ञानविशिष्ट चैतन्यरूप की प्रतीति कैसे होती है? क्योंकि रजताध्यासमूलक 'इदं रजतम्' इस प्रतीति में शुक्ति की प्रतीति नहीं हुआ करती, वैसे ही अहङ्कार के अध्यास में अधिष्ठान अज्ञानविशिष्ट चैतन्य की प्रतीति नहीं होनी चाहिये।

उत्तर—अन्योन्याध्यास का अङ्गीकार करने से यह दोष नहीं। अज्ञानाध्यासविशिष्ट चैतन्य में अज्ञान के कार्य अहङ्कार का अध्यास होने पर फिर उस अध्यस्त अहङ्कार में अज्ञानाध्यासविशिष्ट चैतन्य का अध्यास है, इसलिए 'अज्ञोऽहम्' यह प्रतीति रङ्ग-रजत में रजत-रङ्ग की तरह समूहालम्बनात्मक है। इसके कारण भी दो अध्यास हैं। विशेष इतना है—रङ्ग-रजतस्थल में दोनों अधिष्ठानों की पृथक् सत्ता होने से दोनों अध्यस्तों की भेद से प्रतीति होती है। 'अज्ञोऽहम्' इस प्रतीति में तो द्वितीयाध्यास का अधिष्ठान अहङ्कार अज्ञानाध्यासविशिष्ट चैतन्य ही में अध्यस्त है। अध्यस्त होने से उसकी पृथक् सत्ता नहीं है और पृथक् सत्ता के अभाव से पृथक् प्रतीति नहीं है। इसी प्रकार जहाँ शुक्ति में 'इदं रजतम्' यह प्रतीति होती है वहाँ भी शुक्ति में रजताध्यास और अध्यस्त रजत में शुक्ति की इदन्ता का अध्यास होता है, इसलिए 'इदं रजतम्' इस प्रतीति के कारण दो अध्यास हैं।

२ 'अहङ्काराध्यासविशिष्ट चैतन्य में' का यह अर्थ है—'अहमिच्छामि' (मैं इच्छा करता हूँ) यह प्रतीति चैतन्य में पहले अहङ्कार का अध्यास बिना किये नहीं होती, इसलिए अध्यस्त अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही कामादि धर्मों का अधिष्ठान हो सकता है और अध्यस्ताहङ्कारविशिष्ट होकर ही इन्द्रियधर्म काणत्व, बधिरत्वादि का अधिष्ठान होता है। यहाँ इन्द्रियों के धर्म का अध्यास होता है, इन्द्रियों का अध्यास नहीं होता, क्योंकि मैं काण हूँ, मैं बधिर हूँ, यह प्रतीति तो होती है, पर मैं नेत्र हूँ, मैं श्रोत्र हूँ, यह प्रतीति नहीं होती; इसलिए

सिद्धान्त है। पूर्वदर्शित सूक्ष्माध्यासविशिष्ट[1] में स्थूल देह का अध्यास होता है। उक्त अध्यास मनुष्यत्वादिधर्मपुरःसर ही होता है, देहत्वादि धर्मपुरस्कारेण नहीं, क्योंकि 'अहं देहः' ऐसी प्रतीति नहीं होती। देहाध्यासविशिष्ट चैतन्य में स्थूलता आदि देहधर्मों का अध्यास होता है। स्थूलताध्यासविशिष्ट चैतन्य में बाह्य पुत्र, भार्या आदि की सकलता एवं विकलता का अध्यास होता है।

एवं चैतन्यस्याप्यहङ्कारादिषु देहपर्यन्तेष्वध्यासः संसर्गतः। अध्यासव्यवधानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम्। तदुक्तं वार्त्तिकामृते—

'वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः॥' इति

पिण्डः स्थूलशरीरम्। प्राणोऽन्तःकरणम्। देहापेक्षया चेन्द्रियाणां प्रियत्वं शस्त्रवृष्ट्यादिधारापाते चक्षुषोर्निमीलनदर्शनादनुभवसिद्धम्। तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद्ग्रन्थिरूपोऽध्यासः। एकतरस्याध्यासाङ्गीकारेऽन्यतरस्या-

---

अध्यस्ताहङ्कारविशिष्ट चेतन में इन्द्रियों का अध्यास हुए बिना ही इन्द्रियों के धर्म काणत्वादि का अध्यास होता है।

शङ्का—इन्द्रियों के तादात्म्य के बिना उनके धर्म काणत्वादि का अध्यास कैसे?

उत्तर—इन्द्रियों के सामान्यरूप इन्द्रियत्व से और विशेपरूप नेत्रत्वादि से यद्यपि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य में स्वरूपाध्यास नहीं है, किन्तु संसर्गाध्यास है, क्योंकि मैं इन्द्रियवान् हूँ, मैं चक्षुष्मान् हूँ, ऐसी प्रतीति होती है। यद्यपि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य में इन्द्रियों का स्वरूप से अध्यास नहीं है, तथापि अज्ञानविशिष्ट चैतन्य में तो उनका स्वरूप से भी अध्यास है ही। क्योंकि भूत, भौतिक सकल प्रपञ्च जब अज्ञानविशिष्ट चैतन्य में अध्यस्त है, तो इन्द्रियाँ भी उसी में अध्यस्त हैं।

१ देह का मनुष्यत्वादि विशिष्टरूप से तादात्म्याध्यास है, देहरूप से नहीं, क्योंकि 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति होती है, 'अहं देहः' यह प्रतीति नहीं होती। देहत्वधर्मवैशिष्ट्यरूप से देह का यद्यपि स्वरूपाध्यास नहीं है, तथापि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य में देह का संसर्गाध्यास तो है ही; क्योंकि 'अहं देहवान्' यह प्रतीति होती है। मनुष्यादि विशेप स्वरूप से देहाध्यासविशिष्ट चैतन्य में स्थूलत्वादि धर्मों का भेद से अध्यास होता है, जबतक अहङ्कार का अध्यास होकर देह का अध्यास न हो, तबतक चैतन्य में स्थूलत्वादि धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। क्योंकि चैतन्य अमूर्त्त है, वह मूर्त्त, स्थूलता आदि धर्मों का अधिष्ठान नहीं हो सकता। अध्यास का स्वीकार प्रतीति के अनुरोध और योग्यता के बल से होता है।

भानप्रसङ्गात्, अध्यस्तस्यैव भ्रमे भाननियमात् । इमे रङ्गरजते इति समूहाल-म्बनभ्रमवदवश्यमितरेतराध्यासः ।

इसी[1] प्रकार चैतन्य का भी अहङ्कार से लेकर देहपर्यन्तों में संसर्गाध्यास होता है । अध्यासव्यवधान के तारतम्य से प्रेमतारतम्य होता है ।

'वार्तिकामृत' में भी कहा है—'धन से पुत्र प्रिय है, पुत्र से पिण्ड, पिण्ड से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से प्राण (अन्तःकरण), प्राण से आत्मा परम प्रिय है ।' पिण्ड = स्थूलशरीर । प्राण = अन्तःकरण । देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ प्रिय हैं, यह बात शस्त्रों तथा वृष्टि आदि की धारा के सम्पात में नेत्रों के निमीलन-दर्शन से अनुभवसिद्ध है । चित् में अहङ्कार आदि का स्वरूपतः अध्यास एवं अहङ्कारादि में चित् का संसर्ग से अध्यास है । इस अन्योन्याध्यास[2] से चित् और अचित् (जड़) अध्यास ग्रन्थिरूप है । यदि एक ही का अध्यास मानो तो दूसरे का भान नहीं होगा । भ्रम में अध्यस्त[3] का ही भान होता है, ऐसा नियम है । ये रङ्ग और रजत हैं (रङ्ग में रजत-भ्रम और रजत में रङ्ग-भ्रम) इस प्रकार के भ्रम का अन्योन्याध्यास अवश्य मानना पड़ता है ।

---

१ शङ्का—चैतन्य का अध्यास अङ्गीकार करोगे तो 'अध्यस्त पदार्थ मिथ्या हुआ करता है' इस नियम से चैतन्य के मिथ्या होने पर शून्यवाद का प्रसङ्ग होगा ।

उत्तर—चैतन्य का अध्यास शुक्ति में रजत की तरह स्वरूप से नहीं, किन्तु संसर्ग से है । संसर्ग सम्बन्ध का नाम है, इसलिए अहङ्कारादि में चैतन्य का जो सम्बन्ध अध्यस्त है, वही मिथ्या है । चैतन्य किसी प्रकार भी मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि वह अध्यस्त नहीं है ।

शङ्का—आत्मा प्रेय है, इसलिए आत्मा में अध्यस्त सब पदार्थ आत्मवत् प्रेय होने चाहिए । उनमें प्रेम का तारतम्य कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं—'अध्यासव्यवधानेऽपि' ।

२ अध्यस्त अहङ्कारादि में चैतन्य का संसर्गाध्यास होने से । भाव यह है कि जैसे दो रज्जुओं की ग्रन्थि दृढ होती है, वैसे ही जड़ अहङ्कारादि और चेतन आत्मा की यह दृढ-ग्रन्थि है ।

३ संक्षेपशारीरक (१ । ३६) में कहा है—'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु' (भ्रमों में अध्यस्त की ही प्रतीति हुआ करती है) । जैसे 'इदं रजतम्' यहाँ शुक्ति में रजत अध्यस्त है, वैसे ही रजत में शुक्तिगत इदमंश अध्यस्त है । इसलिए अन्योन्याध्यास से समूहालम्बन ज्ञान की तरह अध्यस्त और अधिष्ठान दोनों की प्रतीति हुआ करती है ।

सर्वबाधावधिभूतचैतन्यपरिशेषेण च न शून्यवादापत्तिः, सत्यानृतसंभेदावभासत्वादध्यासस्य । तस्मात्पूर्वपूर्वाध्यासमूल एवायमुत्तरोत्तराहङ्काराद्यध्यासो बीजांकुरवदनादिः । अविद्याध्यासश्चैक एवानादिः ।

सब[1] बाधों के अवधिस्वरूप चैतन्य के शेष रहने से शून्यवाद की आपत्ति भी नहीं हुई, क्योंकि अध्यास सत्य[2] और अनृत का सम्मिश्रणस्वरूप ही है । इसलिए[3] पूर्व-अध्यासमूलक उत्तर-उत्तर अहङ्कारादि का अध्यास बीज और अङ्कुर के समान अनादि है । वह और अविद्याध्यास एक और अनादि ही है ।

नन्वविद्याध्यासस्यानादित्वे 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः' इति वदता भाष्यकारेण स्मृतिरूपत्वेन संस्कारजन्यत्वमुक्तं विरुद्ध्येतेति चेत्, न; कार्याध्यासाभिप्रायत्वात्तस्य । परत्र परावभासोऽध्यास इत्येतावन्मात्रस्यैवोभयानुगतलक्षणत्वात् । यद्वा—'सत्यानृते मिथुनीकृत्ये'ति भाष्यवचनात् सत्यमिथ्यावस्तुसंभेदावभासोऽध्यास इत्येव सिद्धान्तलक्षणम् । तेन कारणाध्यासेऽपि न लक्षणाव्याप्तिः । कार्याध्यासस्य च प्रवाहरूपेण बीजांकुरवदनादित्वाभिधानान्न कोऽपि दोषः ।

---

१ अन्योन्याध्यास में भी चैतन्य में अध्यस्त अहंकारादि में चैतन्य का जो अध्यास है, वह स्वरूप से नहीं, किन्तु संसर्ग से है, यह कहा है । इसलिए अध्यस्त चैतन्यसम्बन्ध के मिथ्या होने से बाध होने पर भी स्वरूप से अनध्यस्त चैतन्य का बाध नहीं होता, इसलिए शून्यवाद का प्रसङ्ग नहीं है । इसीलिए 'सत्यानृतसंभेदावभासः' यह अध्यास का लक्षण भाष्यकारों ने कहा है । यदि चैतन्य का स्वरूप से अध्यास होता तो जैसे अध्यस्त अहंकारादि अनृत हैं, वैसे ही अहङ्कारादि में अध्यस्त चैतन्य भी अध्यस्त होने से अनृत ही होता । तब सत्यानृत का संभेद न होने से भाष्योक्त लक्षण की संगति न होती । चैतन्य का संसर्गाध्यास मानने पर तो चैतन्य सत्य ही है, इसलिए लक्षण की संगति हो जाती है ।

२ 'संभेद' सम्बन्ध का नाम है, सत्य का अनृत के साथ जो सम्बन्ध है, उसकी प्रतीति को 'सत्यानृतसंभेदावभास' कहते हैं ।

३ – शङ्का—पहले रजत देखा हुआ हो, तभी उसके संस्कार से शुक्ति में रजत का अध्यास होता है । अहंकार का तो पहले कभी अनुभव हुआ ही नहीं, तो उसका आत्मा में अध्यास कैसे ?

शङ्का—अविद्या का अध्यास अनादि है तो 'पर में पूर्वदृष्ट पदार्थ की जो प्रतीति वह स्मृतिरूप है', ऐसा कहते हुए भगवान् भाष्यकार ने स्मृतिरूप होने से उसे जो संस्कारजन्य कहा, उससे विरोध[1] होता है।

समाधान—नहीं, यह लक्षण कार्याध्यास[2] के अभिप्राय से किया गया है। अन्यत्र[3] अन्य का जो ज्ञान, वही अध्यास है—केवल इतना ही कहने से कार्याध्यास और कारणाध्यास दोनों का निर्दोष लक्षण हो जाता है। अथवा 'सत्यानृते०' इस भाष्य-वचन से सत्य और मिथ्या वस्तुओं की सम्मिश्रण-प्रतीति अध्यास है, यही सिद्धान्त-लक्षण समझना चाहिए। ऐसा लक्षण करने से कारणाध्यास में भी अव्याप्ति नहीं हुई। कार्याध्यास प्रवाहरूप से बीज और अङ्कुर के समान अनादि काल से चला आ रहा है, ऐसा कह देने से कोई दोष भी नहीं है।

एवमध्यासे सिद्धे एकस्याप्यात्मनो जीवेश्वरादिव्यवस्था मानमेयादि-प्रतिकर्मव्यवस्था चोपपद्यते। तथाहि—'अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञानतादा-त्म्यापन्नस्वचिदाभासाविवेकादन्तर्यामी साक्षी जगत्कारणमीश्वर इति च

उत्तर—कल्पान्तर में अहंकार का अनुभव हो चुका है। यद्यपि वह अनुभव भी अध्यस्त होने से अयथार्थ ही है, तथापि वह संस्कार को उत्पन्न कर सकता है। केवल चित्र में स्थित सर्प को देखनेवाले पुरुष को भी रज्जु में सर्प का भ्रम होता है। जिस पुरुष को धूलि-कदम्ब में पहले धूम का भ्रम हुआ हो, उसे भी धूम का संस्कार होता ही है।

शङ्का—कल्पान्तर का अनुभव अयथार्थ होता हुआ भी संस्कार को उत्पन्न करे, किन्तु वह भी भ्रम ही है, उसके लिए उससे पहले संस्कार कैसे?

उत्तर—उससे भी पहले कल्प के अनुभव से संस्कार होता है, यह समझना चाहिये। यद्यपि इस प्रकार संस्कार और अध्यास का अन्योन्याश्रय प्रतीत होता है, तथापि बीजाङ्कुर-न्याय से उसका परिहार करना चाहिए। अविद्याध्यास तो संस्कारजन्य नहीं है, क्योंकि अविद्या एक है। कल्प का भेद होने पर भी अविद्या का भेद नहीं होता, इसलिए एक अविद्याध्यास अनादि है, यह स्वीकार करना चाहिए।

१ अनादि अविद्याध्यास संस्कारजन्य नहीं है, इसलिए भाष्योक्त अध्यासलक्षण की अव्याप्ति है, यह पूर्वपक्षी का आशय है।

२ अविद्याध्यास से व्यतिरिक्त अविद्याध्यासमूलक जो अहङ्कारादि-अध्यास हैं, उन्हीं का भाष्यकारों ने 'स्मृतिरूप०' इत्यादि लक्षण किया है। अब सामान्य लक्षण कहते हैं।

३ यह लक्षण कारणाध्यास-शब्दित अविद्याध्यास और कार्याध्यासशब्दित अहंकारादि-अध्यासों में अनुगत है।

कथ्यते। बुद्धयुपहितश्च तत्तादात्म्यापन्नस्वचिदाभासाविवेकाज्जीवः कर्ता, भोक्ता, प्रमातेति च कथ्यते' इति वार्त्तिककारपादाः। प्रतिदेहं च बुद्धीनां भिन्नत्वात्तद्गतचिदाभासभेदेन तदविविक्तं चैतन्यमपि भिन्नमिव प्रतीयते। अज्ञानस्य तु सर्वत्राभिन्नत्वात् तद्गतचिदाभासभेदाभावात् तदविविक्तसाक्षि-चैतन्यस्य न कदाचिदपि भेदभानमिति।

इस[1] प्रकार जब अध्यास सिद्ध हो गया, तब एक ही आत्मा की जीव, ईश्वर आदि व्यवस्था और मान, मेय आदि प्रतिकर्म-व्यवस्था भी उपपन्न हो जाती है। देखिये, अज्ञानरूप[2] उपाधि से युक्त आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर अपने

---

१ 'यह जीव है और यह ईश्वर है'—एक आत्मा में यह भेद-व्यवस्था अध्यासमूलक ही है। ऐसे ही किसी ही काल में कोई ही पुरुष किसी पदार्थ को जानता है, सब काल में सर्व पुरुष सब पदार्थों को नहीं जानते—यह मान, मेय आदि प्रतिकर्म-व्यवस्था भी अध्यास-मूलक ही है।

२ भाव यह है कि अद्वैतमत में एक आत्मा ही सत्य है, आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु सत्य नहीं। इसलिए वास्तव में आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्-कारण ही। यदि बाहर कोई अन्य वस्तु होती तो वह (आत्मा) उसका अन्तर्यामी होता। यदि कोई अन्य साक्ष्य होता तो यह उसका साक्षी होता। यदि जगत् होता तो यह उसका कारण होता। व श्य, साक्ष्य और जगत् ये तीनों उपाधि से कल्पित हैं और वह उपाधि है—अनादि अज्ञान। उस उपाधिरूप अज्ञान के योग होने पर अज्ञानयुक्त चेतन उस उपाधि में भासता है। जैसे जपाकुसुम की रक्तिमा स्फटिक में भासती है, वैसे ही वह अज्ञानरूपी उपाधि में रहनेवाला चिदाभास उपाधि के अन्तर्गत होने से ही अन्तर्यामी है। अज्ञानरूपी उपाधि उसका दृश्य है, इसलिए चिदाभास उसका साक्षी है। उपाधि के जगत्रूप परिणाम में चिदाभास कारण है, इसलिए चिदाभास जगत् का कारण कहा जाता है। उपाधि से मुक्त चिदात्मा तो वास्तव में न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत-कारण ही। यद्यपि यह आत्मा ऐसा है, तथापि अपने चिदाभास के साथ अविवेक होने से अन्तर्यामी, साक्षी, जगत्-कारण और चिदाभास कहा जाता है। अविवेक भेद के अज्ञान का नाम है। उपाधियुक्त चिदात्मा और उपाधि में रहनेवाला चिदाभास इन दोनों का भेद तो है, परन्तु गृहीत नहीं होता। उसका कारण है—अज्ञानरूप उपाधि में रहनेवाले चिदाभास का अज्ञान के साथ तादात्म्य होना। जैसे स्फटिक के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुई स्फटिक में रहनेवाली रक्तिमा स्फटिक से भिन्न नहीं प्रतीत होती, वैसे ही अज्ञान के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त हुआ चिदाभास अज्ञान से भिन्न नहीं प्रतीत होता। उपाधिभूत अज्ञान शुक्ति में रजत की तरह चिदात्मा में तादात्म्य से अध्यस्त है, इसलिए उसका चिदात्मा और चिदाभास के साथ तादात्म्य है। अतः चिदात्मा और चिदाभास के भेद का ज्ञान नहीं होता।

हुए चिदाभास के अविवेक से अन्तर्यामी, साक्षी, जगत्कारण और ईश्वर कहा जाता है। बुद्धि-उपहित बुद्धितादात्म्य को प्राप्त होकर बुद्धि में स्थित अपने चिदाभास के अज्ञान से जीव कर्ता, भोक्ता और प्रमाता भी कहा जाता है, यह वार्तिककारों का मत है। प्रत्येक देह में बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए बुद्धिगत चैतन्य के आभास के भेद[1] से उससे अभिन्न होता हुआ भी चैतन्य पृथक्-सा ज्ञात होता है। अज्ञान सर्वत्र एक ही है, इसलिए उसमें स्थित चिदाभास का भेद नहीं है, अतः अज्ञान से अभिन्न साक्षिचैतन्य की कभी भी भेद-प्रतीति नहीं होती।

अस्मिंश्च पक्षे तत्त्वमादिपदे जहल्लक्षणैव, साभासस्योपाधेर्वाच्यार्थस्य हानात्। आभासस्यापि जडाजडविलक्षणत्वेनानिर्वचनीयत्वात्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके (१।१६९)—

'साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाऽहं-
शब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा यत्र पक्षे ॥'—इति।

न चाऽऽभासस्यैव बद्धत्वात् केवलचैतन्यस्य च मुक्तत्वाद् बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यम्, स्वनाशार्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिश्चेति वाच्यम्; केवलचैतन्यस्यैवाभासद्वारा बद्धत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं वार्त्तिककारपादैः—

इस प्रकार अन्तर्यामी आदि शब्दों का वाच्य अर्थ चिदाभास ही है। वहाँ भी अन्तर्यामी और साक्षी शब्द से केवल चिदाभास ही कहा जाता है। जगत्-कारण, ईश आदि शब्दों से तो उपाधि-विशिष्ट कहा जाता है—यह विशेष तो यह अन्य विषय है। तादृश चिदाभास के अविवेक से चिदात्मा यद्यपि उन शब्दों से कहा जाता है, तथापि वह उन शब्दों का गौण अर्थ है। इसी प्रकार अज्ञान की कार्यभूत जो बुद्धि है, तादृश बुद्धिरूप उपाधि से युक्त वही चिदात्म्यभाव को प्राप्त हुए चिदाभास के अविवेक से जीव, कर्ता, भोक्ता और प्रमाता शब्दों से यद्यपि कहा जाता है, तथापि वह जीव आदि शब्दों का भेदाग्रहनिबन्धन गौण अर्थ है। उनका वाच्य अर्थ तो बुद्धि में स्थित बुद्धि-विशिष्ट चिदाभास ही है। बुद्धि अहङ्कार को कहते हैं।

कोई कहते हैं कि जीवादि शब्दों का ऐसा वाच्य अर्थ है, इसमें कोई प्रमाण नहीं, किन्तु अज्ञान में स्थित चिदाभास और चिदात्मा ये दोनों मिले हुए परस्पर अविविक्त (परस्पर के भेद-ज्ञान के अविषय) होकर ही अन्तर्यामी आदि शब्दों के वाच्य अर्थ हैं। इस प्रकार बुद्धि में स्थित चिदाभास और चिदात्मा ये दोनों परस्पर अविविक्त होते हुए जीवादि शब्दों के वाच्य अर्थ हैं, यह कहते हैं।

१ यद्यपि चिदात्मा एक ही है, तथापि बुद्धियों के और तद्गत (बुद्धिगत) चिदाभासों के भी अनेक होने के कारण तादृश चिदाभासों के अविवेक से गृहीत चिदात्मा भी अनेक की तरह प्रतीत होता है, यह अर्थ है।

'अयमेव हि नोऽनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनम् ।'—इति ।

तेन शुद्धचैतन्यस्याभास एव बन्धस्तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति न किञ्चिदसमञ्जसम् ।

इस[1] पक्ष में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद में जहती लक्षणा ही है, क्योंकि वाच्यार्थरूप साभास उपाधि का त्याग है। आभास[2] जड़ और चेतन से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय हैं। संक्षेप-शारीरक में भी कहा है—'जीव और ईश्वर की एकता का बोध करानेवाले 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में यदि[3] 'ब्रह्म' शब्द आभाससहित अज्ञान का बोधक है और 'अहम्' शब्द साभास अहङ्कार का बोधक

---

१ इस पक्ष में 'तत्त्वमसि' यहाँ पर 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त जगत्कारणीभूत ब्रह्म. ईश आदि पदों के वाच्य अज्ञानगत चिदाभास का परामर्श होता है और 'त्वम्' शब्द से जीव-पद-वाच्य बुद्धिगत चिदाभास का परामर्श होता है। इन दोनों की एकता का सम्भव नहीं, इसलिए दोनों शब्दों से, लक्षणा से चिदात्मा का बोध होता है। इस मत में लक्ष्य चिदात्मा वाच्य अर्थ के अन्तर्गत नहीं है और वाच्य अर्थ का सर्वथा त्याग है, इसलिए 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य की तरह 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा ही है।

शङ्का—चिदाभास चेतन के सदृश होने से जड़ नहीं, किन्तु चेतन है। और चेतन सर्वत्र एक ही है; इसलिए वाच्य अर्थ के अन्तर्गत चिदाभास का त्याग व्यर्थ है। वाच्य अर्थ के अन्तर्गत उपाधि अंशमात्र के त्याग से तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ की एकता का सम्भव है। इसलिए यह जहल्लक्षणा नहीं है, किन्तु वाच्यार्थ के एकदेशभूत उपाधिरूप अंश के त्याग से और चिदाभासरूप द्वितीय अंश के अत्याग से यह जहदजहल्लक्षणा ही है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'तत्' पद के वाच्य अर्थ के एकदेशभूत तद्देशस्थत्व और तत्कालस्थत्व का त्याग है और 'अयं' पद में वाच्य के एकदेशभूत एतद्देशस्थत्व और एतत्काल-स्थत्व का त्याग है, वाच्य के एकदेशभूत शरीरादि अंश का तो दोनों वाच्यों में त्याग नहीं है, इसलिए जहदजहल्लक्षणा होती है; वैसे ही महावाक्य में भी हो सकती है? इसके उत्तर में कहते हैं—'आभासस्यापी'ति।

२ चिदाभास यद्यपि जड़ नहीं, तथापि चेतन भी नहीं है; क्योंकि वह चित् नहीं, चित् का आभास है। इसलिए चिदाभास उपाधितन्त्र (बुद्धिरूप उपाधि के अधीन) प्रतीत होता है। ऐसी दशा में चिदाभास जड़-चेतन दोनों से विलक्षण ही है। इस कारण 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से प्रतिपाद्य एकता की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ के एकदेशभूत उपाधि-अंश की तरह वाच्य के एकदेशभूत चिदाभास अंश का भी त्यागकर वाच्यार्थ का अनन्तर्गत चिदात्मा ही लक्ष्य है। इसलिए 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में जहल्लक्षणा ही है। चिदाभास अनिर्वचनीय है, इसलिए वार्तिककार ने उसका मिथ्यास्वरूप स्वीकार किया है।

३ आशय यह है कि वस्तु-तत्त्व शुद्ध चिदात्मा वाच्य-वाचक आदि सब व्यवहारों से अतीत होने से अव्यवहार्य है, इसलिए साभास अज्ञान आदि ही में व्यवहार्य होने से उसी-में शब्द की वाच्यता सिद्ध होती है। अतः साभास अज्ञान और साभास अहंकार ही शब्द

है, तो उस पक्ष में जहती लक्षणा होती है।' बद्ध[1] है आभास और मुक्ति होती है केवल[2] चैतन्य की, इसलिए बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य हो जायगा। और अपने नाश के लिए आभास की प्रवृत्ति नहीं होगी—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कारण केवल चैतन्य ही आभासद्वारा बद्ध है, ऐसा स्वीकार किया गया है। वार्तिककार ने कहा है—'यही[3] हमारे लिए अनर्थ है, जो संसारी आत्मा का दर्शन होता है।' इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध चैतन्य का आभास ही बन्ध है और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। इस प्रकार कोई असामञ्जस्य नहीं हुआ।

का वाच्य है, उन दोनों का अधिष्ठान होने से उन दोनों में अनुगत उनके सम्बन्धी चिदात्मा में तो ब्रह्मशब्द और अहंशब्द जहल्लक्षणा से प्रवृत्त होते हैं। 'यदि भवति' यहाँ 'यदि' शब्द से इस मत में अरुचि सूचित होती है, कारण यद्यपि शुद्ध चिदात्मा स्वरूप से अव्यवहार्य है, तथापि अज्ञान और अहङ्कार के द्वारा वह व्यवहार्य हो सकता है। ऐसी स्थिति में केवल शुद्ध चिदात्मा यद्यपि ब्रह्म आदि शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता, तथापि उपाधिगत चिदाभासविशिष्ट चिदात्मा ब्रह्मादिशब्दवाच्य है ही। अतः जहल्लक्षणा नहीं है। किन्तु वाच्य के एकदेशभूत उपाधि-अंश और चिदाभास अंश के त्याग तथा वाच्य के एकदेशभूत चिदंश के अत्याग से जहदजहल्लक्षणा ही है।

१ कर्तृत्वादि सांसारिक धर्मवान् चिदाभास बद्ध है। वह जड़-चेतन से विलक्षण अनिर्वचनीय है। मुक्त तो तत्त्वज्ञान से अभिव्यक्त पूर्णानन्द स्वरूप और चिन्मात्रस्वरूप ही है, चिदाभास नहीं। ऐसी दशा में जो बद्ध चिदाभास है, वह मुक्त नहीं होता, किन्तु चिदाभास से अन्य शुद्ध चैतन्य ही मुक्त होता है। इसलिए बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य दोष है। किंच, बद्ध चिदाभास का, तत्त्वज्ञान से उपाधि का नाश होने पर, मोक्ष-अवस्था में नाश भी हो जाता है। ऐसी दशा में अपने नाश के लिए चिदाभास की प्रवृत्ति कैसे होगी? यह आशय है।

२ चिदाभास बद्ध है—यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु चिदाभास द्वारा चिदात्मा बद्ध है; इसलिए बन्ध-मोक्ष का वैयधिकरण्य भी नहीं है। और अपने नाश के लिए प्रवृत्ति की अनुपपत्ति भी नहीं है, क्योंकि चिदात्मा का वास्तव मुख्य स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य ही है। उसीका दूसरा गौणस्वरूप जीवशब्द का वाच्य चिदाभास है। इसलिए मुख्यस्वरूप से सदा स्थिति के लिए अपने गौणस्वरूप के नाश के निमित्त प्रवृत्ति भी हो सकती। गौणस्वरूप के नाश के लिए उसकी प्रवृत्ति गौणस्वरूप से हुआ करती है, क्योंकि कण्टक ही से कण्टक निकाला जाता है।

३ स्व (आत्मा) का गौणरूप से दर्शन ही संसारी आत्मा का दर्शन है। तादृश दर्शन के अनर्थत्व की उक्ति से तादृश दर्शन के मूलभूत अज्ञान का चिदात्मा में जो सम्बन्ध है वही बन्ध है, और उसका वियोग ही मोक्ष है—यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार आभास ही 'तत्', 'त्वम्' पदों का वाच्य है' और इस मत का समर्थन करके आभास-अतिरिक्त चैतन्य भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों का वाच्य है, इस मत का प्रदर्शन करते हैं—'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से।

अथवा—चिदाभासाविविक्तचैतन्यमपि तत्त्वमादिपदवाच्यम्। तेन वाच्यैकदेशस्यात्यागादस्मिन् पक्षे जहदजहल्लक्षणैवेति न कोऽपि दोषः। अयमेव च पक्ष आभासवाद इति गीयते।

अथवा चिदाभास से अविविक्त चैतन्य भी 'तत्' और 'त्वम्' पद का वाच्य है। इसलिए वाच्य के एकदेश के अत्याग से इस पक्ष में जहत्-अजहत् लक्षणा ही है। इससे कोई दोष नहीं। इसी पक्ष को आभासवाद[२] कहते हैं।

अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति विवरणकाराः। अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः, बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः, अज्ञानानुपहितं तु बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरककाराः। अनयोश्च पक्षयोर्बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम्।

---

२ भाव यह है कि जपाकुसुम के सन्निहित स्फटिकमें दृश्यमान रक्तिमा को प्रायः 'रक्तिमाभास' और दर्पण में दृश्यमान मुख को प्रायः 'मुख का प्रतिबिम्ब' कहा जाता है। कहीं पर 'स्फटिक में रक्तिमा का प्रतिबिम्ब और दर्पण में मुख का आभास होता है' ऐसा भी प्रयोग देखा जाता है। वहाँ आभास को ग्रहण करनेवाली स्फटिकरूप उपाधि स्वसमीपस्थित जपाकुसुमगत केवल रक्तिमा-गुण को ही स्व (स्फटिक) में दिखाती है, प्रतिबिम्बग्राहक दर्पणरूप उपाधि तो अपने अभिमुख गुणविशिष्ट मुखरूप वस्तु ही को उससे भिन्न की तरह स्व (दर्पण) के अन्तर्गत दिखाती है। चैतन्य तो ज्ञान ही है, अन्य कोई उसका आश्रय नहीं। इस रीति से दर्पण के सदृश अथवा स्फटिक के सदृश बुद्धिरूप उपाधि में प्रतीयमान चैतन्य में जपाकुसुम की रक्तता के सदृश कोई विशेष नहीं है। किन्तु जैसे प्रतिबिम्बस्थल में वास्तव में विचार करने से दर्पण के अन्दर मुख नहीं, प्रत्युत दर्पण के प्रतिघात से परावृत (लौटे हुए) नेत्र की किरणों से बिम्बभूत मुख ही अन्य की तरह देखा जाता है और वह मुख बिम्बरूप से सत्य और प्रतिबिम्बरूप से असत्य है। ऐसी दशा में बिम्बभूत स्वरूप से सत्य चैतन्य ही बुद्धिरूपी उपाधि के सन्निधान से असत्य प्रतिबिम्बरूप से दृश्यमान होता हुआ जीवशब्द का वाच्य है—यह प्रतिबिम्बवादियों का मत है। इस मत में 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा का सम्भव नहीं है। आभासवाद में तो जैसे स्फटिक में प्रतिघात-परावृत्त चाक्षुषकिरणों से जपाकुसुमगत रक्तिमा का दर्शन नहीं हो सकता—क्योंकि वहाँ किरणों की परावृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु जपाकुसुमगत रक्तिमा के सदृश अन्य ही रक्तिमा स्फटिक में दीखती है और वह रक्तिमा स्वरूप से असत्य है—वैसे ही 'बुद्धिरूपी उपाधि में स्थित चिदाभास ही जीवशब्द का वाच्य है' इस मत में तत्त्वमसि-वाक्य में जहल्लक्षणा का सम्भव है। बुद्धिरूपी उपाधि में रहनेवाला चिदाभास और उससे भिन्न बिम्बभूत चेतन दोनों मिलकर जीवशब्द के वाच्य हैं। इस मत में जहदजहल्लक्षणा भी हो सकती है। अब प्रतिबिम्बवादको दिखाते हैं 'अज्ञानोपहितम्' इत्यादि ग्रन्थ से।

प्रतिविम्बस्य च पारमार्थिकत्वाज्जहदजहल्लक्षणैव तत्त्वमादिपदेषु। इममेव च प्रतिबिम्बवादमाचक्षते।

अज्ञान[1] से उपहित बिम्बचैतन्य ईश्वर है। अन्तःकरण और अन्तःकरण[2] के संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, यह विवरणकार का मत है। अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव। अज्ञानोपाधिरहित बिम्ब-चैतन्य शुद्ध[3] हैं—यह संक्षेपशारीरककारों का मत है। इन दोनों पक्षों में बुद्धि[4] के भेद से जीव नाना हैं। [5]प्रतिबिम्ब के पारमार्थिक होने से 'तत्-त्वम्' आदि पदों में जहदजहती लक्षणा ही है। इसीको प्रतिबिंम्बवाद कहते हैं।

अज्ञानविषयीभूतं चैतन्यमीश्वरः अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति—वाचस्पतिमिश्राः। अस्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वाज्जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं च

---

१ अज्ञानानुपहित तो शुद्ध ही है। ईश्वरबिम्ब चैतन्यरूप है और जीव प्रतिबिम्बरूप है—यह विवरणकारों का मत है। इसीको 'प्रतिबिम्बवाद' कहते हैं।

२ अन्तःकरण और अन्तःकरण के संस्कार इन दोनों में से अन्यतर (किसी एक) से अवच्छिन्न अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। सृष्टिकाल में अज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न होता है और प्रलयकाल में अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न होता है, यह विवेक है। अन्तःकरण और उसके संस्कार अनेक हैं, इसलिए तादृश उपाधि के भेद से एक ही अज्ञान घटाकाशादि की तरह नाना हो जाता है और उसमें प्रतिबिम्बित चेतन भी नाना हो जाते हैं। इस प्रकार एक अविद्यापक्ष में भी नाना जीववाद का समर्थन हो जाता है।

३ 'जीव, ईश्वर इन दोनों में अनुगत साक्षीरूप शुद्ध है' इस संक्षेप-शारीरककार के मत में जीव और ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्ब हैं, इसलिए यह स्पष्ट ही प्रतिबिंम्बवाद है। इस मत में समष्टि अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और व्यष्टि अज्ञान के कार्यभूत अनेक बुद्धियों में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव हैं।

४ बुद्धि अन्तःकरण को कहते हैं। आद्य पक्ष में बुद्धियों के भेद से बुद्धि के संस्कारों का भेद और संस्कारों के भेद से संस्कारावच्छिन्न अज्ञान का भेद और संस्कारावच्छिन्न अज्ञान के भेद से संस्कारावच्छिन्न अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य का भेद इस प्रकार जीव नाना हैं। अन्यपक्ष में तो बुद्धि के भेद से बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य का भेद है, इस प्रकार जीव नाना हैं।

५ प्रतिबिम्ब बिम्ब से अन्य नहीं हैं, यह अभी कहा है, इसलिए प्रतिबिम्ब बिम्बरूप से पारमार्थिक ही है। अब वाचस्पति मिश्र का अभिमत अवच्छेदवाद दिखाते हैं—'अज्ञानविषयीभूतम्' इत्यादि ग्रन्थ से।

प्रपञ्चभेदः, जीवस्यैवाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चातिसादृश्यात् ईश्वरस्य च सप्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेदवादः।

अज्ञान[1] का विषय जो चैतन्य है वही ईश्वर है और अज्ञान का आश्रय चैतन्य जीव है—यह वाचस्पति मिश्र का मत है। इस पक्ष में अज्ञानों के नाना होने से जीवों को

---

१ भावरूप अज्ञान के सम्बन्ध से स्वयं (जीव) ही स्व के रूप (ईश्वर) को नहीं जानता। जिसे नहीं जानता, उस रूप से वह ईश्वर है और जो नहीं जानता, उस रूप से वह जीव है। अज्ञान अनादि है, इसलिए यह अवस्था भी अनादि है। अज्ञान नाना हैं, अज्ञान की अपेक्षा अन्य कोई माया नहीं है। अज्ञान ही ईश्वर की उपाधियाँ हैं। वे अज्ञान विषयता-सम्बन्ध से ईश्वर के स्वरूप के अवच्छेदक हैं और आश्रयता सम्बन्ध से जीव के स्वरूप के अवच्छेदक हैं। तथा च, जैसे लोक में तूलाविद्या से उत्पन्न होनेवाले रजताभासस्थल में अविद्या की विषयीभूता शुक्ति रजत के उत्पादन में समर्थ नहीं होती, किन्तु अविद्या जिसके आश्रित होकर नृत्य करती है, वह जीव ही अविद्या की सहायता से रजत की कल्पना करता है; वैसे ही चेतन भी ईश्वर मूलाज्ञान का विषय होने से जगत् के उत्पादन में समर्थ नहीं है; किन्तु जीव ही अपनी-अपनी अविद्या की सहायता से जगत् की कल्पना करते हैं।

कुछ आचार्यों ने व्यवहार की सिद्धि के लिए कूटस्थ, ब्रह्म, जीव, ईश—इन भेदों से चार चेतनों की कल्पना की है और अन्यों ने व्यवहार की सिद्धि के लिए जीव, ईश, शुद्ध भेद से तीन चेतनों की कल्पना की है, वे कल्पनाएँ भी इस मत में नहीं करनी पड़तीं। किन्तु यहाँ जीव और ईश्वर के भेद से चेतन के दो ही भेद हैं। निरुपाधिक शुद्ध ईश्वर एक ही है। जगत् के उत्पादन के लिए शुद्ध चैतन्य से अतिरिक्त मायोपाधिक अन्य ईश्वर की कल्पना करनी होती है। इस मत में जगत् का उत्पादन जीवकृत ही है। तथा च, शुद्ध चिति ही ईशपद से इस मत में कही जाती है और वही (शुद्ध चिति) नाना प्रकार के जीव और उनकी नाना प्रकार की अविद्याएँ और उनके कार्यभूत नाना प्रकार के प्रपञ्च—इन सबकी अधिष्ठानभूता है। इसलिए उपचार से वह जगत्-कारण कही जाती है।

इस मत में चूँकि नाना प्रकार के जीव प्रत्येक प्रपञ्च की कल्पना करनेवाले हैं, इसलिए प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भिन्न-भिन्न है। चैत्र के अज्ञान से कल्पित प्रपञ्च मैत्र के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, क्योंकि चैत्र को 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान होने पर चैत्र से भिन्न पुरुषों को उस रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता। कारण अपने अज्ञान से कल्पित का अपने को ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। जहाँ पर एक ही घट को बहुत-से चैत्रादि देखते हैं—ऐसा अनुभव होता है, वहाँ भी वास्तव में एक घट नहीं, किन्तु अनेक घट हैं। एक-एक द्रष्टा एक-एक ही घट को देखता है। 'जो घट चैत्र ने देखा, वही मैत्र ने देखा', इस प्रत्यभिज्ञा का तो 'यह वही ओषधि है' इस प्रत्यभिज्ञा की तरह सजातीयता से उपपादन करना चाहिये। कोई कहते हैं कि जहाँ दस पुरुषों ने एक घट देखा, वहाँ दस द्रष्टाओं के दस अज्ञानों ने मिलकर

नाना मानते हैं। प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भी पृथक्-पृथक् है। जीव अज्ञानोपाधि होने से संसार का उपादानकारण है। प्रत्यभिज्ञा अत्यन्त सादृश्य से होती है। प्रपञ्चसहित जीव की उपाधिरूप अविद्या का अधिष्ठान होने से ईश्वर में कारणत्व का उपचार है, यही अवच्छेदवाद है।

अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा अज्ञानानुपहितं शुद्धं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो

एक घट उत्पन्न किया है। इस प्रकार उक्त प्रत्यभिज्ञा का उपपादन समीचीन रीति से हो सकता है। इस सन्दर्भ से वार्त्तिककार के मत में आभासवाद, संक्षेपशारीरककार के मत में प्रतिबिम्बवाद और वाचस्पति मिश्र के मत में अवच्छेदवाद है, यह दिखाया गया।

इन पक्षों में कौन-सा पक्ष युक्ततर है? वैसे ही 'माया चाविद्या चैकैवेति' यह माया और अविद्या का अभेदवाद है, 'माया चाविद्या च भिन्नैवेति' यह माया और अविद्या का भेदवाद है, इन दोनों पक्षों में से कौन-सा युक्ततर है? वैसे ही एक ही अविद्या जीवत्व-प्रापक उपाधि है; इस पक्ष में एकजीववाद है; एक ही अविद्या अन्तःकरण और अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न होकर जीव की उपाधि है, इस पक्ष में नाना अविद्यारूप जीव की उपाधि होने से नाना जीववाद है; इन पक्षों में कौन-सा युक्ततर है? वैसे ही आश्रयता-सम्बन्ध से माया ईश्वर की उपाधि है, इस पक्ष में जगत् ईशरचित है और विषयता-सम्बन्ध से माया ईश्वर की उपाधि है, इस पक्ष में जीवरचित है; इन पक्षों में कौन-सा युक्ततर है? वैसे ही जगत् जीव-रचित है, इस पक्ष में दृष्टि-सृष्टिवाद है। ईश्वराश्रित माया से जगत् रचित है, इस पक्ष में साधारण सृष्टिवाद है। 'दृष्टि के अनुरोध से सृष्टि होती है' ऐसा जो वाद है उसको दृष्टि-सृष्टिवाद कहते हैं। जैसे स्वप्न में जितना जिसने देखा है, उतना ही वहाँ उत्पन्न हुआ है और नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अथवा जैसे नैयायिक-मत में दो घड़ों में रहनेवाला द्वित्व जब ज्ञात होता है, उसी समय द्रष्टा की अपेक्षाबुद्धि से दो घड़ों में द्वित्व उत्पन्न होता है। उससे पहले एक घट के समीप अन्य घट की बहुत काल तक स्थिति होने पर भी द्वित्व उत्पन्न नहीं होता। और जैसे जीव में आश्रित तूलाविद्या से रचित प्रातिभासिक रजत जब तक देखा जाता है, तभी तक उसकी रचना होती है, उससे पहले या पीछे नहीं; वैसे ही यह समझना चाहिये, क्योंकि व्यावहारिक वस्तु ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो वह कार्य में समर्थ हुआ करती है, जैसे ज्ञात और अज्ञात अग्नि दाह को उत्पन्न करती ही है। प्रातिभासिक वस्तु तो कदापि अज्ञात होकर कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकती; क्योंकि अज्ञात प्रातिभासिक की सत्ता ही नहीं है तो वह कैसे कार्य करने में समर्थ हो? ज्ञान-काल ही में उसकी सत्ता है। यही दृष्टि-सृष्टिवाद का बीज है। दृष्ट अथवा अदृष्ट सब वस्तु अपनी-अपनी कारण-सामग्री से उत्पन्न होती हैं। दर्शनकाल ही में उत्पन्न होती हैं, यह नहीं। उनका दर्शन यदा-कदा हो सकता है, ऐसा जो वाद है, उसको साधारण सृष्टिवाद कहते हैं। इस तरह अनेक प्रकार के संशय होते हैं। अब युक्ततर सिद्धान्त का प्रदर्शन करते हैं—'अज्ञानो-

वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः। इममेव च दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते। अस्मिंश्च पक्षे जीव एव स्वाज्ञानवशाज्जगदुपादानं निमित्तं च। दृश्यं च सर्वं प्रातीतिकम्। देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिः।

अज्ञान[१] से उपहित बिम्ब-चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। अथवा अज्ञानोपाधिरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर है। अज्ञानोपहित चैतन्य जीव

पहितम्' इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ से अनेक प्रकार के संशय होते हैं। अब युक्ततर सिद्धान्त का प्रदर्शन करते हैं—'अज्ञानोपहितम्' इत्यादि ग्रन्थ से।

१ भाव यह है कि जैसे आकाश चार प्रकार का है—मूलभूत निरुपाधिक महाकाश एक, जल आदि उपाधि से सन्निहित सोपाधिक द्वितीय, जलान्तर्गत जन्तुआदि से अवच्छिन्न तृतीय और जल में प्रतिबिम्बित चतुर्थ; वैसे ही चैतन्य भी चार प्रकार का है—मूलभूत निरुपाधिक चैतन्य एक, अविद्योपाधियुक्त सोपाधिक द्वितीय, अविद्यावच्छिन्न अविद्यान्तर्गत तृतीय और अविद्याप्रतिबिम्बित चतुर्थ। इस 'प्रतिबिम्बवाद' में इनमें से चतुर्थ जीव का स्वरूप है और द्वितीय ईश्वर का स्वरूप है। तृतीय ईश्वर का स्वरूप है, यह कल्पना तो कर नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर जीवों का नियन्ता है और प्रतिबिम्ब बिम्ब के अधीन होता है। इसलिए उपाधि से बहिर्भूत बिम्ब-चैतन्य ही उसका नियामक हो सकता है, उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य नहीं। 'अवच्छेदवाद' में उक्त चार भेदों में से तृतीय जीवस्वरूप है और प्रथम ईश्वरस्वरूप। इस मत में द्वितीय ईश्वरस्वरूप है, यह कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि वह उपाधि के बहिर्भूत होने से उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य के प्रति नियामक नहीं हो सकता। उपाधि के अन्तर्गत चैतन्यस्वरूप जीव का नियामक तो सर्वव्यापक शुद्ध चैतन्य ही है। इस प्रकार 'प्रतिबिम्बवाद' और 'अवच्छेदवाद' की रीति से दोनों प्रकारों से जीव-ईश्वर का स्वरूप यहाँ सिद्धान्तित है, इसलिए आचार्य ने उन्हींका निर्देश किया है।

आभासवाद का तो यहाँ उल्लेख ही नहीं है। इसका कारण यह है कि आभासवाद में उपाधिविशिष्ट चिदाभास ही जीव है। उनमें उपाधि अंश और आभास अंश दोनों ही मिथ्या हैं। इसलिए मोक्ष में जीव के स्वरूप का विनाश है, यह जानकर किसी पुरुष की प्रवृत्ति न होगी। यद्यपि शुद्ध चैतन्य मोक्ष का भागी शेष रह ही जाता है, परन्तु उससे क्या? उसका तो जीव-शब्द की वाच्यकोटि में प्रवेश ही नहीं है। और जो 'अयमेव हि नोऽनर्थो यत् संसार्यात्मदर्शनम्' (यही हमारे लिए अनर्थ है जो संसारी आत्मा का दर्शन है) इस वार्तिक में कहा हुआ संसारी आत्मा का दर्शन है, वह शुद्ध चैतन्य को होता है, अथवा चिदाभास को? आद्य पक्ष में जीव बद्ध नहीं है, क्योंकि संसारी आत्मा का दर्शनरूप बन्ध चिदाभासरूप जीव में है नहीं। द्वितीय पक्ष में चिदाभास मुक्त नहीं है, इसलिए बन्ध-मोक्ष का वैयधिकरण्य तदवस्थ ही रहता है। माया और अविद्या दोनों एक ही हैं, क्योंकि इसमें लाघव है। यह सब कल्पना व्यवहारसिद्धि के लिए है और व्यवहार माया अविद्या के अभेद में भी सिद्ध हो सकता है। जब माया और अविद्या का अभेद सिद्ध हो गया, तो अविद्या भी एक ही सिद्ध होती है। वह एक अविद्या स्वरूप ही से जीवत्वप्रापक उपाधि

है। यही मुख्य वेदान्त का सिद्धान्त है। यही 'एकजीववाद' कहलाता है। इसीको 'दृष्टि-सृष्टिवाद' कहते हैं। इस पक्ष में जीव ही अपने आवरक अज्ञान से जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारण भी है। सब दृश्य पदार्थ प्रातिभासिक हैं और देह के भेद से जीव के भेद का भ्रम होता है।

एकस्यैव च स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदाढर्चादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः। शुकादीनां मोक्षश्रवणं चार्थवादः। महावाक्ये च तत्पदमनन्तसत्यादिपदवदज्ञानानुपहितचैतन्यस्य लक्षणया उपस्थापकमित्याद्या अवान्तरभेदाः स्वयमूहनीयाः।

एक[1] ही जीव का, अपने से कल्पित गुरु और शास्त्रों द्वारा श्रवण-मनन की दृढता से आत्मसाक्षात्कार होने पर, मोक्ष होता है। शुकदेवजी का मोक्ष हुआ, ऐसा

है, इसलिए जीव भी एक ही है। जीव-भेद की जो प्रतीति होती है, वह देह-भेदमूलक भ्रम है। सुख-दुःखादि की उपलब्धि का भेद तो अन्तःकरणों के भेद से सिद्ध हो सकता है, क्योंकि कर्तृत्व, भोक्तृत्वप्रापक उपाधि अन्तःकरण ही है। अन्तःकरण नाना हैं। इसलिए एकजीववाद में सब शरीरों में क्रियासाम्य और भोगसाम्य की आपत्ति नहीं आ सकती।

शङ्का—यदि माया और अविद्या एक ही हैं, तो वही जीवत्वप्रापक उपाधि है और वही ईशत्वप्रापक उपाधि; क्योंकि दूसरी कोई उपाधि है नहीं। ऐसी दशा में उपाधि की एकता होने पर जीव और ईश्वर का भेद कैसे?

उत्तर—यद्यपि दोनों की एक ही उपाधि है, तथापि वह एक ही प्रकार से दोनों की उपाधि नहीं है। किन्तु विषयता-सम्बन्ध से ईश्वर की उपाधि और आश्रयता-सम्बन्ध से जीव की उपाधि है। ईश्वर केवल अविद्या का विषय ही है, आश्रय नहीं। अविद्या का आश्रय तो जीव ही है। अविद्या का आश्रय न होने से ईश्वर जगत् की रचना नहीं करता। किन्तु स्वाप्निक गज, रथादि की तरह जीव ही स्वाश्रित अविद्या से जगत् की कल्पना करता है। तथा च इस मत में अर्थात् ही दृष्टि-सृष्टिवाद फलित होता है। इसलिए सब दृश्य पदार्थ प्रातिभासिक ही हैं, यह सिद्धान्तरहस्य है।

१ 'एकजीववाद' में दो कल्प हैं—क्या एक ही जीव सब शरीरों में स्थित है, अथवा किसी एक शरीर में स्थित है? प्रथम कल्प तो युक्त नहीं, क्योंकि दूसरे शरीर में होनेवाले सुखादि का दूसरे शरीर में अनुसन्धान का प्रसङ्ग हो जायगा। शरीर-भेद अननुसन्धान का नियामक है, यह कल्पना तो कर नहीं सकते, क्योंकि कायव्यूह में शरीरान्तरस्थ सुखादिकों का शरीरान्तर में योगी को अनुसन्धान होता ही है। इसलिए अन्त्य कल्प ही युक्त है। यद्यपि इस कल्प में अमुक शरीर में जीव स्थित है—यह निश्चय नहीं हो सकता, तथापि किसी

कहना अर्थवाद है। महावाक्य[1] में स्थित 'तत्' पद भी अनन्त, सत्य आदि पदों के समान अज्ञान से अनुपहित चैतन्य का लक्षणा से बोध कराता है, इत्यादि अवान्तर-भेदों को स्वयं जान लेना चाहिये।

ननु वस्तुनि विकल्पासम्भवात् कथं परस्परविरुद्धमतप्रामाण्यम्। तस्मात् किमत्र हेयं किमुपादेयमिति चेत्, क एवमाह—वस्तुनि विकल्पो न सम्भवतीति, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वा' इत्यादिविकल्पस्य वस्तुन्यपि दर्शनात्। अतात्त्विकी सा कल्पना पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवा। इयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागादिव्यवस्थेति चेत्, नूनमतिमेधावी भवान्! अद्वितीयात्मतत्त्वं हि प्रधानं फलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयं शास्त्रस्य। जीवेश्वरविभागादिकल्पनास्तु पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवा अपि शास्त्रेणानूद्यन्ते, तत्त्वज्ञानोपयोगित्वात्। 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमि'ति न्यायाद्। अप्रसिद्धस्यापि श्रुत्याऽनुवादसम्भवात्।

एक में स्थित है, यह निश्चय तो हो ही सकता है। बस, जिसमें स्थित है, वही जीव मुख्य है। अन्य सब देवदत्त आदि मिथ्याभूत जीवाभास उससे कल्पित हैं, इसलिए सभी मिथ्या ही हैं। जैसे नाना-जीववाद में भी यज्ञदत्त से स्वप्न में कल्पित देवदत्त आदि मिथ्या होते हैं, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। गुरु-शिष्य-भाव और श्रवण-मनन आदि सब उस एकशरीरस्थ जीव से कल्पित हैं। जब कभी आत्मसाक्षात्कार से मोक्ष होगा, तो उसी एक का होगा, और किसीका नहीं; क्योंकि और जीव ही नहीं हैं। ऐसी दशा में 'अनेक शुक, वामदेवादि मुक्त हो गये' यह कहना अर्थवादमात्र है, वस्तुस्थिति नहीं। यदि शुकदेव की मुक्ति मान ली जाय, तो इस काल में जगत् का दर्शन ही न हो। इसलिए एकजीववाद में एक शुक की मुक्ति होने से सबकी मुक्ति का प्रसङ्ग है ही। यह एक मुख्य जीव जिस शरीर में स्थित है तथा अन्य सब शरीर और उनमें रहनेवाले सब अन्तःकरणादिक भी व्यावहारिक सत्य ही हैं। परन्तु अन्य शरीरों में सब जीव प्रातिभासिक (मिथ्याभूत) हैं, यह समझना चाहिये।

शङ्का—'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद पूर्वप्रकरण में स्थित जगत्-कारण का परामर्शक है। यदि वह जगत्-कारण जीव है, तो उसका 'त्वं' पद के वाच्य सम्बोध्य (श्वेतकेतु) जीव में अभेदान्वय का सम्भव है। फिर क्या यह महावाक्य ब्रह्म-प्रतिपादक न होगा? इसके उत्तर में कहते हैं—'महावाक्ये च' इति।

१ उद्दालक श्वेतकेतु के प्रति आत्मतत्त्व का उपदेश करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। तथा च, प्रकरण के अनुरोध से यह श्रुति ब्रह्मपरक है, ऐसा निश्चय होने पर तात्पर्य की की अनुपपत्ति से 'तत्' पद और 'त्वं' पद इन दोनों की निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य में लक्षणा का स्वीकार है, इसलिए श्रुति का तात्पर्य उपपन्न होता है।

वस्तु[1] में तो विकल्प हो ही नहीं सकता, इसलिए परस्पर विरुद्ध मतों में प्रामाणिकता कैसे ज्ञात होगी? इसलिए यहाँ पर किसका ग्रहण करना चाहिये? यह यदि कहो, तो पहले बताओ कि कौन कहता है कि वस्तु में विकल्प नहीं होता? स्थाणु है या पुरुष अथवा राक्षस है? इत्यादि विकल्प वस्तु में भी देखा जाता है।

शङ्का—वह कल्पना तात्त्विक नहीं, किन्तु पुरुष की बुद्धिमात्र से पैदा हुई है। यह जीव-ईश्वर के विभाग की व्यवस्था तो शास्त्रीय[2] है।

समाधान—निश्चय[3], आप बड़े बुद्धिमान् हैं। अद्वितीय आत्मतत्त्व फलवाला होने से शास्त्र का प्रधान है और अज्ञात होने से वही (अद्वितीय आत्मतत्त्व) शास्त्र का प्रमेय है। जीव और ईश्वर के विभाग की कल्पना यद्यपि पुरुषों की बुद्धि से उत्पन्न हुई है, तथापि शास्त्र उसका अनुवाद करता है, क्योंकि वह तत्त्वज्ञान में

---

१ सिद्ध वस्तु का एक ही प्रकार का स्वरूप हुआ करता है। उसमें 'वस्तु ऐसी है या वैसी' यह कथन सम्भव नहीं। यदि ऐसा कहें, तो एक ही कथन को प्रामाण्य होगा, अन्य सब कथन अप्रमाण होंगे। ऐसी दशा में परस्पर विरुद्ध जीवस्वरूप के प्रतिपादक वार्तिककार, संक्षेपशारीरककार, वाचस्पति मिश्र इनमें से कोई एक ही यथार्थ वक्ता हो सकता है। उस एक का मत उपादेय और अन्यों का त्याज्य होना चाहिये, यह आशय है।

२ शास्त्र तत्त्वावेदक है, इसलिए जीवेश्वरस्वरूप के विभाग की शास्त्रोक्त-व्यवस्था मुमुक्षुओं को प्रमाण माननी चाहिये, यह आशय है। सोपहास दूषित करते हैं—'नूनम्' इस ग्रन्थ से।

३ शास्त्र में जिन-जिन विषयों का प्रतिपादन किया जाता है, उनमें से एक ही मुख्य होता है और सब उसके साक्षात्कार के उपयोगी हुआ करते हैं। शास्त्र में अद्वितीय आत्मतत्त्व का ज्ञान मोक्ष का साधन कहा गया है। वही मुख्य प्रमेय है। आत्मतत्त्व का ज्ञान जिस-जिस मार्ग से सुलभ हो सकता है, वैसे अनेक मार्ग ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पना करके दिखाये हैं। कल्पित वस्तु कभी सत्य भी हुआ करती है, इसलिए ग्रन्थकारों द्वारा प्रदर्शित मार्गों में कोई एक मार्ग सत्य भी हो सकता है। परन्तु परस्पर विरुद्ध अनेक मार्गों के सत्य होने में सम्भावना की गन्ध भी नहीं है। कदाचित् ये सभी प्रदर्शित मार्ग असत्य हों, यह भी सम्भव है। जो कुछ भी हो, मुख्य प्रमेय के ज्ञान के उपकारक सभी मार्ग हो सकते हैं, इसलिए अप्रामाण्य की शङ्का का अवकाश नहीं है। जैसे श्रुति में भी कोई अर्थवादवाक्य सर्वथा अविद्यमान अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ भी विधिप्ररोचनरूप मुख्य कार्य को सिद्ध करता ही है, एतावता अर्थवाद-वाक्य में अप्रामाण्य नहीं होता, वैसे ही

उपयोगी है। 'फलवान् की सन्निधि में फलरहित प्रधान का अङ्ग हो जाता है' इस न्याय से भ्रम[1] से सिद्ध जीव-ईश्वर-विभाग का श्रुति से अनुवाद हो सकता है।

एतेन द्वैतज्ञानेनाद्वैतज्ञानस्य बाधो निरस्तः, घटादिद्वैतनिश्चयस्याप्यद्वैत-सन्मात्रांशे अज्ञाते प्रामाण्याभ्युपगमाच्च। ज्ञानाज्ञानयोः समानाश्रयविषयत्व-नियमात्। जडे च प्रमाणप्रयोजकाभावेन अज्ञानानङ्गीकारात्। सर्वप्रमाणानां चाज्ञातज्ञापकत्वेन प्रामाण्यात्। तदवच्छिन्नचैतन्याज्ञानादेव तत्राप्यज्ञातव्यव-हारोपपत्तेः। प्रामाण्यस्य चाज्ञातज्ञापकरूपत्वात्। अन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तिरिति।

इससे[2] द्वैतज्ञान से अद्वैतज्ञान के बाध का निराकरण हो गया। घटादि[3] द्वैतज्ञान भी अज्ञात अद्वैत सन्मात्र अंश में प्रमाण है, ऐसा स्वीकार किया है। ज्ञान और

यहाँ भी समझना चाहिये। यदि ये सब मार्ग असत्य ही हैं, तो 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि श्रुतियों में उसका कथन क्यों है? इसका उत्तर कहते हैं— 'भ्रमसिद्धस्यापि' से।

१ जैसे असत्य स्वप्न-प्रपञ्च का श्रुति अनुवाद करती है, वैसे ही असत्य व्यावहारिक प्रपञ्च का भी वह अनुवाद ही करती है।

२ जीवेश्वर-विभागरूप द्वैतप्रपञ्च की प्रतीति के मूलभूत अज्ञान के सिद्ध करने से उक्त रीति से अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान ही परम पुरुषार्थ का साधन है। अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान ही फलवान् होने से और अज्ञानविषयक होने से सबसे बलवान् प्रमाण है। द्वैतज्ञान प्रमाण नहीं, क्योंकि वह अध्यासमूलक होने से दुर्बल है।

३ विरोध होने पर बलवान् से बाधित दुर्बल में अप्रमाणिकता हुआ करती है। यहाँ तो विरोध ही नहीं है, क्योंकि 'घटोऽस्ति' यहाँ घट-अंश और सत्-अंश प्रतीत होते हैं। उनमें से सत्-अंश के साथ तो अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान का विरोध नहीं है, क्योंकि स्व के साथ स्व का विरोध नहीं हुआ करता। अद्वितीय आत्मतत्त्व ही तो सत् अंश है। ऐसी दशा में विरोध का अभाव होने से घटज्ञान सत्-अंश में प्रमाण ही है। घट-अंश के साथ भी उसका विरोध नहीं है, क्योंकि घट-अंश ज्ञात ही नहीं है। उसके साथ विरोध कैसे? 'घटः प्रकाशते' यह व्यवहार तो घट के अधिष्ठान चेतन-अंश के अभिप्राय से है और यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा जो घट स्वरूप से जड़ एवं प्रकाश के विरुद्ध स्वभाववाला है, वह स्वरूपतः कैसे प्रकाशित हो सकता है? इसलिए घट के अधिष्ठान चेतन ही का घटरूप से प्रकाश होता है, उस प्रकाश का घट में आरोप करके 'घटः प्रकाशते' यह व्यपदेश गौण ही है। किंच, जो अज्ञान का आश्रय हुआ करता है, वही ज्ञान का आश्रय हुआ करता है। अचेतन

अज्ञान इन दोनों के आश्रय और विषय एक हुआ करते हैं, यह नियम है। जड़ में प्रमाण और प्रयोजन का अभाव होने से अज्ञान का अङ्गीकार नहीं है। सब प्रमाणों को अज्ञातज्ञापक होने के कारण ही प्रामाण्य है। तत्-तत् विषयावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान से तत्-तत् विषयों में अज्ञानव्यवहार की उपपत्ति हो जायगी। अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रामाण्य का स्वरूप है। अन्यथा (ज्ञातज्ञापक को प्रमाण मानने पर) स्मृति को भी प्रमाण मानना पड़ेगा।

एवं वेदान्तेषु सर्वत्रैवंविधे विरोधेऽयमेव परिहारः। तदाहुर्वार्त्तिककारपादाः—

'यया यया भवेत्पुंसो व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता ॥'—इति।

श्रुतितात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्धं च हेयमेवेति शतश उद्घोषितमस्माभिः। तस्मान्न किञ्चिदेतत्। तदेवं जीवस्योपाधिनाऽभिभूतत्वात् संसारोपलब्धिः। परमेश्वरस्य तु उपाधिवशित्वात् सर्वज्ञत्वादिकमिति सम्यगुपपद्यते व्यवस्था।

इस[1] प्रकार वेदान्त में सब जगह ऐसे विरोध होने पर यही परिहार है। वार्तिककारपादों ने भी कहा है—

पाषाण आदि अज्ञान के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का समान आश्रय हुआ करता है, यह नियम है। इसलिए जो अज्ञान का विषय है, वही ज्ञान का विषय है, यह नियम है। घट अज्ञान का विषय नहीं, इसलिए वह ज्ञान का भी विषय नहीं। अतः घट-अंश ज्ञात नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

शङ्का—'घटं न जानामि' (मैं घट को नहीं जानता) इस प्रकार घट में अज्ञान-विषयता की प्रतीति होती है।

उत्तर—घट के अधिष्ठान चेतन के ही अज्ञान से 'घटमहं न जानामि' इस व्यवहार की सिद्धि हो सकती है। इसलिए अतिरिक्त घटविषयक अज्ञान की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। गौरव भी है, चित्-अंश के अज्ञान के प्रयोजन की अपेक्षा स्वतन्त्ररूप से घटविषयक अज्ञान का कोई प्रयोजन भी नहीं है। अतः चेतन-अंश ही अज्ञात है। चेतन-अंश की ज्ञापकता ही से 'घटोऽस्ति' इस ज्ञान को प्रामाण्य है, घट-अंश की ज्ञापकता से नहीं। घट-अंश तो अज्ञान का विषय ही नहीं है। अज्ञातज्ञापक ही प्रमाण हुआ करता है। अन्यथा ज्ञातज्ञापक स्मृति में भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग हो जायगा।

१ जैसे जीव के स्वरूप के विषय में अनेक निबन्धकारों द्वारा कल्पित आभास आदि वाद परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि अद्वितीय आत्मतत्त्व-

'जिस-जिस प्रक्रिया से पुरुष को प्रत्यगात्मा में व्युत्पत्ति हो, वही प्रक्रिया साध्वी समझनी चाहिये। वह अनवस्थित[1] है।' श्रुतितात्पर्य-विषयीभूत अर्थ से विरुद्ध अर्थ का त्याग कर देना चाहिये, यह बात हमने सैकड़ों बार उद्घोषपूर्वक कही है। अद्वितीय आत्मा में ही सब प्रमाणों के समन्वय का समर्थन होने से कुछ असमञ्जस नहीं है। इस प्रकार जीव को उपाधि से अभिभूत होने से संसार की उपलब्धि होती है। उपाधि परमेश्वर के वश में है, अतः परमेश्वर में सर्वज्ञत्वादि हैं। इससे व्यवस्था ठीक बन गयी।

ननु भवत्वविद्यावशात् जीवेश्वरविभागव्यवस्था। मानमेयादिप्रतिकर्म-व्यवस्था तु कथमिति चेत्, उच्यते। दृश्यत्वाज्जडत्वाद्विनाशित्वाच्च परिच्छि-न्नाऽप्यविद्या अनिर्वचनीयत्वेन विचारासहा आवरणविक्षेपशक्तिद्वयवती सर्वगतं चिदात्मानमावृणोति, अङ्गुलिरिव नयनपुरःस्थिता सूर्यमण्डलम्। तत्र चक्षुष एवाऽऽवरणेऽङ्गुलेरप्यभानप्रसङ्गात्, अधिष्ठानावरणमन्तरेण विक्षेपानुपपत्तेश्च।

शङ्का—अविद्या के वश से जीव और ईश्वर-विभाग की व्यवस्था भले ही हो जाय, पर प्रमाण[2], प्रमेय आदि प्रतिकर्म-व्यवस्था कैसे होगी?

रूप मुख्य प्रयोजन के ज्ञान की साधनता सब वादों में तुल्य ही है। उसीके लिए उनकी कल्पना है। तथा च, मुख्य प्रमेय के ज्ञान के उपकारक होने से सबका अविरोध है, इसलिए वे सभी ग्राह्य हैं। तत्त्वमसि' यह महावाक्य जीवात्मा और परमात्मा की एकता का बोधक है, यह सभी अद्वैतवादियों ने अङ्गीकार किया है। वार्तिककार के अनुयायियों ने जहल्लक्षणा से उसकी सिद्धि की है। संक्षेपशारीरक और वाचस्पति मिश्र के अनुयायियों ने जहदजहल्लक्षणा से एकता का उपपादन किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने लक्षणा के बिना ही उसका समर्थन किया है। इस प्रकार आपाततः प्रारम्भ में विरोध प्रतीत होने पर भी अन्त में ऐक्य-प्रतिपादन में अविरोध ही है।

१ अनिश्चित है। फिर भी तो कोई हानि नहीं, क्योंकि मुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ के विरुद्ध नहीं है।

२ सब कालों में सब पुरुषों से सब पदार्थ ज्ञात नहीं होते, किन्तु किसी काल में किसी पुरुष से कोई ही पदार्थ ज्ञात होता है। इस व्यवस्था को 'मानमेयादि-प्रतिकर्म-व्यवस्था' कहते हैं। यह व्यवस्था ईश्वर में नहीं है, क्योंकि ईश्वर को सदा ही सब पदार्थों का ज्ञान बना रहता है। इसलिए उक्त व्यवस्था जीव ही में है। उसमें उपपत्ति दिखाते हैं—'दृश्यत्वात्' इत्यादि ग्रन्थ से।

समाधान—इस विषय में कहा जाता है। दृश्य[1] होने से, जड़ होने से, विनाशी होने से परिच्छिन्न भी अनिर्वचनीय होने के कारण विचार को सहन न करती हुई आवरण और विक्षेप दो शक्तिवाली अविद्या सर्वगत चिदात्मा का आवरण कर लेती है, नेत्र के सामने रखी हुई अंगुलि[1] जैसे सूर्यमण्डल का आवरण कर लेती है। वहाँ[2] पर नेत्र के आवृत होने पर अंगुलि का भी अभान प्रसङ्ग होता है। अधिष्ठान[3] के आवरण के बिना विक्षेप की भी उपपत्ति नहीं हो सकती।

ततश्च स पूर्वपूर्वसंस्कारजीवकर्मप्रयुक्ता सती निखिलजगदाकारेण परिणमते। सा च स्वगतचिदाभासद्वारा चित्तादात्म्यापन्नेति तत्कार्यमपि सर्वमाभासद्वारा चिदनुस्यूतमेव।

---

१ दृश्य द्रष्टा की अपेक्षा से अन्य है, इसलिए उसमें वस्तु-परिच्छेद है। जड़ चेतन में कल्पित है, इसलिए चित् का अव्यापक होने से उसमें देशपरिच्छेद है। विनाशी है, इसलिए कालपरिच्छेद है। इस प्रकार दृश्या, जडा, और विनाशिनी अविद्या त्रिविध परिच्छेद से युक्त है। अविद्या स्वयं अनादि है और चिदात्मा के साथ उसका सम्बन्ध भी अनादि है। उसका चिदात्मा के साथ पूर्णतः सम्बन्ध नहीं है, किन्तु जैसे अल्प भी घट महाकाश के किसी भाग से संयुक्त होता है, वैसे ही यह अविद्या आत्मा के किसी भाग से संयुक्त है। ज्ञान से इसका बाध होता है, इसलिए यह सत् ही नहीं है। 'अहमज्ञः' इस प्रतीति से इसकी सिद्धि होती है, इसलिए असत् भी नहीं। अतएव वह सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीया है। अनिर्वचनीयत्व ही इसका स्वरूप है, इसलिए 'ऐसी है या वैसी' इस विचार का उसमें अवकाश नहीं है। अतः 'साऽध्यस्ताऽनध्यस्ता वा' यह प्रागुक्त विकल्प निरस्त हो गया। इस अविद्या की कार्य के अनुसार आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति इन दो शक्तियों की कल्पना की जाती है। उनमें आवरण-शक्ति से वह अखण्ड परमानन्द साक्षात्कारस्वरूप चिदात्मा का आवरण करती है—इसीलिए यह आत्मा स्वयंप्रकाशरूप होता हुआ भी स्वयंप्रकाशरूप से प्रतीत नहीं होता—और विक्षेपशक्ति से आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न करती है।

शङ्का हो कि जब अविद्या आत्मा के किसी एकदेश में स्थित है; तो वह सर्वव्यापक चिदात्मा का आवरण कैसे कर सकती है? इसका दृष्टान्त द्वारा उत्तर देते हैं—'अङ्गुलिरिव' इत्यादि ग्रन्थ से।

१ शङ्का—अङ्गुलि सूर्यमण्डल का ही आवरण करती है, चक्षुरिन्द्रिय का नहीं, इसमें प्रमाण देते हैं।

२ चक्षुरिन्द्रिय का आवरण होने पर अङ्गुलि का दर्शन नहीं हो सकता, इसलिए अङ्गुलि सूर्यमण्डल का ही आवरण करती है, यह कल्पना करनी चाहिये।

३ जैसे शुक्ति में रजताध्यासस्थल में यदि शुक्ति-अंश अनावृत हो, तो रजताध्यास नहीं हो सकता, वैसे ही यदि चिदात्मा अनावृत हो, तो प्रपञ्चाध्यास नहीं हो सकता।

इसलिए[1] वह अविद्या पूर्व-पूर्व संस्कार से जीव के कर्मों से प्रयुक्त होती हुई, समस्त संसार के आकार में परिणत हो जाती है। वह (अविद्या) अपने में रहनेवाले चिदाभास द्वारा चेतन के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त हुई है, अतः उसका समस्त कार्य आभास के द्वारा चेतन से अनुगत ही है।

तथा च चैतन्यस्य दीपवत्स्वसम्बद्धसर्वभासकत्वात् जगदुपादानचैतन्यं प्रमाणापेक्षामन्तरेणैव सर्वदा सर्वं भासयत्सर्वज्ञं भवति। तेन तत्र न मानमेयादिव्यवस्था; किन्तु जीवे, तस्य बुद्ध्यवच्छिन्नत्वेन परिच्छिन्नत्वात्। तेन चिदभिव्यक्तियोग्येन येनान्तःकरणेन यदा यत्सम्बद्धं भवति तदेव तदा तदवच्छिन्नो जीवोऽनुभवतीति न साङ्कर्यप्रसङ्गः।

क्योंकि चैतन्य दीपक की तरह अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थों का प्रकाशक हुआ करता है। इसलिए जगत् का उपादान चैतन्य ईश्वर प्रमाण की अपेक्षा के विना ही सर्वदा सबका भान करता हुआ सर्वज्ञ होता है। अतएव उसमें प्रमाण-

---

इसलिए प्रपञ्चाध्यास की अन्यथानुपपत्ति द्वारा अविद्या से चिदात्मा आवृत है, यह निश्चित होता है।

१ अविद्या का स्वगत चिदाभास के साथ तादात्म्य है। चिदाभास मुख्य चिति से अतिरिक्त नहीं है। इसलिए चिदाभास का मुख्य चित् के साथ तादात्म्य है। अतः अर्थात् सिद्ध हुआ कि अविद्या चित्तादात्म्य से युक्त है। अतः अविद्योपादानक यह सारा प्रपञ्च चित्तादात्म्य से युक्त ही है। चित् ही ईश पद का वाच्य है। ईश्वर दीपक की तरह स्व-सम्बद्ध सब पदार्थों का प्रकाशक है। स्वभावसिद्ध अर्थ में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं हुआ करती, इसलिए ईश्वर का ज्ञान कादाचित्क नहीं है; किन्तु सर्वदा बना रहता है। इसी कारण ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव का तो विषय के साथ सम्बन्ध है नहीं, क्योंकि विषय जीव में कल्पित नहीं है। अध्यास ही सम्बन्ध है, बाह्य विषय ईश्वर में अध्यस्त हैं; इसलिए ईश्वर का ही उनके साथ अध्यास-सम्बन्ध है। जीव को तो विषय के साथ सम्बन्ध और विषय के आवरण-भङ्ग के लिए अन्तःकरण-वृत्ति की अपेक्षा है, पर व्यापक होने से ईश्वर का विषय के साथ सदा सम्बन्ध है और अविद्या ईश्वर के वश में है, इसलिए ईश्वर की दृष्टि से विषय में आवरण नहीं है। जैसे चक्षु के तैजस होते हुए भी मनुष्य की दृष्टि में अन्धकार के निवारण की सामर्थ्य नहीं है, इसलिए अन्धकार विषय को आवृत कर लेता है। बिल्ली की दृष्टि से तो अन्धकार से विषय का आवरण नहीं होता; वैसे ही ईश्वर की दृष्टि से विषय में आवरण नहीं है। इसलिए निरपेक्ष होने से ईश्वर को सदा सब वस्तुओं का ज्ञान बना रहता है।

प्रमेय की व्यवस्था नहीं है, किन्तु जीव में है। क्योंकि जीव बुद्धि से अवच्छिन्न होने के कारण परिच्छिन्न[1] है। इसलिए चैतन्य की अभिव्यक्ति के योग्य जिस अन्तःकरण के साथ जीव का जिस काल में सम्बन्ध होता है, उस काल में उस अन्तःकरण से अवच्छिन्न जीव ही अनुभव करता है, अतः साङ्कर्य नहीं हुआ।

एवमत्र प्रक्रिया—शरीरमध्ये स्थितः सर्वशरीरव्यापकः सत्त्वप्राधान्येन सूक्ष्मभूतारब्धोऽन्तःकरणाख्योऽविद्याविवर्तो दर्पणादिवदतिस्वच्छो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य योग्यान् घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति द्रुतताम्रादिवत्। तस्य च सौरालोकादिवत् झटित्येव संकोचविकासावुपपद्येते।

---

१ परिच्छिन्न होने से असन्निकृष्ट वस्तुओं के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वह सर्वज्ञ नहीं। सन्निकृष्ट वस्तुओं के साथ भी जीव का सम्बन्ध अन्तःकरण द्वारा ही होता है, इसीलिए सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण की वृत्ति का अभाव होने से ज्ञान नहीं होता। तथाच जीव-ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन है। वह सदा कैसे हो सकता है?

शङ्का —अन्तःकरण जीव की उपाधि है, इस पक्ष में तो यह कथन ठीक है। किन्तु जिस पक्ष में अविद्या जीव की उपाधि है, उस पक्ष में सभी आविद्यिक वस्तुओं के साथ जीव का नित्य सम्बन्ध है ही। उस पक्ष में जीव को सर्वज्ञ होना चाहिये।

उत्तर—अविद्या और माया भिन्न-भिन्न हैं। इस पक्ष में मायोपाधिक ईश्वर जगत् की रचना करता है। माया और अविद्या के अभेद पक्ष में भी विक्षेप-शक्ति-प्रधान अविद्या ईश्वर की और आवरण-शक्ति-प्रधान जीव की उपाधि है। इसलिए इस पक्ष में भी ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा है, ईश्वर स्वयं अधिष्ठान होकर माया को भूत-भौतिक सृष्टि के आकार में परिणत करता है, यह तात्पर्य है। इन दोनों पक्षों में अविद्योपहित जीव सर्वव्यापक होता हुआ भी जगत् का अधिष्ठान न होने से असङ्ग है। भूत-भौतिक वस्तुओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे आम के फल में व्याप्त होकर रहनेवाले रूप का रस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही सर्वव्यापक होते हुए भी जीव का किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं है। तथा च अन्तःकरण की वृत्ति से वस्तु का सम्बन्ध होने पर ही जीव को ज्ञान होता है। इसलिए जीव का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन ही है।

शङ्का—जिस पक्ष में अविद्या और माया एक ही हैं और विषयता-सम्बन्ध से वह ईश्वर की और आश्रयता-सम्बन्ध से जीव की उपाधि है, उस पक्ष में माया का आश्रय न होने से ईश्वर जगत् का स्रष्टा नहीं है, किन्तु माया का आश्रय जीव ही स्वयं अधिष्ठान बनकर माया में जगत् की कल्पना करता है। इस पक्ष में जीव असङ्ग नहीं है, सब वस्तुओं के साथ उसका सम्बन्ध है। इसलिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा के बिना ही जीव को सर्वज्ञ होना चाहिये।

यहाँ इस प्रकार[1] प्रक्रिया है—शरीर में स्थित सारे शरीर में व्यापक (व्याप्त), सत्त्वप्रधान होने के कारण सूक्ष्म भूतों से आरब्ध और दर्पण आदि के समान स्वच्छ अन्तःकरण नामक अविद्या का विवर्त नेत्र आदि के द्वारा निकलकर योग्य घटादि विषयों को व्याप्त करके पिघले हुए ताँबे के समान घटादि तत्तत् आकार के रूप में परिणत हो जाता है। उसके सूर्य के प्रकाश[2] के समान शीघ्र ही सङ्कोच एवं विकास भी उपपन्न होते हैं।

स च सावयवत्वात् परिणममानो देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयोर्मध्येऽपि चक्षुर्वदविच्छिन्नो व्यवतिष्ठते। तत्र देहावच्छिन्नान्तःकरणभागोऽहङ्काराख्यः कर्तेत्युच्यते। देहविषयमध्यवर्ती दण्डायमानस्तद्भागो वृत्तिज्ञानाख्यः क्रियेत्युच्यते। विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यत्वमित्युच्यते। तस्य च त्रिभागस्यान्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वाच्चैतन्यं तत्राभिव्यज्यते। तस्य चाभिव्यक्तस्य चैतन्यस्यैकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्तःकरणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति। कर्तृभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाता। क्रियाभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमितिः। प्रमेयं तु विषयगतं ब्रह्मचैतन्यमेवाज्ञातम्। तदेव च ज्ञातं सत्फलम्।

उत्तर—इस पक्ष में भी तत्तद्वस्तुगत अज्ञानकृत आवरण के भङ्ग के लिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा आवश्यक है, क्योंकि अन्तःकरण घटादिज्ञानकाल में घटादि विषय-देश में प्राप्त होकर स्वयं अज्ञान का परिणाम होता हुआ भी सात्त्विकतर होने से अतिस्वच्छ एवं चैतन्य की अभिव्यक्ति के योग्य हो, विषयाकार से परिणत होकर विषयगत अज्ञानावरण को दूर कर देता है।

१ अविद्या के परिणाम में से जो अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चभूत हैं, उनमें से प्रत्येक के अनन्त अंश हैं। उनमें कई सत्त्वप्रधान, कई रजःप्रधान तो कई तमःप्रधान हैं। उनमें से सत्त्वप्रधान अंशों में भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का एक-एक अंश मिला रहता है। इस प्रकार अनन्त पञ्चकों के परिणामभूत अनन्त अन्तःकरण हैं।

२ जैसे सौरालोक (सूर्य-प्रकाश) किवाड़ों के खुलने पर तत्काल ही विकसित होकर घर के अन्दर प्रवेश कर जाता है और किवाड़ों के बन्द करने पर तत्काल ही संकुचित होता हुआ निकल जाता है, वैसे ही सूर्य के दर्शन के समय देवदत्त का अन्तःकरण उस शरीर को न त्यागता हुआ ही क्षणमात्र में वृक्षनिर्यास की तरह लम्बा होकर सूर्यपर्यन्त जाकर सूर्याकार हो जाता है और शीघ्र ही समीपस्थ घट के दर्शन के समय क्षणमात्र में संकुचित होकर घटाकार हो जाता है।

वह अन्तःकरण[1] सावयव होने के कारण परिणत होता हुआ देह के अंन्दर और घटादि में पूर्ण रीति से व्याप्त होकर देह और घट के मध्य भी चक्षु के समान अवच्छिन्न रहता है। उनमें से देहावच्छिन्न अन्तःकरण का भाग, जिसे अहङ्कार कहते हैं, 'कर्ता' कहा जाता है। देह और घटादि विषयों के मध्य विद्यमान, दण्ड के समान लम्बायमान

---

१ अन्तःकरणरूप अविद्या का परिणाम देह से कदापि पृथक् नहीं होता। जैसे दूरस्थ पर्वत को देखते हुए भी देवदत्त की देह से चक्षुरिन्द्रिय का विश्लेष नहीं होता। किन्तु देह में रहते हुए ही केवल किरणों के द्वारा उसका पर्वत से संयोग होता है, वैसे ही अन्तःकरण का भी देह को न त्यागते हुए ही विषयों के साथ सम्बन्ध होता है। उस समय अन्तःकरण के तीन भाग होते हैं—एक तो देह में स्थित, दूसरा देह और विषय के मध्य सूक्ष्मतन्तु की तरह स्थित और तीसरा घटादि विषयों में स्थित। उनमें से देह में स्थित प्रथम भाग का नाम 'अहंकार' है। क्रिया का आश्रय होने से यह अहंकार 'कर्त्ता' कहा जाता है। 'घटं जानाति' इत्यादि वाक्य में अभिव्यक्ति के अनुकूल व्यापाररूप क्रिया 'ज्ञा' धातु का अर्थ है, अभिव्यक्तिरूप फल विषयनिष्ठ है। 'अभिव्यक्ति' अभिव्यञ्जकता (प्रकाश) को कहते हैं। उसके अनुकूल व्यापार है विषय-पर्यन्त अन्तःकरण का लम्बीभाव। वह लम्बीभवनरूप क्रिया देहस्थ अन्तःकरण की ही है, इसलिए देहस्थ अन्तःकरण उस ज्ञान-क्रिया का कर्त्ता है। इसी कारण उस अन्तःकरण से उपहित चैतन्य 'प्रमाता' कहा जाता है। देह और विषय के मध्य वर्तमान अन्तःकरण का जो द्वितीय भाग है, वही 'अन्तःकरण-वृत्ति' रूप ज्ञान है। वही अन्तःकरण की वृत्तिरूप क्रिया 'ज्ञा' धातु का अर्थ है। उस अन्तःकरण की वृत्तिरूप क्रिया से जड़ विषय में भी अभिव्यञ्जकत्व-योग्यतारूप फल उत्पन्न होता है। अभिव्यञ्जकता ही को 'प्रमा' या 'प्रमिति' कहते हैं। प्रमिति की साधन होने से लम्बीभवन क्रिया प्रमाण है। इसलिए द्वितीय भागरूप अन्तःकरण से उपहित चैतन्य 'प्रमाण' कहा जाता है। घटादि विषयों में स्थित विषयाकार परिणामरूप अन्तःकरण का जो तृतीय भाग है, उससे विषय ज्ञान का कर्म होता है, क्योंकि उस समय विषय ज्ञानजन्य-अभिव्यञ्जकतारूप फल का आश्रय है। तथा च, जड़ घटादि में अभिव्यञ्जकत्व के विरुद्ध जड़-स्वभावता होने पर भी घटादि-ज्ञानकाल में उनमें जो अभिव्यञ्जकत्व-योग्यता देखी जाती है, वह तादृश घटाकार अन्तःकरण का ही परिणाम है। अभिव्यञ्जकत्व ही प्रमिति है, इसलिए तादृश अन्तःकरण-परिणामरूप तृतीयभागावच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य-'प्रमिति' कहा जाता है। प्रमेय तो विषयावच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य है।

यद्यपि घटावच्छिन्न घटकारान्तःकरण-परिणामरूप अभिव्यञ्जकत्वयोग्यता से अवच्छिन्न चैतन्य एक ही है। कारण उपाधियों के एकदेश में स्थित होने पर उपधेय वस्तु में भेद रहता है, इस रीति से प्रमेय-चैतन्य और प्रमिति-चैतन्य एक ही है। तथापि वहाँ इतना विशेष है कि अज्ञात-अवस्था में वह चैतन्य 'प्रमेय' कहा जाता है और ज्ञात-अवस्था में 'प्रमिति'। इस प्रकार उक्त रीति से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और घटाकार अन्तःकरण-परिणामरूप

अन्तःकरण का भाग, जिसे वृत्ति-ज्ञान कहते हैं, 'क्रिया' कहा जाता है। विषय (घटादि) को व्याप्त करनेवाला अन्तःकरण का भाग विषय को ज्ञान का कर्म बनानेवाला है, वह अभिव्यक्ति-योग्यत्व (प्रमा) कहा जाता है। तीन भागवाला वह अन्तःकरण अति-स्वच्छ है, इसलिए उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उक्त अभिव्यक्त-चैतन्य यद्यपि एक है, तथापि अभिव्यञ्जक अन्तःकरण के भागों के भेद से तीन प्रकार का कहा जाता है। कर्तृ-भाग से अवच्छिन्न चिदंश 'प्रमाता' कहलाता है। क्रिया-भाग से अवच्छिन्न चिदंश 'प्रमाण' कहा जाता है और विषयगत अभिव्यक्तियोग्यत्वरूप अन्तःकरणभागावच्छिन्न चिदंश को 'प्रमिति' कहते हैं। प्रमेय तो विषय में रहनेवाला अज्ञात ब्रह्मचैतन्य है। वही ज्ञात होता हुआ 'फल' कहलाता है।

अभिव्यञ्जकत्वयोग्यतावच्छिन्न चैतन्य एक ही है, क्योंकि अन्तःकरण-परिणामविशेषावच्छिन्न चैतन्य भी अन्तःकरणावच्छिन्न ही है, क्योंकि घटावच्छिन्न आकाश मृत्तिकावच्छिन्न नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता। प्रमातृ-चैतन्य और प्रमिति-चैतन्य एक ही है, तथापि प्रमिति-चैतन्य के साथ तादात्म्य से पूर्व-अवस्थावाला अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है, वही अन्तःकरण-परिणामरूप अभिव्यक्ति-योग्यतावच्छिन्न होकर फल होता है, यह विवेक है। इस रीति से प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में प्रमातृ-चैतन्य, प्रमेय-चैतन्य और प्रमिति-चैतन्य एक ही है।

वास्तव में एक ही चैतन्य उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न होता है। उस उपाधि के आकार के सदृश आकार धारण करने से चैतन्य भिन्न की तरह प्रतीत होता है। वह भेद भी प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में नहीं रहता, क्योंकि तीनों चैतन्य एकाकार हो जाते हैं। प्रमेय-चैतन्य ही घटरूप उपाधि से घटाकार हुआ और प्रमिति-चैतन्य भी घटाकार हुआ, क्योंकि अभिव्यक्ति-योग्यता-वच्छिन्न ही प्रमिति-चैतन्य है और अभिव्यक्ति-योग्यता घटसम्बद्ध अन्तःकरण-परिणाम-विशेषरूप सात्त्विकी छाया है। वही सात्त्विकी छाया घट के स्वरूप को व्याप्त करके घटाकार हो जाती है। जैसे शरीर में लावण्य (सौन्दर्य) अथवा मोती में जलरूप तरल छाया होती है, वैसी ही घट को व्याप्त करनेवाली यह अन्तःकरण की सात्त्विकी छाया है। इसलिए अन्तःकरण-परिणामविशेषरूप छाया ही घटाकार हो गयी है। अतः तदवच्छिन्न प्रमिति-चैतन्य घटाकार हो जाता है। उस काल में प्रमातृ-चैतन्य भी घटाकार ही है, क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न ही प्रमातृ-चैतन्य है और अन्तःकरण ही उस काल में घटगत अभिव्यक्ति-योग्यतास्वरूप हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है 'अहं घटं जानामि' (मैं घट को जानता हूँ) इस व्यवहार के अनुरोध से प्रमातृ-चैतन्य का घट-चैतन्य के साथ सम्बन्ध कहना चाहिये। वह सम्बन्ध ज्ञान द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि 'जानामि' (मैं जानता हूँ) ऐसा व्यवहार होता है। ज्ञान 'प्रमिति'पद-वाच्य विषयगत अभिव्यक्ति-योग्यतावच्छिन्न चैतन्य है। इस प्रकार जिस काल में प्रमातृ-चैतन्य का प्रमिति-चैतन्य के साथ और

अत्र च यस्मिन् पक्षेऽन्तःकरणावच्छिन्नो जीवः यस्मिंश्च पक्षे सर्वगतोऽसङ्गोऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, तत्रोभयत्रापि प्रमातृचैतन्योपरागार्था विषयगतचैतन्यावरणभङ्गार्था चान्तःकरणवृत्तिः। यस्मिंश्च पक्षे अविद्यावच्छिन्नः सर्वगतो जीव आवृतस्तस्मिन् पक्षे जीवस्यैव जगदुपादानत्वेन सर्वसम्बद्धत्वादावरणभङ्गार्था वृत्तिरिति विवेकः।

यहाँपर जिस पक्ष में अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है और जिस पक्ष में सर्वव्यापक, असङ्ग[1] अविद्याप्रतिबिम्ब जीव है, उन दोनों पक्षों में भी प्रमातृ-चैतन्य के उपराग[2] के लिए या विषयगत चैतन्य के आवरण का भङ्ग करने के लिए अन्तःकरण की वृत्ति होती

और प्रमेय-चैतन्य का भी प्रमिति-चैतन्य के साथ अभेद होता है, उस काल में अर्थात् ही प्रमातृ-चैतन्य और प्रमेय-चैतन्य का ज्ञान द्वारा तादात्म्य सिद्ध होता है।

वास्तव में चैतन्य एक ही है। चैतन्य का भेद तो औपाधिक है। भिन्नदेशस्थ दो उपाधियाँ ही उपहित का भेद दिखा सकती हैं। उपाधियों के एकदेश में स्थित होने पर तो उपहित का तादात्म्य ही है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य है और उस अन्तःकरण का विषयपर्यन्त जो दीर्घीभाव है, तदवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण-चैतन्य है और वही प्रमातृ-चैतन्य है, क्योंकि अन्तःकरण ही दीर्घीभाव को प्राप्त हुआ है। इसलिए दीर्घीभूत अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य भी अन्तःकरणावच्छिन्न है ही। ऐसी दशा में विषयगत अभिव्यक्ति-योग्यता भी अन्तःकरण का ही तीसरा भाग है, इसलिए तादृश अभिव्यक्तियोग्यतावच्छिन्न प्रमिति-चैतन्य भी प्रमातृ-चैतन्य है ही। इस प्रकार अभिव्यक्ति-योग्यता विषय में है, इसलिए तादृश अभिव्यक्ति-योग्यतावच्छिन्न प्रमिति-चैतन्य ही प्रमेय-चैतन्य हो गया है। इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में त्रिविध चैतन्य एक हो जाता है और तत्तदुपाधिभेद से भिन्न चैतन्य तत्तदुपाध्याकार हो जाता है। ऐसी दशा में जीव-पद का वाच्य प्रमातृ-चैतन्य जब प्रमिति-चैतन्य से अभिन्न हो जाता है, तब वह विषयाकार के सदृश हो जाता है।

१ घटादि तादात्म्यशून्य।

२ उपराग = सम्बन्ध। भाव यह है कि 'जीव अन्तःकरणोपहित है' इस पक्ष में जीव विभु नहीं है; किन्तु अन्तःकरण की तरह परिमित है। वही अन्तःकरणोपहित जीव वृत्तिमत् अन्तःकरणरूप अधिक कञ्चुक (वस्त्रविशेष 'कुर्त्ता') के प्रवेश से 'प्रमाता' कहा जाता है। इस प्रकार प्रमातृ-चैतन्याभिन्न जीव को वृत्ति विषय का सम्बन्ध कराती है। इसी प्रकार 'जीव अविद्योपहित है' इस पक्ष में यद्यपि जीव सर्वगत है, तथापि जगदुपादानकारण अविद्या का आश्रय न होने से उसका आविद्यिक वस्तुओं के साथ तादात्म्य नहीं है। इसलिए पदार्थों से असम्बद्ध जीव को वृत्तिमत् अन्तःकरणरूप अधिक कञ्चुक के प्रवेश से प्रमातृत्व है, आविद्यिक विषयों से असम्बद्ध जीव का विषय-सम्बन्ध कराना ही अन्तःकरणवृत्ति का

हैं। और जिस पक्ष में अविद्यावच्छिन्न, सर्वव्यापक जीव आवृत हैं, उस पक्ष में जीव ही संसार का उपादान है; इसलिए सब पदार्थों के साथ सम्बद्ध होने से जीव के आवरण-भङ्ग के लिए वृत्ति होती है, यह विवेक है।

ननु चिदुपरागार्था वृत्तिरिति पक्षे स्वतोऽन्तःकरणसम्बद्धानां धर्माधर्मादीनां ब्रह्मणश्च वृत्तिमन्तरेणैव सर्वदा भानं स्यात्। न स्यात्, चैतन्यस्य तत्तदाकारत्वाभावात्। तदभावश्च स्वच्छेऽपि ब्रह्मचैतन्ये आवरणात्, अनावृतेऽपि शुक्तिरजतादावस्वच्छत्वात्। धर्माधर्मादौ तु अस्वच्छत्वादावृतत्वाद्वा। तेन स्वच्छेऽप्यावृते प्रमाणवृत्त्या तदाकारता। अनावृतेऽप्यस्वच्छे शुक्तिरजतादौ अविद्यावृत्त्या तदाकारता। अनावृते स्वच्छे तु सुखदुःखादौ स्वत इति नान्तःकरणसम्बन्धमात्रेण भानप्रसङ्गः।

शङ्का—'चित् के उपराग[१] के लिए वृत्ति होती है' इस पक्ष में स्वरूप-सम्बन्ध से अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध रखनेवाले धर्माधर्मादि का एवं स्वरूप ही से अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्म का भी वृत्ति के विना ही सर्वदा भान होना चाहिये।

प्रयोजन है। क्योंकि सम्बन्ध के अभाव में 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार प्रमातृ-चैतन्य और प्रमेय-चैतन्य के सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती। इसलिए जीव के परिमितत्व-पक्ष में और सर्वगत के असङ्गत्व-पक्ष में वृत्ति का प्रयोजन सम्बन्ध ही है। इन दोनों पक्षों में सारे आविद्यिक प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म-चैतन्य है। विषय का आवरणभङ्गरूप प्रयोजनान्तर भी इन दोनों पक्षों में विद्यमान ही है। वाचस्पति मिश्र के मत में तो अविद्यावच्छिन्न सर्वगत जीव स्वाश्रित अविद्या से स्व (आत्मा) में ही स्वरूपविशेष (नित्यमुक्तत्वादि) के आवरणपूर्वक प्रपञ्च की कल्पना करता है। अतः जीव को आविद्यिक वस्तुओं का तादात्म्य सर्वदा सिद्ध है। इसलिए वाचस्पति मिश्र के मत में वृत्ति का प्रयोजन विषय-सम्बन्ध नहीं, किन्तु केवल आवरणभङ्ग ही है।

१ यह भाव है—प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में जीव को विषय के साथ सम्बन्ध के लिए अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा होती है और वृत्ति से अन्तःकरण का विषय के साथ सम्बन्ध होता है। जीव का तो अन्तःकरण के साथ नित्य सम्बन्ध है। प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में अन्तःकरण विषय-देश में जाकर केवल विषय के साथ सम्बद्ध होता है। इसलिए वृत्ति के विना जिन धर्माधर्मादिकों का स्वभाव ही से सम्बन्ध है, उनका तो वृत्ति के विना ही प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक होने से सर्ववस्तुओं के साथ सर्वदा सम्बद्ध है। मन भी ब्रह्म के साथ सदा सम्बद्ध ही है। इसलिए वहाँ भी सम्बन्ध के

समाधान—नहीं[1] होना चाहिये, क्योंकि चैतन्य धर्माद्याकार तथा ब्रह्माकार नहीं है। तत्तदाकारता का अभाव स्वच्छ भी ब्रह्म-चैतन्य में आवरण से है। और अनावृत भी शुक्ति-रजतादि में अस्वच्छ होने से हैं। धर्माधर्मादि में तो अस्वच्छ होने

लिए वृत्ति की अपेक्षा नहीं है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति के विना ही जीव को सदा ब्रह्मज्ञान होना चाहिये। किंच, परिच्छिन्न भी जीव व्यापक ब्रह्म के साथ नित्य सम्बद्ध है। इसलिए ब्रह्म के ज्ञान में अन्तःकरण की भी अपेक्षा नहीं है, फिर वृत्ति की कथा तो दूर रह गयी। वैसे ही अनावृत चैतन्य में अध्यस्त जो प्रातिभासिक रजतादि हैं, अविद्या-काल में उनका भी वृत्ति के विना ही प्रत्यक्ष होना चाहिये। यद्यपि व्यावहारिक अन्तःकरण का प्रातिभासिक रजत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए तादृश रजत-प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है, तथापि वहाँ पर रजतज्ञान के लिए रजत-अंश में अन्तःकरण की वृत्ति के स्थान में अविद्या की वृत्ति स्वीकार की जाती है। पर उस वृत्ति का स्वीकार न करना चाहिये, वहाँपर जीव का अविद्या द्वारा तादृश रजत के साथ सम्बन्ध होने से अविद्या की वृत्ति के विना ही प्रत्यक्ष होना चाहिये, यह पूर्वपक्षी का आशय है। इस शङ्का का परिहार करते हैं—'न स्यात्' इत्यादि ग्रन्थ से।

१ भाव यह है कि 'अन्तःकरण घटादि के प्रत्यक्ष-ज्ञान-काल में वृत्ति द्वारा विषय के साथ सम्बद्ध होकर स्व द्वारा जीव-चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध कराता है—इतना ही अन्तःकरण का कर्त्तव्य है', इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। किन्तु वृत्ति द्वारा विषय के साथ सम्बद्ध होकर, विषयगत आवरण का नाशकर विषय में स्वच्छता का सम्पादन-कर, विषय के आकार को स्वयं धारण करता हुआ स्वोपहित चैतन्य में उस आकार को दिखाता है। ऐसी दशा में अन्तःकरण की वृत्ति घटादि विषय का चैतन्य के साथ सम्बन्ध कराती है, विषयगत अज्ञानावरण का नाश करती है और उस विषय में स्वच्छता का सम्पादन करती है। प्रश्नकर्त्ता ने तो धर्माधर्मादिकों में और ब्रह्म में अन्तःकरण की वृत्ति के विना सम्बन्धमात्र का उपपादन किया है पर वृत्ति के बिना अज्ञानावरण का नाश और स्वच्छता का सम्पादन कैसे हो सकता है? यद्यपि ब्रह्म में स्वयमेव स्वच्छता है, तथापि अज्ञानावरण-भङ्ग के लिए वृत्ति की अपेक्षा है। वैसे ही शुक्तिरजतस्थल में अनावृत चैतन्य में अविद्या ही से रजत कल्पित है, इसलिए प्रातिभासिक रजत में अविद्याकृत आवरण नहीं है, क्योंकि अन्धकार से अन्धकार का आवरण नहीं हुआ करता। तथापि प्रातिभासिक रजतस्थल में स्वच्छता-सम्पादन के लिए अविद्या-वृत्ति की अपेक्षा है। धर्माधर्मादिकों में तो आवरणभङ्ग और स्वच्छता-सम्पादन ये दोनों ही कार्य अन्तःकरण की वृत्ति से ही सम्पन्न होते हैं। वास्तव में धर्माधर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष-योग्य ही नहीं, यह विषय अन्य है। घटादिकों में तो आवरण-भङ्ग, स्वच्छता-सम्पादन और जीव-चैतन्यसम्बन्ध—ये तीनों अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन हैं, यह समझना चाहिये।

या आवृत होने से है। इससे स्वच्छ भी आवृत में प्रमाण-वृत्ति से तदाकारता होती है और अनावृत[1] भी अस्वच्छ शुक्ति, रजत आदि में अविद्या-वृत्ति से तदाकारता होती है। अनावृत,[2] स्वच्छ सुख-दुःख में तो स्वतः ही तदाकारता होती है। इसलिए धर्माधर्मादि में और ब्रह्म में अन्तःकरण के सम्बन्धमात्र से भान-प्रसङ्ग नहीं है।

ननु ब्रह्मणः कथमावरणम्, निरवद्यस्वप्रकाशत्वेन सर्वज्ञत्वात्। सत्यम्, स्वसम्बद्धसर्वभासकतया सर्वज्ञमपि अन्तःकरणावच्छिन्नजीवाज्ञानविषयतया आवृतमिति व्यपदेशात्। तस्माद् ब्रह्म जगदुपादानमिति पक्षे चिदुपरागार्था आवरणभङ्गार्था च वृत्तिः। जीवोपादानत्वपक्षे तु आवरणभङ्गार्थैवेति।

शङ्का—ब्रह्म का आवरण कैसे हो सकता है? क्योंकि वह निर्दोष स्वयंप्रकाश होने से सर्वज्ञ है।

समाधान · ठीक है, स्व से सम्बद्ध सबका भासक होने से यद्यपि ब्रह्म सर्वज्ञ[3] है, तथापि अन्तःकरणावच्छिन्न जीव के अज्ञान का विषय होने से 'ब्रह्म आवृत है' ऐसा व्यपदेश होता है। इसलिए 'ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है' इस पक्ष में चित् के उपराग और आवरण-भङ्ग के लिए भी वृत्ति होती है। 'जीव जगत् का उपादान है' इस पक्ष में तो केवल आवरण-भङ्ग के लिए ही वृत्ति होती है।

---

१ प्रातिभासिक पदार्थ का ज्ञान के बिना अस्तित्व न होने से आवृत का अस्तित्व ही नहीं कहा जा सकता, इसलिए प्रातिभासिक आविद्यिक रजत अनावृत सिद्ध होता है।

२ साक्षिमात्रभास्य होने से अज्ञान के अविषय सुखादि में जीव की स्वतःसिद्ध सुखाकारता है। अज्ञान साक्षिभास्य होने से यद्यपि अनावृत है, तथापि तामस होने से अस्वच्छ है। इसलिए उसका परिणामभूत प्रातिभासिक रजत भी अस्वच्छ है। अतः प्रातिभासिक रजत में स्वच्छता-सम्पादन करने के लिए अविद्यावृत्ति की अपेक्षा है। सुखादि सात्त्विक अन्तःकरण का परिणाम होने से स्वच्छ हैं, यह समझना चाहिये।

३ जैसे जीव का स्वस्वरूप स्व के प्रति आवृत है, वैसा ब्रह्म का नहीं है। इस दशा में ब्रह्म के स्वस्वरूप के स्व के प्रति अनावृत होने पर भी जीव के प्रति वह (ब्रह्म-स्वरूप) आवृत ही है। इसीलिए 'ब्रह्म अविद्या से आवृत है' ऐसा व्यवहार होता है। इस कारण जीव के प्रति ब्रह्म का ज्ञान आवरणभङ्ग के अधीन ही है।

नन्वेकेन घटादिज्ञानेन आवरणस्य भंगे सद्यो मुक्तिप्रसङ्गः, ज्ञानस्यैकत्वात् । नानाज्ञानपक्षेऽप्येकस्य जीवस्यैकाज्ञानोपाधित्वात् । न; उत्तेजकेन मणेरिव वृत्त्या आवरणस्याभिभवाङ्गीकारात् । तथा च प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभावसहकृतमज्ञानं सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीति प्रतीतिजननसमर्थमावरणमित्युच्यते । वृत्तौ जातायां तु अवच्छेदकाभावात् विद्यमानमप्यविद्यमानसममेवेति न स्वकार्यसमर्थमज्ञानं तेनाभिभूतमित्युच्यते ।

शङ्का —एक[1] ही घट आदि के ज्ञान से आवरण-भङ्ग होने पर शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि अज्ञान एक ही है, उसका नाश हो गया । 'अज्ञान अनेक हैं' इस पक्ष में भी एक जीव की उपाधि एक ही अज्ञान है ।

समाधान —नहीं, उत्तेजक[2] से मणि की तरह वृत्ति से आवरण का अभिभव होता है, नाश नहीं । इस प्रकार[3] प्रमाणजन्य अन्तःकरण की वृत्ति के अभाव से

---

१ देवदत्त के घटज्ञानकाल में उसके अन्तःकरण की वृत्ति से आवरण का भङ्ग होता है, क्योंकि आवरण के मूल कारण अज्ञान की विद्यमानता में चैतन्य का स्फुरण नहीं हो सकता । इसलिए आवरणनाश का कारण अज्ञाननाश ही कहना चाहिये । ऐसी दशा में अज्ञान का नाश होने से देवदत्तादि सब प्राणियों की मुक्ति हो जानी चाहिये । प्रत्येक जीव में अज्ञान का भेद है । इस प्रकार नाना ज्ञानपक्ष में भी देवदत्त के घटज्ञानकाल में देवदत्त की मुक्ति होनी चाहिये, यह दोष अटल ही है ।

२ भाव यह है कि प्रतिक्षण तत्तत्प्राणियों के आवरणभङ्ग होने पर ही विषय का ज्ञान होता है और मोक्ष किसीका होता नहीं । इसलिए मोक्षाभाव की अन्यथानुपपत्ति से यह कल्पना अवश्य करनी चाहिये कि अन्तःकरण की वृत्ति से अज्ञान का नाश नहीं होता, केवल क्षणमात्र अज्ञान का तिरोभाव होता है । जैसे चन्द्रकान्तमणि के समीप होने से अग्निगत दाहकत्वशक्ति का प्रतिबन्ध होता है, उत्तेजक मन्त्रादिकों के सन्निधान में चन्द्रकान्तमणिगत प्रतिबन्धकशक्ति का केवल तिरोभाव होता है, नाश नहीं होता; वैसे ही घटादिज्ञानकाल में अज्ञान का केवल तिरोभाव होता है, नाश नहीं ।

३ क्रियाभागावच्छिन्न चेतन-अंश प्रमाण है, उससे उत्पन्न होनेवाली घटादिविषयनिष्ठ अन्तःकरण की वृत्ति विषय को व्याप्तकर स्थित होती हुई सूक्ष्म सात्त्विकी अन्तःकरण की छाया है । तदभावविशिष्ट (उसके न होने पर) अज्ञान विद्यमान वस्तु में भी 'नास्ति वस्तु' इत्याकारक प्रतीति उत्पन्न करता है, वैसे ही प्रकाशित वस्तु में भी 'न भाति वस्तु' (वस्तु नहीं प्रतीत होती है) इत्याकारक प्रतीति उत्पन्न करता है । ऐसी दशा में 'नास्ति वस्तु' और 'न भाति वस्तु' इत्याकारक प्रतीतियों का जनक अज्ञान है, अज्ञान में

१२

सहकृत अज्ञान—विद्यमान और प्रकाशमान वस्तु में भी 'नहीं है', नहीं प्रतीत होता' ऐसी प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ—आवरण कहलाता है। वृत्ति के उत्पन्न होने पर अवच्छेदक के अभाव से विद्यमान भी अविद्यमान के समान ही है। इसलिए अपने कार्य को करने में असमर्थ अज्ञान तिरस्कृत किया गया, ऐसा कहा जाता है।

नन्वेवं सति ब्रह्मज्ञानेनाऽप्यविद्याया अनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः। न, तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानादविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमात्। स्वविषयविषयकप्रमात्वेनैवाविद्यानिवर्तकत्वात्। महावाक्यार्थज्ञानस्यैवाबाधितविषयतया प्रमात्वात्। प्रत्यक्षादीनां तु बाधितविषयतया भ्रमत्वेऽपि व्यवहारसामर्थ्येन प्रामाण्याभिमानात्। किञ्च ज्ञानादज्ञाननिवृत्तेरन्यत्रादर्शनमकिञ्चित्करम्; स्वानुभवसिद्धत्वात्, अन्यथानुपपत्तेश्च सर्वतो बलवत्त्वात्। तदुक्तम्—

"अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्ट्यदृष्टिवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका॥"—इति।

शङ्का—ऐसा[1] मानने पर ब्रह्मज्ञान से भी अविद्या की निवृत्ति न होने से अनिर्मोक्षप्रसङ्ग हो जायगा।

समाधान—नहीं, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के अर्थज्ञान से अविद्या की निवृत्ति स्वीकृत की गयी है। स्वविषयविषयक[2] प्रमा ही से अविद्या की निवृत्ति

रहनेवाला अन्तःकरण की वृत्ति का अभावविशिष्टत्व उस प्रतीति का जनकतावच्छेदक है। वृत्ति के उत्पन्न होने पर तो उक्त प्रतीति का जनक अन्तःकरणवृत्त्यभाव-विशिष्टत्व का अभाव होने से (अन्तःकरण की वृत्ति के होने से) विद्यमान भी अज्ञान 'नास्ति, न भाति' इत्याकारक प्रतीतिरूप अपने कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है, यही अज्ञान का तिरोभाव है।

१ अन्तःकरण की वृत्ति से केवल अज्ञान का तिरोभाव होता है, ऐसा अङ्गीकार करने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य ज्ञानस्थल में भी अन्तःकरण की वृत्ति में कोई विशेष न होने से उस वृत्ति से अज्ञान का तिरोभाव ही होगा। ऐसी दशा में स्वरूप से अज्ञान विद्यमान रहेगा। तथा च मोक्ष की असिद्धि हो जायगी, यह पूर्वपक्षी का आशय है। इसपर समाधान करते हैं—'नेति' इस ग्रन्थ से।

२ स्व (अविद्या) उसका जो विषय हो, वही विषय जिस प्रमा का हो, वही प्रमारूप ज्ञान अविद्या का निवर्तक होता है। महावाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान ऐसा ही है, क्योंकि मूल अविद्या का विषय ब्रह्म ही महावाक्यजन्य प्रमारूप ब्रह्मज्ञान का विषय है। इसलिए ब्रह्मज्ञान

होती है, ऐसा स्वीकार किया गया है। महावाक्यजन्य ज्ञान ही अबाधित-विषय होने से प्रमा है। प्रत्यक्ष आदि ज्ञान बाधित-विषय होने से यद्यपि भ्रम हैं, तो भी व्यवहारकाल में अबाधित-विषय होने के कारण उनमें प्रामाण्य का अभिमान होता है। ज्ञान[1] से अज्ञाननिवृत्ति का अन्यत्र अदर्शन अकिञ्चित्कर है, क्योंकि ज्ञान से

अविद्या का निवर्त्तक होता है। 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञानस्थल में तो ऐसा है नहीं, क्योंकि वहाँ 'अयं घटः' इस ज्ञान से पहले 'अज्ञातो घटः' ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए उस अज्ञान के विषय घट को विषय करनेवाला 'अयं घटः' यह ज्ञान प्रमा नहीं है। अतः 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञानस्थल में अज्ञान का नाश नहीं होता, किन्तु तिरोभाव ही होता है। ब्रह्म का तीनों कालों में बाध नहीं है। इसलिए ब्रह्म को विषय करनेवाला महावाक्यजन्य ज्ञान प्रमा है। घटादि पदार्थ तो बाधित हैं, इसलिए उनको विषय करनेवाले ज्ञान प्रमा नहीं हैं। ऐसी दशा में शुक्ति में रजतज्ञान की तरह 'अयं घटः' यह ज्ञान भी भ्रम ही है।

इतना विशेष है कि रजत के बाध का अनुभव व्यवहारकाल ही में हो जाता है, घटादि के बाध का अनुभव व्यवहारकाल में नहीं होता। इसलिए बाध-ज्ञान का अभाव होने से ही घटादिज्ञान को साधारण लौकिक पुरुष प्रमाण समझते हैं। शुक्तिरजतादि ज्ञानस्थल में भी बाध-ज्ञान से पूर्व किञ्चित्कालपर्यन्त प्रामाण्य का अभिमान देखा ही जाता है। परन्तु शुक्तिरजतज्ञान में प्रामाण्य का अभिमान क्षणमात्र में निवृत्त हो जाता है। घटादि ज्ञान में तो मोक्षपर्यन्त प्रामाण्याभिमान बना रहता है।

शङ्का—घटादिज्ञानों में वस्तुतः प्रमात्व का अभाव होने से उनसे अज्ञान का नाश नहीं होता, किन्तु केवल तिरोभाव ही होता है; ऐसा मानें, तो पूछा जा सकता है कि 'ज्ञान अज्ञान का विनाशक है' इस प्रकार अज्ञान और ज्ञान का विनाश्य-विनाशकभाव कहाँ देखा, जिसके बल पर महावाक्यजन्य ज्ञान में अज्ञाननाशकता की कल्पना करते हो?

उत्तर—आप्तवाक्य से शुक, वामदेवादि में ज्ञान से अज्ञान का नाश देखा जाता है।

प्रश्न—अविद्या के नानात्वपक्ष में यह उत्तर समीचीन हो सकता। पर 'अविद्या एक ही है' इस पक्ष में यह कैसे सम्भव हो सकता है? यदि शुक-वामदेवादि की अविद्या का ज्ञान से नाश हो गया है, तो हमें बिना आयास के मोक्ष मिलना चाहिये; सो तो नहीं देखा जाता। इसलिए ज्ञान से अज्ञान के नाश का अन्यत्र अदर्शन तदवस्थ ही है।

१ समाधान—अन्यत्र अदृष्ट अर्थ सिद्ध नहीं होता, यह नियम नहीं। प्रमाण की सत्ता में उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, अर्थात् प्रमाण के होने पर अन्यत्र अदृष्ट अर्थ की भी सिद्धि होती है। जैसे अन्यत्र अदृष्ट भी श्रुतिप्रतिपादित जगत्कर्तृत्व की अन्यथानुपपत्ति से ईश्वर में सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती है, वैसे ही श्रुतिप्रतिपादित ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से महावाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान में अज्ञान की विनाशकता सिद्ध

अज्ञान की निवृत्ति होना अनुभवसिद्ध[1] है। और दूसरी बात अन्यथानुपपत्ति[2] सबसे बलवती है। कहा भी है—'वस्तु को सिद्ध करनेवाली अन्यथानुपपत्ति[3] यदि है, तो वही अदृष्टि के विवाद को पीस देती (दूर कर देती) है, क्योंकि वह सब प्रमाणों से अधिक बलवती है।'

अथवा मूलाज्ञानस्यैव अवस्थाभूतान्यज्ञानानि घटादिविषयावरणानि । अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वेन यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यभ्युपगमादेकेन ज्ञानेन एकस्यैवाज्ञानस्य नाशाद् घटादिज्ञानेनाऽऽवरणनाशेऽपि न काचिदनुपपत्तिः ।

अथवा[4] घट आदि विषयों का आवरण करनेवाले अज्ञान मूल अज्ञान के अवस्थारूप हैं। जैसे नैयायिकों के मत में जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही ज्ञान के

होती है। किंच, 'अन्यत्र दृष्ट अर्थ भी सिद्ध ही होता है' यह नियम भी नहीं है, क्योंकि महानस में धूम के सम्बन्ध से दृश्यमान भी अग्नि अयोगोलक में धूम की सिद्धि में समर्थ नहीं होती। ऐसी दशा में अन्यत्र दर्शन वस्तु की सिद्धि में हेतु नहीं है और अन्यत्र अदर्शन वस्तु की असिद्धि में भी हेतु नहीं है। अनुमान में उदाहरणवाक्य से जायमान अन्यत्र दर्शन पक्ष में साध्य के सम्भवमात्र का द्योतक है। साध्य का निश्चय नहीं करा सकता। साध्य का निश्चय तो व्याप्ति के ही अधीन है।

१ अन्यत्र अदृष्ट अश्रुतपूर्व भी कोई विलक्षण जीव वन में देखा जाय, तो उसकी असिद्धि नहीं होती।

२ 'सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' (मुं० २ । १ । १०) इत्यादि श्रुतियाँ, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति का अनङ्गीकार करने पर, उपपन्न नहीं होतीं, यह भाव है।

३ यदि किसी वस्तु की साधक अन्यथानुपपत्ति हो, तो वह अन्यत्र अदर्शनमूलक वस्तु की असिद्धिरूप विरुद्धमति का नाश कर देती है; क्योंकि अन्यथानुपपत्तिरूप प्रमाण सबसे बली है। अब 'घटादि-विषयाकार अन्तःकरणवृत्ति से अज्ञान का केवल तिरोभाव नहीं होता, किन्तु विनाश ही होता है' इस साम्प्रदायिक मत का उपपादन करते हैं—'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से।

४ घटादिविषयाकार अन्तःकरणवृत्ति से जिस अज्ञान का नाश होता है, वह मूल अज्ञान नहीं; किन्तु जल के बुद्बुद की तरह मूल अज्ञान का अवस्थाविशेष है और ऐसे मूलाज्ञान के अवस्थाविशेष बहुत-से अज्ञान हैं। जैसे न्यायमत में जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही ज्ञानप्रागभाव भी होते हैं; वैसे ही जितने ज्ञान उतने ही अज्ञान हैं। इस प्रकार ज्ञान के प्रागभावों की तरह अज्ञानों का भी ज्ञान के अनुरोध से बहुत्व सिद्ध होता है। ऐसी दशा में

प्रागभाव भी होते हैं; वैसे ही यहाँपर भी जितने ही ज्ञान हैं, उतने ही अज्ञान हैं, ऐसा अङ्गीकार है। अतः एक ज्ञान से एक ही अज्ञान का नाश होता है। इसलिए घट आदि के ज्ञान से आवरण का नाश होने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

नन्वनुमानादिभिरावरणं निवर्तते, न वा? आद्ये साक्षात्कारिभ्रमस्य शङ्खपीतत्वादेः श्वेतत्वाद्यनुमानादिना निवृत्तिप्रसङ्गः। दिङ्मोहादेरपि अनुमानादिना निवृत्तिप्रसङ्गः। अधिष्ठानाज्ञानोपादानकत्वेन भ्रमस्य तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः। यौक्तिकज्ञानेन च ब्रह्मण्यविद्यानिवृत्तेः साक्षात्कारार्थं श्रवणमननाद्यपेक्षा न स्यात्। द्वितीये च वह्न्यादिव्यवहारो न स्यात्। प्रतिबन्धस्य विद्यमानत्वात्।

शङ्का[1]—यह आवरण अनुमान से निवृत्त होता है, या नहीं? प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष-भ्रम शङ्खपीतत्वादि की—श्वेतत्वादि के अनुमान आदि से—निवृत्ति का प्रसङ्ग है। और अनुमानादि से दिङ्मोह आदि स्वरूप-भ्रम की निवृत्ति का प्रसङ्ग है, क्योंकि अधिष्ठान का अज्ञान भ्रम का उपादान कारण है। इसलिए उसकी निवृत्ति से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है। यौक्तिक-ज्ञान

घटज्ञानस्थल में घटाकार अन्तःकरणवृत्ति से घटविषयक अज्ञान का ही नाश होता है, इतरविषयक अज्ञानान्तरों का या मूलाज्ञान का नाश नहीं होता। इसलिए न तो सद्योमोक्षप्रसङ्ग है और न घट के सर्वदा भान का ही प्रसङ्ग है, यह भाव है।

१ जैसे घट-प्रत्यक्ष-स्थल में घटाकार अन्तःकरणवृत्ति से घट-विषयक अज्ञान का नाश होता है, वैसे ही पर्वत में अग्नि की अनुमिति में अग्न्याकार अन्तःकरणवृत्ति से अग्नि-विषयक अज्ञान का विनाश होता है, अथवा नहीं? 'विनाश होता है' इस पक्ष में अग्नि-विषयक अज्ञान का नाश होने पर भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने से अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होता, यद्यपि यह कह सकते हैं; तथापि पित्त-दोष से जहाँ शङ्ख में पीतत्वभ्रम होता है, वहाँपर 'शङ्खः श्वेतः शङ्खत्वात्' इस अनुमान से श्वैत्याकार अन्तःकरणवृत्ति से श्वैत्य-विषयक अज्ञान के नष्ट होने, भ्रम के उपादान कारण अज्ञान के नष्ट होने एवं भ्रम का नाश हो जाने पर इन्द्रिय-संयोग तो शङ्ख के साथ स्वतः विद्यमान है ही, इसलिए श्वैत्य का प्रत्यक्ष होना चाहिये, सो होता नहीं। किन्तु जबतक नेत्र में पित्तदोष विद्यमान है, तबतक शङ्ख में पीतिमा का ही अनुभव होता है। इसी प्रकार शुक्ति-रजतभ्रमस्थल में भी 'यह शुक्ति है' इत्याकारक आप्तवाक्यजन्य शाब्दबोध होने पर शुक्त्याकार अन्तःकरणवृत्ति से शुक्ति-विषयक अज्ञान का नाश न होने पर तन्मूलक भ्रम का भी नाश हो जायगा। वहाँ इन्द्रिय-संयोग तो शुक्ति के साथ स्वतः विद्यमान है, इसलिए शुक्ति का प्रत्यक्ष होना

से ब्रह्मगत अविद्या की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन आदि की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। दूसरे पक्ष में अनुमान से वह्नि आदि का पर्वत में वह्नि है—ऐसा व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि प्रतिबन्धक अज्ञान वहाँ पर विद्यमान है।

उच्यते—द्विविधमावरणम् । एकमसत्त्वापादकमन्तःकरणावच्छिन्न-साक्षिचैतन्यनिष्ठम्, अन्यदभानापादकं विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठम्; घटमहं न जानामीत्युभयावच्छेदानुभवात् । तत्राद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञान-मात्रेण निवर्तते, अनुमितेऽपि वह्न्यादौ नास्तीति प्रतीत्यनुदयात् । द्वितीयं तु साक्षात्कारेणैव निवर्तते । यदाश्रयं यदाकारं ज्ञानं तदाश्रयं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमात् । परोक्षज्ञानस्य च विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन अन्तःकरण-मात्राश्रयत्वात् । अपरोक्षज्ञानस्यैव विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वेन विषयान्तः-करणोभयनिष्ठत्वात् । तदुक्तम्—

"परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृत्तिहेतुता ।
अपरोक्षधिया नश्येदभानावृत्तिहेतुता ॥"—इति ।

तेनानुमानादौ असत्त्वावरणनाशात्तद्व्यवहारः । अभानावरणानिवृत्त्या च सोपाधिकसाक्षात्कारिभ्रमानिवृत्तिरिति । तस्मान्निर्धर्मकस्याप्यात्मनोऽविद्यया अन्तःकरणतादात्म्याध्यासात् तद्धर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यास उपपद्यते ।

चाहिये। अनुभव तो इसके विपरीत है कि जबतक दोष है, तबतक रजत ही का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार पूर्व दिशा में जिस पुरुष को उत्तर दिशा का भ्रम हुआ है, वहाँपर 'यह पूर्वा है' इत्याकारक आप्तवाक्यजन्य शाब्दबोध से पूर्वाविषयक अन्तःकरणवृत्ति से पूर्वाविषयक अज्ञान का नाश होने पर भ्रम का भी नाश होगा। इन्द्रिय-संयोग तो पूर्वदिशा के साथ विद्यमान है, इसलिए 'यह पूर्वा है' ऐसा प्रत्यक्ष होना चाहिये। वैसे ही ब्रह्मविषयक अनुमान से मूलाज्ञान का विनाश होने पर तत्क्षण ही ब्रह्मसाक्षात्कार होना चाहिये। ऐसी दशा में 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि विधि निरर्थक हो जायगी। यदि इस दोष के परिहार के लिए 'अनुमित्यादि स्थल में तत्तद्विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति के होने पर भी तत्तद्विषयक अज्ञान का विनाश नहीं होता' इस द्वितीय पक्ष का आश्रय करोगे, तो अनुमिति के होने पर भी अग्निविषयक अज्ञान के अविनाश से 'पर्वत में अग्नि है' ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये। प्रत्युत 'अग्नि नहीं है' ऐसा व्यवहार होना चाहिये।

समाधान—आपकी शङ्का का समाधान किया[1] जाता है—आवरण दो प्रकार का है, पहला असत्त्वापदक आवरण अन्तःकरणावच्छिन्न साक्षी चैतन्य में रहता है और दूसरा[2] अभानापादक आवरण विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यनिष्ठ है। क्योंकि 'मैं घट को नहीं जानता' इस प्रकार घट और अहंकार दोनों के अवच्छेद का अनुभव होता है। उनमें से पहिला (असत्त्वापादक) आवरण परोक्ष अथवा अपरोक्ष साधारण प्रमाण के ज्ञान से निवृत्त होता है, क्योंकि अनुमित अग्न्यादि में भी 'नहीं है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। दूसरा अभानापादक आवरण तो साक्षात्कार (अपरोक्ष ज्ञान) से ही निवृत्त होता है, क्योंकि ज्ञान जिस आश्रय में होता है और जिसे विषय

---

१ सत्त्व के अभाव को 'असत्त्व' कहते हैं। 'यह यहाँ नहीं है' इस प्रकार के व्यवहार का आपादन करनेवाला यह आवरण है। इस आवरण से विद्यमान वस्तु में विद्यमान सत्ता के ज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। सत्ताज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप प्रमाता में रहता है। उसका प्रतिबन्धक आवरण भी प्रमाता में ही अवश्य कहना चाहिये, क्योंकि वैयधिकरण्य में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का सम्भव नहीं है।

२ विषयरूप से चेतन का प्रकाशरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसे 'भान' कहते हैं। उसका प्रतिबन्धक आवरण विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप प्रमेय में कहना चाहिये। प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी ज्ञानों में विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति होती ही है, किन्तु प्रत्यक्ष स्थल में इन्द्रिय द्वारा विषयदेश में व्याप्त अन्तःकरण की वृत्ति होती है। परोक्षज्ञानस्थल में तो विषयप्रवेशगमन में कोई साधन नहीं है। इसलिए हृदय-स्थान में स्थित ही अन्तःकरण की वृत्ति होती है। प्रत्यक्ष ज्ञानकाल में अन्तःकरण का विषयदेश में गमन होता है, इसलिए अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमातृ-चैतन्य और विषयावच्छिन्न प्रमेय-चैतन्य एक ही होते हैं। अतः उस अन्तःकरणवृत्ति से प्रमातृ-चैतन्यनिष्ठ असत्त्वापादक आवरण और प्रमेय चैतन्यनिष्ठ अभानापादक आवरण—दोनों आवरणों का नाश होता है। इसलिए यहाँपर 'घटोऽस्ति', 'घटो भाति' ये दोनों व्यवहार होते हैं।

अनुमित्यादि परोक्षज्ञानकाल में तो हृदयदेश में ही अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न हुई है, इसलिए उस वृत्ति से अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमातृ-चैतन्यनिष्ठ असत्त्वापादक आवरण ही का नाश होता है। विषयावच्छिन्न प्रमेय-चैतन्यनिष्ठ अभानापादक आवरण का तो वहाँ अन्तःकरण की वृत्ति के अभाव से विनाश नहीं होता। ऐसी दशा में 'पीतः शङ्खः' इस भ्रमकाल में श्वैत्य को अनुमिति होने पर अन्तःकरणवृत्ति से असत्त्वापादक आवरण का नाश होने पर 'शङ्ख में श्वैत्य है' ऐसी प्रतीति तो होती है, परन्तु श्वैत्य का भान नहीं होता, क्योंकि अभानापादक आवरण विद्यमान है। अतः उस काल में 'शङ्ख में श्वैत्य है' ऐसा ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु 'श्वैत्य की प्रतीति नहीं होती' यह व्यवहार नहीं होता।

करता है, उसी विषय को विषय करनेवाले अज्ञान को निवृत्त करता है—ऐसा नियम है। परोक्ष ज्ञान विषय-इन्द्रिय के सम्बन्ध के अभाव से अन्तःकरणमात्र में आश्रित है। अपरोक्ष ज्ञान ही विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्य होने से विषय और अन्तःकरण दोनों में रहता है। कहा भी है—

'परोक्ष[1] ज्ञान से अज्ञान में रहनेवाली, असत्त्वावरण-हेतुता नष्ट होती है। और प्रत्यक्ष ज्ञान से अज्ञान की अभानावृत्ति-हेतुता नष्ट होती है।' इसलिए अनुमानादि में असत्त्वावरण के नाश से वह्नि आदि का व्यवहार होता है। अभानावरण की निवृत्ति के न होने से सोपाधिक प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति नहीं होती। इस कारण धर्मरहित भी आत्मा का अविद्या से अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास होने से अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का अध्यास उपपन्न होता है।

ननु त्वन्मते अनिर्वचनीयख्यात्यभ्युपगमाद् ये कर्तृत्वादयोऽन्तःकरणधर्मा आत्मन्यध्यस्यन्ते ते अनिर्वचनीयास्तत्रोत्पद्यन्त इति वाच्यम्। तथा च व्यावहारिकप्रातीतिकभेदेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनां द्विधाऽवभासः स्यात्। न स्यात्, तादात्म्याभिमानेनाविवेकात्। सकलधर्मविशिष्टस्यैवान्तःकरणस्य आत्मन्यध्यस्तत्वेन द्वयाभावाद् वा।

शङ्का[2]—तुम्हारे मत में अनिर्वचनीय ख्याति का स्वीकार है, इसलिए कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि अन्तःकरण के जो धर्म आत्मा में अध्यस्त होते हैं, इसलिए वे

---

१ मूलाज्ञान अपने परिणाम-विशेष से असत्त्वापादक और अभानापादक इन दो आवरणों को उत्पन्न करता है। वहाँपर मूलाज्ञान में रहनेवाली जो असत्त्वापादक आवरण की हेतुता है, वही केवल परोक्षज्ञान से नष्ट होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान से तो अभानापादक आवरण की हेतुता भी नष्ट हो जाती है, यह अर्थ है।

२ अनिर्वचनीय की ख्याति = प्रतीति। शुक्ति में जो रजत प्रतीत होता है, वह सत् नहीं है, क्योंकि दूरत्व, अन्धकारादि दोष का अपसरण होने पर 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से उसका बाध देखा जाता है। वह रजत असत् भी नहीं है, क्योंकि 'इदं रजतम्' इत्याकारक प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है। असत् वन्ध्यापुत्रादि की तो दोष से भी प्रतीति नहीं होती। इसलिए उस रजत को न सत् कह सकते हैं, न असत्; किन्तु दोनों से विलक्षण वह 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। अनिर्वचनीय कार्य का उपादानकारण भी कार्य के सदृश अनिर्वचनीय ही कहना चाहिये। वह अज्ञान मूलाज्ञान का अवस्थाविशेष है। उस अवस्था-विशेष अज्ञान का शुक्तिज्ञान से नाश होने पर उसके कार्य रजत का भी नाश हो जाता है। वह

(कर्तृत्वादि धर्म) आत्मा में अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं—ऐसा कहना पड़ेगा। ऐसी दशा में व्यावहारिक और प्रातीतिक भेद से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों की दो प्रकार की प्रतीति होनी चाहिये।

समाधान—नहीं[1] होनी चाहिये, क्योंकि आत्मा और मन के तादात्म्याभिमान से आत्मा और मन के भेद-ज्ञान का अभाव है। अथवा कर्तृत्वादि सकल[2] धर्मों से विशिष्ट अन्तःकरण का ही आत्मा में अध्यास होता है, इसलिए व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद से प्रकारद्वय[3] का अभाव है।

तस्मादेकस्यात्मन उपाधिभेदेन प्रमात्रादिव्यवस्थोपपत्तेर्न सौगतमतापत्तिः, न वा विरोधः। अन्या अपि व्यवस्थाः स्पष्टतरमुपरिष्टात् उपपादयिष्यन्ते। तस्माज्ज्ञानरूपस्यात्मनः सुषुप्तावव्यभिचारित्वाद् देहेन्द्रियादीनां च व्यभिचारित्वाद् दृश्यत्वाच्च तत्र तत्रात्मबुद्धिस्तेषां तेषां वादिनां भ्रान्तिरेवेत्यौपनिषदमेव मतं प्रमाणमिति सिद्धम्॥ १॥

प्रातीतिक रजत अन्यत्र प्रतीयमान व्यावहारिक रजत से पृथक् प्रतीत होता है, व्यावहारिक रजत से अभिन्न होकर नहीं। वैसे ही प्रकृत में अनिर्वचनीय कर्तृत्वादि धर्म यदि आत्मा में आरोपित हों तो उन प्रातीतिक धर्मों की आत्मा में प्रतीति होनी चाहिये। और अन्तःकरण में रहनेवाले व्यावहारिक कर्तृत्वादिकों की अन्तःकरण में प्रतीति होनी चाहिये। इस प्रकार व्यावहारिक और प्रातीतिक भेद से परस्पर भिन्न कर्तृत्वादि धर्मों की आत्मा और अन्तःकरण में दो प्रतीतियाँ होनी चाहिये। स्फटिक में रहनेवाला रक्तिमाभास इसका दृष्टान्त है। जैसे जपाकुसुमगत रक्तिमा की अपेक्षा उसके सन्निकृष्ट स्फटिक में पृथक् रक्तिमा दीखती है, वैसे ही अन्तःकरण के कर्तृत्वादि की अपेक्षा आत्मा में पृथक् कर्तृत्वादि की प्रतीति होनी चाहिये—यह पूर्वपक्षी का आशय है।

१ जैसे जपाकुसुम और स्फटिक का भेदग्रह होता है, वैसे आत्मा और अन्तःकरणरूपी धर्मियों के भेद के अग्रह से धर्मों का भी भेदग्रह नहीं होता, यह भाव है।

२ 'अन्तःकरण के कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों के भेद से आत्मा में अध्यास होता है' इस पक्ष को ग्रहण करके पहले उत्तर कहा है। अब 'धर्मविशिष्ट अन्तःकरण का ही अभेद से आत्मा में अध्यास है' इस पक्ष को ग्रहण करके उत्तर देते हैं।

जैसे कदाचित् जपाकुसुमसन्निकृष्ट रक्त-स्फटिक को देखकर किसी व्यवधान से जपाकुसुम का दर्शन न होने पर स्फटिक में ही रक्त-जपाकुसुम-बुद्धि होती है, वैसे ही अन्तःकरण का पृथक् दर्शन न होने पर कर्तृत्वादि धर्मों की आत्मा में ही प्रतीति होती है।

३ कर्तृत्वादि धर्मों के व्यावहारिक और प्रातीतिक भेद से रूपद्वय का अभाव होने से—यह अर्थ है।

इसलिए[1] एक ही आत्मा के उपाधि-भेद से प्रमाण, प्रमा, प्रमाता, प्रमेय आदि व्यवस्था होने से बौद्ध-मत की आपत्ति भी नहीं है और विरोध भी नहीं है। आगे चलकर अन्य व्यवस्थाएँ भी स्पष्टतया उपपादित होंगी। इस कारण ज्ञानरूप आत्मा का सुषुप्ति में अव्यभिचार है, देह और इन्द्रियों का व्यभिचार है और ये दृश्य भी हैं। इस कारण उन-उन वादियों की देह-इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि भ्रान्तिरूप है। अतः यह उपनिषद् का मत ही प्रमाणरूप से सिद्ध हुआ ॥ १ ॥

स्यादेतत्—आत्मनो निर्धर्मकत्वे प्रमात्रादिव्यवहारस्याध्यासमूलत्वे च 'ब्राह्मणो यजेत' इत्येवमादीनां शास्त्राणामप्रामाण्यप्रसङ्गः, अकर्तुरभोक्तुश्चात्मनः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। वेदाप्रामाण्ये च कुतो ब्रह्मसिद्धिरपि, तस्य तन्मात्रगम्यत्वात्, 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १ । १ । ३) इति न्यायात्। तथा च वेदप्रामाण्याय प्रमात्रादिव्यवहारस्य सत्यत्वमभ्युपेयमित्याशङ्क्य किं तत्त्वज्ञानात्[2] पूर्वमप्रामाण्यमापद्यते, ऊर्ध्वं वा ? तत्राद्ये सर्वेषां प्रमाणानामविद्यावद्विषयत्वेन तद्दशायां बाधाभावान्निष्प्रत्यूहं प्रामाण्यम्। द्वितीये[3] त्विष्टापत्तिरेवेत्याह—

यह[4] बात रहे। आपके कथनानुसार आत्मा[5] निर्धर्मक है। उस आत्मा

---

१ जो पहले पूर्वपक्षी ने एक ही आत्मा की प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमातृरूपता का विरोध कहा है और अविरोध का अङ्गीकार करने पर सौगतमतापत्ति कही है, उसका सोपपत्तिक निरास हो गया।

२ निर्विषयत्व अथवा बाधितविषयत्व रूप हेतु से श्रुति के अप्रामाण्य की जो शङ्का की जाती है, तत्त्वज्ञान से पूर्व तो वह सम्भव नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान से पूर्व श्रुति का निर्विषयत्व और बाधितविषयत्व हेतु ही अज्ञात है। निर्विषयत्व और बाधितविषयत्व ज्ञात ही अप्रामाण्य में हेतु हुआ करता है, स्वरूप-सत् नहीं; क्योंकि स्वाप्न हस्ती के प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य को कोई नहीं जान सकता। ऐसी दशा में तत्त्वज्ञान से पूर्व लोक-व्यवहार अव्याहत (बेरोक) देखा जाता है। इसलिए तत्त्वज्ञान से पूर्व निर्विषयत्व और बाधितविषयत्व ज्ञात नहीं है। अतः अप्रामाण्य-प्रसङ्ग नहीं है।

३ तत्त्वज्ञान होने पर श्रुति का अप्रामाण्य इष्ट ही है।

४ इस कथन से सिद्धान्ती की उक्ति के उत्तरदान में असामर्थ्य से अर्धाङ्गीकार सूचित होता है।

५ आत्मा निर्धर्मक है, यह 'शिवः केवलोऽहम्' इस श्लोक से सिद्ध किया गया है।

में प्रमांता, प्रमाण आदि व्यवहार अध्यासमूलक हैं। इसलिए 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि शास्त्र में अप्रामाण्य हो जायगा, क्योंकि अकर्ता और अभोक्ता आत्मा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। फिर वेद में अप्रामाण्य¹ होने पर ब्रह्मसिद्धि भी कैसे? क्योंकि 'शास्त्रयोनित्वात्' आदि न्याय से ब्रह्म केवल वेद से ज्ञातव्य है। अतः वेद के प्रामाण्य के लिए प्रमाता आदि के व्यवहार की सत्यता को स्वीकार करना चाहिये, ऐसी आशङ्का करके क्या तत्त्व-ज्ञान के पूर्व में अप्रामाण्य की आपत्ति है, या तत्त्व-ज्ञान के पश्चात्? पहले पक्ष में समस्त प्रमाण अविद्यावान् ही को विषय करते हैं, इसलिए उस दशा में बाध न होने से वेद में निर्विघ्न प्रामाण्य है। दूसरे पक्ष में इष्टापत्ति ही है, यह कहते हैं—

ज्ञाता नहीं। ज्ञाता न होने से वह कर्त्ता भी नहीं। ज्ञाता ही लोक में कार्यकारी होता है। कर्त्ता न होने से वह भोक्ता भी नहीं। 'ब्राह्मणो यजेत' यह वाक्य स्वर्गादि किसी फल की अभिसन्धिकर ब्राह्मण को उद्देश्य करके यज्ञ का विधान करता है। आत्मा भोक्ता नहीं, इसलिए उसको फल की अभिसन्धि नहीं। निर्धर्मक होने से आत्मा ब्राह्मण नहीं, अकर्त्ता होने से अनधिकारी और अनधिकारी होने से यज्ञ करने में समर्थ नहीं, क्योंकि यज्ञ क्रियाविशेष है। ऐसी दशा में 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों को निर्विषय होने से अप्रामाण्य-प्रसङ्ग है। यदि कहें कि मूल अविद्या, उसके कार्य अन्तःकरणादि और आत्मा इन दोनों के भेद के अज्ञान से प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्राह्मणत्व आदि धर्म आत्मा में अध्यस्त हैं, इसलिए वैसे आत्मा का स्वरूप उद्देश्य करके 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि विधियों की प्रवृत्ति है; तो खेद है कि यह घट्ट-कुटी-प्रभात-न्याय है—श्रुतियों के प्रामाण्य की रक्षा के लिए तुम प्रवृत्त हुए थे और श्रुतियों का अत्यन्त अप्रामाण्य तुम्हारे गले में पड़ गया। शुक्ति को रजत देखनेवाला और उस रजत का अलङ्कार बनाने की इच्छावाला दोनों ही के नेत्र दूषित हैं। इन दोनों में से पहले की अपेक्षा द्वितीय का भ्रम दृढ और अधिक है। स्वभाव ही से स्वस्वरूप के अज्ञान से जीव भ्रान्त है, वैसे भ्रान्त जीवों को उद्देश्य करके प्रवृत्त हुई श्रुति अत्यन्त भ्रान्त सिद्ध होती है।

शङ्का—श्रुति को अप्रामाण्य हो जाय, इससे अद्वितीय आत्मवादी की क्या हानि है?

१ उत्तर—प्राणिमात्र द्वारा 'अहं' इस रूप से आत्मस्वरूप का जो अनुभव किया जाता है, वह वास्तविक आत्मस्वरूप नहीं है। वेदान्ती के अभिमत वास्तविक आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष से अनुभव नहीं होता। रूपादि गुणों का अभाव होने से उसका बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आन्तर प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरण की शक्ति का अपने उपजीव्य आत्मा में अवकाश नहीं है। कारण सूर्य से प्रज्वलित अयस्कान्त सूर्य के प्रज्वालन में समर्थ नहीं होता। 'यन्मनसा न मनुते' (के० १।५) इस श्रुति से भी प्रतीत होता है कि आत्मा का आन्तर प्रत्यक्ष नहीं होता। अनुमान से भी आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि असङ्ग चिद्रूप आत्मा में तद्व्याप्त लिङ्ग का अभाव है।

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि ।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ २ ॥

न वर्ण हैं, न वर्णों के आचार-धर्म हैं, न आश्रमों के आचार-धर्म हैं, न मेरी धारणा है, न ध्यान है, न योगादि ही है; क्योंकि अविद्या से उत्पन्न अहंकार और ममकार के अध्यास का तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है, इसलिए तत्प्रयुक्त वर्णाश्रम आदि व्यवहार भी नहीं रहते । सब प्रमाणों के बाध होने पर भी अबाधित, अद्वितीय, निर्धर्मक, शिव मैं हूँ ।

न वर्णा इति । वर्णाः = ब्राह्मणत्वादयः । आश्रमाः = ब्रह्मचर्यादयः । आचाराः = स्नानशौचादयः । धर्माः = ब्रह्मचर्यगुरुसेवादयः । अत्र द्वन्द्व-द्वयगर्भषष्ठीतत्पुरुषेण वर्णानामाचारधर्माश्चाश्रमाणामप्याचारधर्माश्च लभ्यन्ते । धारणा बाह्यविषयत्यागेन मनःस्थैर्य्यम् । ध्यानं परमात्मचिन्तनम् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । आदिशब्देन श्रवणमननादयो गृह्यन्ते । सर्वेषां ज्ञानो-त्तरकालमसत्त्वे हेतुमाह—अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानादिति । अनात्मा = आत्मविरोधिनी अविद्या । तदाश्रयस्तदुपादानो योऽहङ्कारममकाराध्यास-स्तस्य समूलस्यापि तत्त्वज्ञानेन हानात् तत्प्रयुक्तवर्णाश्रमादिव्यवहारो नास्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

उपमान से भी वह नहीं हो सकता, क्योंकि निर्धर्मक आत्मा में सादृश्यप्रयोजक साधारण धर्म का असम्भव है । ऐसी दशा में आत्मस्वरूप केवल श्रुतिगम्य है । श्रुति भी साक्षात् उसका प्रतिपादन नहीं कर सकती, किन्तु लक्षणा अथवा निषेध-मुख से ही प्रतिपादन करती है । 'शास्त्रयोनित्वात्' । (ब्र० १ । १ । ३) यह सूत्र भी यही कहता है । 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १ । १ । २) इस पूर्वसूत्र में जगज्जन्मादिकारणत्व जो ब्रह्म का लक्षण कहा है वह किस तरह जाना जा सकता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर उसमें हेतुप्रदर्शनपरक यह सूत्र है । सूत्र का अर्थ यह है—शास्त्र=श्रुति ही एक, योनि=प्रमाण जिसका है, ऐसा होने से । पूर्वोक्त रीति से अध्यस्त आत्मस्वरूप के उद्देश्य से प्रवृत्त हुई श्रुति को यदि अप्रामाण्य होगा तो उस श्रुति से प्रतिपादित आत्मस्वरूप भी सत्य नहीं हो सकता, यह पूर्वपक्षी का आशय है ।

वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि। आश्रम=ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि। आचार=स्नान, शौच आदि। धर्म=ब्रह्मचर्य, गुरु-सेवा आदि। यहाँ वर्ण और आश्रम का एवं आचार और धर्म का परस्पर द्वन्द्व करके पुनः षष्ठी-तत्पुरुष किया है। इससे वर्णों के आचार-धर्म और आश्रमों के आचार-धर्म इस अर्थ का लाभ होता है। धारणा=बाह्य घट-पट आदि विषयों का त्यागकर ब्रह्म में मन को स्थिर करना। ध्यान=परमात्मा का चिन्तन। योग=चित्तवृत्तियों का निरोध। श्लोकस्थ आदि पद से श्रवण, मनन आदि का ग्रहण कियां जाता है। ज्ञान के अनन्तर सबकी असत्ता में हेतु देते हैं—'अनात्माश्रया०' से। अनात्मा=आत्मा की विरोधिनी अविद्या है। वह अविद्या है आश्रय (उपादान) जिसका ऐसा जो अहंकार, ममकार आदि का अध्यास उस अध्यास का और उसके मूल कारण अविद्या का भी तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है। इसलिए अविद्याप्रयुक्त वर्णाश्रमादि-व्यवहार भी नहीं है—यह अर्थ है ॥ २ ॥

वर्णाश्रमादिव्यवहारस्य मिथ्याज्ञानमात्रमूलत्वेन मिथ्यात्वं द्रढयितुं तद्व्यतिरेके सुषुप्तौ तद्व्यतिरेकमाह—

वर्णाश्रमादि[1] व्यवहार के भ्रममूलक होने से उसमें मिथ्यात्व को दृढ करने के लिए सुषुप्ति में मिथ्याज्ञान के न रहने पर वर्णाश्रम आदि के व्यवहार का भी अभाव (आचार्य) प्रतिपादन करते हैं :—

न माता पिता वा न लोका न देवा
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ३ ॥

---

१ वर्ण ब्राह्मणादि और आश्रम ब्रह्मचर्यादि हैं। तन्मूलक 'अयं ब्राह्मणः, अयं क्षत्रियः, अयं ब्रह्मचारी, अयं गृहस्थः, ब्राह्मणो यजेत, ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि व्यवहार मिथ्याज्ञानमूलक हैं, इसलिए मिथ्या हैं। 'अहं मनुष्यः' इत्यादि प्रतीति को भ्रान्तिरूप कहने से ऐसे व्यवहारों की मिथ्याज्ञानमूलकता पीछे सिद्ध की गयी है। इसलिए ईदृश व्यवहार और मिथ्याज्ञान इन दोनों का कार्य-कारण-भाव है। मिथ्याज्ञान के होने पर ईदृश व्यवहार होता है, यह अन्वयमुख से उपपादन किया है। अब मिथ्याज्ञान के न होने पर ईदृश व्यवहार का अभाव होता है, इस प्रकार व्यतिरेकमुख से उपपादन करते हैं। अन्वय और व्यतिरेक से उपपादन किया हुआ कार्य-कारण-भाव दृढ हो जाता है।

न माता है, न पिता है, न देवता हैं, न लोक हैं, न वेद हैं, न यज्ञ हैं, न तीर्थ हैं। सुषुप्ति में निरस्त अतिशून्यात्मक होने से एक, अविशेष, केवल शिव मैं हूँ।

न मातेति। माता = जनकस्त्री। पिता = जनकः पुमान्। देवाः = इन्द्रादय आराध्याः। लोकाः = तदाराधनफलानि स्वर्गादीनि। वेदाः = लौकिकप्रमाणाप्रतिपन्नहिताहितसाधनताप्रतिपादकानि ब्रह्मप्रतिपादकानि च प्रमाणवाक्यानि। यज्ञाः = स्वर्गादिसाधनीभूता ज्योतिष्टोमादयः। तीर्थम् = यज्ञादिसाधनीभूतः कुरुक्षेत्रादिदेशः। एवं पापकर्मसाधनान्यप्युपलक्षणीयानि, सर्वेषां देहाभिमानमूलकत्वात्तदभावे स्वतः सम्बन्धाभावाद् अविद्यमानतेत्यर्थः।

माता = उत्पन्न करनेवाली स्त्री (जननी[1])। पिता = उत्पन्न करनेवाला पुरुष (जनक)। देव = आराधना-योग्य इन्द्र आदि। लोक = देवताओं की आराधना के फलस्वरूप स्वर्ग आदि। वेद = लौकिक प्रमाणों से अज्ञात हित और अहित साधनों का प्रतिपादन करनेवाले तथा ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले प्रमाण-वाक्य। यज्ञ = स्वर्ग के साधन ज्योतिष्टोम आदि। तीर्थ = यज्ञ के साधन-स्वरूप कुरुक्षेत्र आदि देश। इसी[2] प्रकार पापकर्म के साधनों का भी उपलक्षण समझना चाहिये, क्योंकि इन सबका[3] मूल देहाभिमान है। देहाभिमान के अभाव में साक्षात् सम्बन्ध न रहने से माता-पिता आदि की सत्ता नहीं है।

---

१ जननी (माता)।

२ अहितोपदेष्टा नर, नास्तिक, ग्रन्थ, हिंसादि कर्म, श्मशानादि देश आदि को पाप-कर्म-साधन समझना चाहिये।

३ क्योंकि मातृत्वजनक स्त्रीत्व है और जनकत्व जन्यनिरूपित होता है। आत्मा जन्य नहीं, किन्तु देह है। इसलिए आत्मा में देहतादात्म्याभिमान ही से मातृत्व आदि की सम्पत्ति हो सकती है। देहाभिमान ही से इन्द्रादि देवता आराध्य होते हैं। स्वर्गादि फल भी देहाभिमान ही से भोगे जाते हैं। कर्म भी देहाभिमान ही से किये जाते हैं। देहाभिमान का अभाव होने पर तो स्वभाव से असङ्ग आत्मा का माता आदि के साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं। इसलिए सुषुप्तिकाल में न कोई माता है, न पिता—यह वस्तुस्थिति है।

तथा च सुषुप्तिं प्रकृत्य श्रुतिः—'अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहा अभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः¹ श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं² पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति (बृ० ४ । ३ । २२) इत्याद्या अभिमानाभावे सर्वानर्थनिवृत्तिमनुवदन्ति ।

सुषुप्ति के प्रकरण में 'अत्र³ पिता अपिता भवति०' इत्यादि श्रुतियाँ देहाभिमान के अभाव में समस्त अनर्थों की निवृत्ति का अनुवाद करती हैं ।

---

१ शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न चाण्डाल, शूद्र से क्षत्रियाणी में उत्पन्न पौल्कस, श्रमण = संन्यासी, तापस = वानप्रस्थ । यह ब्रह्मचारी, गृहस्थों का उपलक्षण है। सुषुप्ति-अवस्था में आश्रम-लक्षण किन्हीं कर्मों से सम्बन्ध न होने से किस आश्रम से मनुष्य आश्रमवाला उस समय होगा, बहुत क्या कहें ?

२ उस समय आत्मस्वरूप पुण्य (शास्त्रविहित कर्म) से, पाप (निषिद्ध कर्म) से अनन्वागत (असम्बद्ध) होता है। क्योंकि उस समय आत्मा हृदय के सर्वशोकों से अतिक्रान्त होता है। यहाँ 'शोक' शब्द का अर्थ शोक का कारण काम लिया जाता है, क्योंकि इष्ट-वस्तु-विषयक काम ही उस इष्ट-वस्तु का वियोग होने पर शोकरूप से परिणत हो जाता है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में काम ही का अभाव होने से काममूलक पुण्य-पाप-कर्मों के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता।

३ सुषुप्ति में देहाभिमान से शून्य जीवात्मा की 'यह मेरा पिता है' ऐसी वृत्ति नहीं होती, क्योंकि पिता जनक पुरुष को कहते हैं और जन्य-जनक-भाव कर्ममूलक है। कर्म जीवात्मा में स्वरूप से नहीं है, किन्तु देहरूपी उपाधि से देहाभिमान के अधीन है। सुषुप्ति-अवस्था में देहाभिमान नष्ट हो गया है, इसलिए पिता में देहाभिमाननिरूपित पितृत्व नहीं रहता। इसी प्रकार माता भी अमाता होती है। यह भार्या, पुत्रादि सबका उपलक्षण है, क्योंकि नष्टाभिमान जीवात्मा को सुषुप्ति-अवस्था में भार्या, पुत्रादि कैसे रह सकते हैं ? कर्म से प्राप्य स्वर्गादि लोक भी उस समय कर्म के सम्बन्ध का अभाव होने से अलोक ही हैं। कर्म से आराधनीय कर्म के अङ्गभूत देव भी उस समय अदेव ही हैं। कर्म-सम्बन्धी मन्त्र-ब्राह्मण-लक्षण वेद भी अवेद ही हैं। वैसे ही कर्मविशेषरूप यज्ञ भी उस समय अयज्ञ ही हैं। सुषुप्ति-अवस्था में यह जीव न केवल शुभ कर्मों ही से शून्य है, किन्तु अत्यन्त घोर अशुभ कर्मों से भी उस समय असम्बद्ध ही है। क्योंकि शुभ कर्म की तरह अशुभ कर्म भी देहाभिमानमूलक ही हैं। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में स्तेन (चोर) भी अस्तेन हो जाता है;

ननु सर्वव्यवहाराभावे शून्यतैव स्यात्। नेत्याह—निरस्तातिशून्यात्मकत्वादिति। निरस्तमतिशून्यात्मकत्वं यस्मात्तत्तथा। भावप्रधानो निर्देशः। तस्य सुषुप्तिसाधकत्वात् पुनरुत्थानानुपपत्तेश्च। 'अविनाशी[1] वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य[2] भवति'। (बृ० ४। ५। १४), 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै[3] तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वान्नतु[4] तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३)

'भ्रूण' गर्भ को कहते हैं, उसका विघातक भी सुषुप्ति-अवस्था में अभ्रूणहा ही है। उस समय जीव न केवल प्रत्युत्पन्न कर्म से निर्मुक्त है, किन्तु जन्मान्तर में उपार्जित अत्यन्त निकृष्टजातिप्रापक कर्म से भी उस समय वह निर्मुक्त ही है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में चाण्डाल भी अचाण्डाल है।

शङ्का—'चाण्डालं न स्पृशेत्' इस निषेध का अवकाश भी सुषुप्ति-अवस्था में नहीं है, क्योंकि सोया हुआ चाण्डाल चाण्डाल नहीं है, इसलिए उसके स्पर्श से दोष नहीं होना चाहिये।

उत्तर—त्यक्तदेहाभिमान देहसम्बन्धरहित केवल जीवात्मा को स्पर्श करने में यदि तुम्हें सामर्थ्य है, तो निःशङ्क स्पर्श करो, कोई दोष नहीं है।

१ यह आत्मा से विनाश रहित है, क्योंकि उच्छेद-लक्षण विनाश इसमें नहीं है, इसके विरुद्ध सदा अस्तित्व ही आत्मा का स्वाभाविक रूप है।

२ मात्रा (शब्दादि विषय) के साथ आत्मा का सुषुप्ति में संसर्ग नहीं होता, क्योंकि मन और इन्द्रियाँ उस समय वृत्तिशून्य हैं। वृत्तिशून्यता ही उस समय शब्दादि के ज्ञान के अभाव में कारण है। आत्मा की असत्ता इसका कारण नहीं, क्योंकि श्रुति में 'अस्य' पद से आत्मा का अनुवाद करके केवल विषय-संसर्ग ही का निषेध किया है।

३ 'वै' शब्द का अर्थ अवधारण है। सुषुप्ति-अवस्था में यह जीवात्मा जो नहीं देखता, वह वस्तुतः देखता हुआ ही नहीं देखता। यहाँपर 'देखता हुआ' यही हेतु है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का लोप किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं। तब क्यों नहीं देखता, इसका उत्तर कहते हैं—'न तु तद्' इति से।

४ दृश्य के अभाव से ही दृष्टि का अभाव केवल प्रतीत होता है, वास्तव में दृष्टि का अभाव नहीं; क्योंकि चित्रूप से प्रकाशमान ही आत्मा केवल चाक्षुषवृत्ति का अभाववाला है, यह अर्थ है।

इत्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मचैतन्यस्य सुषुप्तौ न शून्यतेत्यर्थः । निराकृतमप्येतत्पुनरपि[1] स्थूणानिखननन्यायेन निराक्रियते ।

शङ्का—समस्त व्यवहार की निवृत्ति होने पर शून्यता ही हो जायगी ।

समाधान—नहीं होगी । अतिशून्यात्मकता का ब्रह्म में निराकरण किया गया है, क्योंकि वह सुषुप्ति का साधक है । शून्य साधक नहीं हुआ करता, शून्य होने पर पुनः उत्थान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । 'अविनाशी वाऽरे०' इत्यादि श्रुति से भी सुषुप्ति में आत्मचैतन्य की शून्यता नहीं है ।

यद्यपि इसका हम पहले निराकरण कर चुके हैं; तथापि 'स्थूणानिखनन'न्याय से फिर भी निराकरण किया जाता है ।

यद्वा—निरस्तमशनायाद्यतीतमद्वितीयमतिशून्यं[2] यद् ब्रह्म तदात्मकत्वात् । तथा च श्रुतिः—'यदा[3] वै पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६ । ८ । १), 'तद्[4] यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न

---

१ 'न भूमिर्न तोयम्' इस श्लोक में 'न खम्' इस कथन से शून्यवाद का आचार्यों ने निराकरण किया है, उसीका 'निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्' इस पद से दृढ़ प्रतिपत्ति के लिए पुनः निराकरण किया है । जैसे गाड़ा हुआ भी स्तम्भ दृढ़ करने के लिए बार-बार हिलाया जाता है, वैसा ही यह निराकरण है । अथवा 'निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्' इससे शून्यवाद का निराकरण नहीं, क्योंकि 'न खम्' इससे पहले ही उसका निराकरण हो चुका है । किन्तु सुषुप्ति-अवस्था में जीवात्मा में केवल अद्वितीय ब्रह्मात्मकता का बोध किया जाता है । यह पक्षान्तर कहा जाता है—'यद्वा' इस ग्रन्थ से ।

२ अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु—इस प्रसिद्ध उर्मि-षट्क से रहित है ।

३ जब यह पुरुष सोता है, तब सत्रूप ब्रह्म से सम्पन्न (एकीभूत) होता है । अपने स्वकीय परमार्थ-सत्य सत्रूप को प्राप्त होता है, यह अर्थ है ।

४ जैसे प्रिया स्त्री से सम्परिष्वक्त (सम्यक् आलिङ्गित) पुरुष एकीभूत की तरह होकर उस क्षण में बाह्य-आभ्यन्तर किसी पदार्थ को नहीं जानता, वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में यह जीवात्मा प्राज्ञ परमात्मा से सम्परिष्वक्त हो एकीभूत होता हुआ बाह्य-आभ्यन्तर किसीको नहीं जानता, यह अर्थ है ।

१४

बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ० ४ । ३ । २१) इति। तेन जगत्कारणीभूत-सर्वज्ञसर्वशक्तिपरिपूर्णानन्दबोधरूपेण ब्रह्मणा सहैकत्वादसंसार्येव जीव इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

अथवा निरस्त = अशनाया-पिपासा आदि से रहित। अद्वितीय = अपनेसे अतिरिक्त और सबसे शून्य जो ब्रह्म तत्स्वरूप होने से। इस विषय में 'यदा वै०' इत्यादि श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् के कारणस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, आनन्दबोधरूप ब्रह्म के साथ जीव की एकता होने से जीव असं-सारी ही है ॥ ३ ॥

एवं तावत् त्रिभिः श्लोकैर्वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं त्वंपदार्थो निर्धारितः। सम्प्रति तत्पदार्थस्तथैव निर्धारणीयः। तत्र निराकार्या वादि-विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते।

इस[1] प्रकार तीन श्लोकों से वादियों की विप्रतिपत्तियों का निरास करके त्वंपद के अर्थ का निर्धारण हो गया। अब उसी प्रकार तत्पद के अर्थ का भी निर्धारण करना चाहिये। निर्धारण के लिए पहले निराकरणयोग्य वादियों की विप्रतिपत्तियाँ दिखायी जाती हैं।

ननु न ब्रह्मणा सह जीवस्यैक्यमुपपद्यते। तथाहि—सच्छब्दवाच्यं

---

१ अभिप्राय यह है कि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति से प्रतिपादित जीव-ब्रह्म की एकता यहाँ दिखाना ही आचार्यों का उद्देश्य है। वह एकता जीव और ब्रह्म में प्रतीयमान धर्मों को आरोपित मानकर ही हो सकती है। दोनों में से अन्यतर में आरोपितत्व का अङ्गीकार करने से भी निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि एक में धर्मों के सत्य होने पर निर्धर्मक के साथ उसका अत्यन्ताभेद हो नहीं सकता। इसलिए दोनों ही में धर्मों का आरोपितत्व सिद्ध करना होगा। पहले तीन श्लोकों से जीव में धर्मों का आरोपितत्व सिद्ध कर दिया। अब ब्रह्म में धर्मों के आरोपितत्व की सिद्धि के लिए 'न साङ्ख्यम्' इत्यादि श्लोक का प्रणयन करते हैं।

जगत्कारणं ब्रह्म 'सदेव[1] सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६ । २ । १) इत्यादिवाक्येन प्रतिपादितम् । जगत्कारणं च प्रधानमचेतनमिति सांख्याः । पशुपतिरेव जगत्कारणम्, स च चेतनोऽपि जीवाद्भिन्नस्तदुपास्य एवेति पाशुपताः । भगवान् वासुदेव ईश्वरो जगत्कारणम् । तस्मादुत्पद्यते संकर्षणाख्यो जीवः । तस्मान्मनः प्रद्युम्नः । ततोऽहङ्कारोऽनिरुद्धः । तेन कार्यत्वाज्जीवस्य तेन सह न ब्रह्मणो वासुदेवस्यात्यन्ताभेद इति पाञ्चरात्रिकाः । परिणामी नित्यः सर्वज्ञो भिन्नाभिन्न इति जैनास्त्रिदण्डिनश्च । नास्ति सर्वज्ञत्वाद्युपेतं ब्रह्म, आम्नायस्य क्रियापरत्वेन तत्र तात्पर्याभावात् । किन्तु 'वाचं धेनुमुपासीते'तिवत् सर्वज्ञत्वादिदृष्ट्या जगत्कारणं परमाण्वादि जीवो वोपास्य इति मीमांसकाः । अस्ति[2] नित्यज्ञानादिमानीश्वरः सर्वज्ञः पृथिव्यादिकार्यलिङ्गानुमितः । स च जीवाद्भिन्न एवेति तार्किकाः । क्षणिकः सर्वज्ञ इति

---

१ यह पुरोदृश्यमान सारा जगत् सृष्टि से पहले सत्‌रूप ही था—यह श्रुति का अर्थ है। जैसे 'यह जो घट है, वह पूर्वाह्ण में मृत्तिका ही था' ऐसा कहने से मृत्तिका घट का कारण है, यह जाना जाता है; वैसे ही इस श्रुति में सत् जगत् का कारण है, यह जाना जाता है। यह श्रुति सत्‌रूप ब्रह्म को ही जगत् का कारण कहती है; यह सिद्धान्त है। प्रधानकारणवादी साङ्ख्य कहते हैं कि यह श्रुति प्रधान को जगत्-कारण कहती है। त्रिगुणात्मक अचेतन ही प्रधान जगत् का कारण है। प्रधान से व्यतिरिक्त कोई ब्रह्म है ही नहीं। साङ्ख्य-मत में ब्रह्म नहीं है, इसलिए जीव-ब्रह्म की एकता के वाद की कथा ही दूर है।

२ वैशेषिक कहते हैं—जीव के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न अनित्य हैं और ईश्वर के नित्य हैं। वह ईश्वर सर्वज्ञ है। वे ईश्वर में अनुमान प्रमाण देते हैं, जो इस प्रकार है—'पृथ्वी सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवत्। द्व्यणुकजनकमाद्यं-परमाणुकर्म, प्रयत्नवज्जन्यम्, कर्मत्वात्, सम्मतवत्। ब्रह्माण्डादिधृतिः प्रयत्नवज्जन्या, धृतित्वात्, वियति विहङ्गमधृतिवत्', आदि। इन अनुमानों से नित्य, एकप्रयत्नवान् ईश्वर की सिद्धि होती है। और जन्यता तो 'जहाँ समवाय-सम्बन्ध से कार्य रहता है, वहाँ विषयता-सम्बन्ध से ज्ञानादि रहते हैं' इस प्रकार घटादिकों में प्रत्यासत्ति से नियत देखी गयी है। उक्त रीति से जीव से सिद्धसाधन और अर्थान्तर नहीं है, क्योंकि जीव के ज्ञान-कृत्यादि की जन्यता द्व्यणुक में नहीं है, क्योंकि विषयता-सम्बन्ध से जीव के ज्ञान आदि द्व्यणुक में नहीं रहते।

सौगताः[1]। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो[2] नित्यज्ञानादिरूपः प्रधानांशसत्त्वगुणप्रतिफलिततया सर्वज्ञः संसारिपुरुषविलक्षण एवेति पातञ्जलाः।

शङ्का—ब्रह्म के साथ जीव की एकता उपपन्न नहीं हो सकती। देखिये—सत्-शब्द का वाच्य ब्रह्म जगत् का कारण है, यह बात 'सदेव सौम्य०' इत्यादि वाक्यों से कही गयी है। सांख्य कहते हैं—जगत् का कारण प्रधान अचेतन (जड) है। पाशुपत[3] (शैव) कहते हैं कि पशुपति ही जगत् का कारण है। वह यद्यपि चेतन है, तथापि जीव से भिन्न है, क्योंकि वह जीव का उपास्य ही है। पाञ्चरात्रिक[4] कहते हैं कि भगवान्

---

१ बौद्ध मानते हैं कि जगत् में दृश्यमान सब वस्तु क्षणिक, दुःखरूप, स्वलक्षण और शून्य हैं। राग-द्वेषादि दोषों से सर्वथा अस्पृष्ट जो सर्ववस्तुविषयक क्षणिक ज्ञान है, उस ज्ञान का प्रवाह ही ईश्वर है। स्व (व्यक्ति) ही जिसका लक्षण हो, उसको 'स्वलक्षण' कहते हैं। घटादि सब पदार्थ प्रत्येक व्यक्तितः स्वस्वरूप से ही लक्षित होते हैं, अनेक घटों में अनुगत घटत्वजाति से नहीं; क्योंकि बौद्ध जाति का अङ्गीकार नहीं करते। जीव का ज्ञान दोषों से अस्पृष्ट नहीं और न सर्वविषयक ही है। अतः इनके मत में जीव और ईश्वर का भेद सिद्ध ही है।

२ अविद्या आदि पञ्चक्लेश और विहित, प्रतिषिद्ध, मिश्रभेद से तीन प्रकार के कर्म, विपाक (कर्मफल), आशय (फल के पाकपर्यन्त चित्त में रहनेवाले संस्कार) इन अविद्यादि से कालत्रय में भी असंस्पृष्ट नित्य ज्ञानस्वरूप ईश्वर है। वह प्रधान के कार्य सब पदार्थों में अंशभूत जो सत्त्वगुण है, उसमें प्रतिबिम्बित होकर उन सबका प्रकाश करता है। इस प्रकार ईश्वर सर्वज्ञ है। इसके विपरीत 'संसारी जीव अल्पज्ञ है' इस मत में भी जीव और ईश्वर का भेद ही है। अब जीव और ईश्वर के एकतावादी अद्वैत-वेदान्तियों का मत कहा जाता है।

३ पशुपति ही ब्रह्म है, किन्तु वह जीव का उपास्य है। उपास्य और उपासक का भेद अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। इसलिए इस मत में भी जीव-ब्रह्म की एकता नहीं है; किन्तु अत्यन्त भेद ही है। वैसे ही पाञ्चरात्रिक मत में भी अत्यन्त अभेद नहीं है, यह आशय है।

४ भगवान् वासुदेव ही ब्रह्म है। वे षड्गुण-परिपूर्ण हैं। उनके ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज ये छः गुण हैं। इनमें (१) सामान्य और विशेषरूप से सर्ववस्तुविषयक प्रत्यय को 'ज्ञान' कहते हैं। (२) जगत् के उत्पादन में श्रम का अभाव 'बल' है। (३) जगत्-प्रकृति होने पर भी दुग्ध के दधिभाव की तरह विकार का अभाव 'वीर्य' है। (४) इच्छा का अप्रतिघात 'ऐश्वर्य' है। (५) जगत् की मूलकारणता 'शक्ति' है। और (६) सहकारी

वासुदेव ईश्वर हैं, वे ही जगत् के कारण हैं; उनसे संकर्षणनामक जीव उत्पन्न होता है, उससे मन का अभिमानी देव प्रद्युम्न उत्पन्न होता है, उससे अहंकार का अभिमानी देव अनिरुद्ध उत्पन्न होता है। इसलिए कार्यरूप जीव के साथ वासुदेवरूप ब्रह्म का अत्यन्त अभेद नहीं है। जैन[1] और त्रिदण्डी कहते हैं—परिणामी, नित्य, सर्वज्ञ भिन्न-अभिन्न तत् पदार्थ है। मीमांसक[2] कहते हैं कि सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त ब्रह्म

की अनपेक्षता 'तेज' है। उन वासुदेव भगवान् से संकर्षण उत्पन्न होता है। सब जीवों के अभिमानी जीव की संकर्षण संज्ञा है। उस जीव से 'प्रद्युम्न' उत्पन्न होता है। सब मनों के अभिमानी मन की 'प्रद्युम्न' संज्ञा है। उस मन से 'अनिरुद्ध' उत्पन्न होता है। सब अहंकारों के अभिमानी अहंकार की 'अनिरुद्ध' संज्ञा है। जीव, मन और अहंकार यद्यपि साक्षात् और परम्परा से भगवान् के कार्य होने से षड्गुणों के आश्रय हैं, तथापि उनमें भगवान् की तरह उन गुणों का निरतिशयोत्कर्ष नहीं है, किन्तु सामान्यतः उन्मेषमात्र है। उनमें से भी जीव में ज्ञान और बल का उन्मेष है, इतर गुण तिरोभूत हैं। मन में वीर्य और ऐश्वर्य का उन्मेष है, इतर तिरोभूत हैं। अहङ्कार में शक्ति और तेज का उन्मेष है, इतर तिरोभूत हैं। इस प्रकार जीवादि सारे जगत् के भगवान् वासुदेव कारण हैं। कार्य और कारण का अत्यन्त अभेद नहीं, किन्तु भेदसहकृत अभेद है। मोक्षपर्यन्त भेद, फिर अभेद—इस प्रकार काल-भेद से भेद और अभेद का अविरोध है।

१ जैनों के मत में जीवात्मा तत्तत् शरीर के अनुसार शरीर के सदृश परिमाणवाला होता है। भगवान् अर्हन् परमेश्वर का भी ऐसा ही स्वभाव है और वह इच्छानुसार अणु, मध्यम और महान् हो सकता है। ऐसा होने पर भी वह प्रवाहरूप से नित्य ही है। जैसे अनेक घटों का तत्तत् व्यक्ति की दृष्टि से परस्पर भेद और घटत्वदृष्टि से अभेद होता है, वैसे ही जीव और ईश्वर का व्यक्ति-दृष्टि से भेद और चैतन्य-दृष्टि से अभेद है। त्रिदण्डियों का मत भी ऐसा ही है। उसमें विशेष यह है कि जैन नास्तिक और त्रिदण्डी आस्तिक कहे जाते हैं। त्रिदण्डी लोग तार्किकों की तरह सर्वज्ञ ईश्वर का अङ्गीकार करते हैं। वह ईश्वर परिणामी, नित्य और जीव से भिन्न और अभिन्न है। आस्तिक होने से त्रिदण्डी श्रुति को प्रमाण मानते हैं। अभेददृष्टि से 'तत्त्वमसि' श्रुति उपपन्न होती है और भेददृष्टि से 'य आत्मनि तिष्ठन्' यह श्रुति उपपन्न होती है।

२ ईश्वर ही नहीं है, फिर जीव के साथ उसके भेद और अभेद की कथा तो दूर रही। कर्म ही जीवों को शुभ-अशुभ फल देने में समर्थ हैं। समस्त वेद-राशि तो प्रधानता से कर्म की ही प्रतिपादक है। श्रुतियों के तात्पर्य का विषय ब्रह्म कोई है ही नहीं। जहां श्रुति में सर्वज्ञ की उपासना प्रतीत होती है, वहां जगत् के कारणभूत परमाणु, प्रधान आदि ही में सर्वज्ञत्व का आरोप करके उनकी उपासना के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य है। अथवा जीव में सर्वज्ञत्व का आरोप करके जीव की उपासना में तात्पर्य है। जैसे वाणी में धेनुत्व का आरोप

नहीं है, क्योंकि वेद उपासनापरक है, अतः उसका ब्रह्म में तात्पर्य ही नहीं है। किन्तु जैसे 'धेनु-दृष्टि से वाणी की उपासना करें' कहा गया है, वैसे ही 'सर्वज्ञत्व आदि दृष्टि से जगत्कारण परमाणु आदि की अथवा जीव की उपासना करें' ऐसा कहा गया है। नैयायिक कहते हैं कि नित्यज्ञान आदि से सम्पन्न, सर्वज्ञ, पृथिवी आदि कार्यरूप लिङ्ग (हेतु) से अनुमित ईश्वर है। वह जीव से भिन्न ही है। बौद्ध कहते हैं कि क्षणिक तथा सर्वज्ञ आत्मा है। भगवान् पतञ्जलि के अनुयायी कहते हैं कि क्लेश, कर्म, फल और वासनाओं के सम्बन्ध से रहित, नित्यज्ञानस्वरूप, प्रधानांश सत्वगुण में प्रतिबिम्बित होने से वह सर्वज्ञ और संसारी जीवों से विलक्षण है।

अद्वितीयपरमानन्द एव ब्रह्म। तच्च जीवस्य वास्तवं स्वरूपम्। मायया च सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं जगदुपादानं निमित्तं चेत्यौपनिषदाः। एवं वादिविप्रत्तिपत्तिभिः संदिग्धे तत्पदार्थे औपनिषदपक्षपरिशेषेण तन्निर्णयायाऽऽह भगवान्—

वेदान्ती कहते हैं कि अद्वितीय[1] परमानन्द ही ब्रह्म है, वही जीव का वास्तव स्वरूप है। माया से सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट होता हुआ वह जगत्[2] का उपादान एवं निमित्तकारण है। इस प्रकार वादियों की विप्रतिपत्तियों से तत्पदार्थ के संदिग्ध होने पर वेदान्त-पक्ष का ही परिशेष होने से उसके निर्णय के लिए भगवान् आचार्य कहते हैं—

करके वाणी की उपासना 'वाचं धेनुमुपासीत' इस श्रुति में प्रतिपादित है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिये।

१ विज्ञान आनन्दमात्रस्वरूप ब्रह्म है, वही जीव और ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है और सब जगत् माया से कल्पित ही है। जब कि सब कल्पित है, तो अर्थात् ही सर्वनिरूपित सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व ब्रह्म में मायिक ही है। वह मायिकधर्मविशिष्ट ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहा जाता है। इसी प्रकार मायिक किञ्चिज्ज्ञत्व आदि धर्मविशिष्ट ब्रह्म ही 'जीव' कहा जाता है। इनके मत में जीव और ईश्वर का वास्तविक स्वरूप एक ही है। इसलिए इस मत में जीव-ईश्वर का अभेद ही सिद्ध होता है।

२ मायाविशिष्ट होने से वह उपादान-कारण है और मायासहकार से निमित्त-कारण है।

न सांख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं
न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ४ ॥

न सांख्य का मत श्रेष्ठ है, न शैव; न पाञ्चरात्र, न जैन और न मीमांसकों का ही मत उचित है; विशिष्टानुभूति से विशुद्धात्मक होने से एक, अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

न सांख्यमिति। आदिपदेनानुक्तानां संग्रहः। न[1] तावदचेतनं प्रधानं जगदुपादानम्, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इतीक्षणपूर्वकसृष्टिश्रवणात्। 'अनेन[2] जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति जीवात्मत्वव्यपदेशात्। 'येनाश्रुतं[3] श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।३) इति, 'यस्मिन्[4] विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'

---

१ उस जगत्कारण सत् ने 'ऐक्षत' ईक्षण (विचार) किया। किस प्रकार विचार किया? 'बहु स्याम्' (मैं प्रभूत प्रकर्ष से उत्पन्न) हो जाऊँ। ईक्षण चेतन का धर्म है। सांख्यादि मत में अचेतन जगत्कारण प्रधान में ईक्षण बन नहीं सकता।

२ 'जगत्कारण सत् ने तेज, जल और पृथ्वी को उत्पन्न करके फिर ईक्षण किया कि जीवरूप आत्मा से प्रवेशकर 'इसका यह नाम है, यह रूप है' इस प्रकार नाम-रूप का व्याकरण करूँ।' ईक्षण चेतन का धर्म है, जीव भी चेतन है, इसलिए जीवरूप से प्रवेश चेतन का ही हो सकता है, अचेतन प्रधान का नहीं। इस श्रुति में 'जीवेन आत्मना' इस प्रकार जगत्कारण का जीव स्वरूप बतलाया है।

३ जिस जगत्कारण वस्तु के श्रवण से सबका श्रवण और मनन से सबका मनन और विज्ञान से सबका विज्ञान होता है।

४ जिस जगत्कारण वस्तु के ज्ञात होने पर यह सब जड-चेतनात्मक जगत् विज्ञात हो जाता है, वह परमात्मा जब जगतकारण है, तो उसके ज्ञान से उससे अभिन्न जीव का भी यथार्थरूप से ज्ञान हो सकता है और जड जगत् भी उसीमें कल्पित है, इसलिए परमात्मा के ज्ञान से जड जगत् का भी ज्ञान हो सकता है। सांख्याभिमत प्रधान यदि जगत्कारण हो, तो उसके कार्य जड-पदार्थों का तो यथार्थरूप से ज्ञान हो सकता है। जीव का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जीव न तो प्रधान से अभिन्न है, न प्रधान का कार्य ही है।

(मु० १ । १ । ३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात् प्रधानज्ञानेन तदप्रकृतीनां पुरुषाणां ज्ञातुमशक्यत्वात् 'ऐतदात्म्यमिदं[1] सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६ । ८ । ७) इति च तदभेदस्य नवकृत्व उपदेशात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २ । १ । १) इति श्रुत्यन्तरादचेतनस्य जगत्कारणत्वे विचित्ररचनानुपपत्तेः, प्रधानमहदादेरप्रामाणिकत्वाच्च न सांख्यमतं साधु ।

श्लोकस्थ आदि पद से अनुक्त वादियों के मत का संग्रह है। अचेतन प्रधान जगत् का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि 'तदैक्षत॰' इस श्रुति से विचारपूर्वक सृष्टि सुनी गयी है, और 'अनेन जीवेन॰' इस श्रुति से जगत्कारण सत् में जीवात्मता का व्यपदेश है। 'यस्मिन् विज्ञाते॰' इस श्रुति से एक के विज्ञान से सब विज्ञानों के ज्ञान की प्रतिज्ञा है। प्रधान के अकार्य पुरुषों का प्रधान के ज्ञान से ज्ञान नहीं हो सकता। 'ऐतदात्म्यमिदं॰' इस श्रुति से जीव का सत् के साथ अभेद का नौ वार उपदेश है। 'तस्माद्वा एतस्मात्'[2] इस श्रुत्यन्तर से चेतन आत्मा जगत् का कारण है। अचेतन

---

१ एतत्-शब्द से प्रकरणस्थित जगत् के मूल कारण का परामर्श है। आत्म-शब्द स्वरूप का वाचक है। यह सब दृश्यमान जगत् मूलकारणस्वरूप है, वह मूलकारण सत्य है। जो मूलकारण है, वह आत्मा है। वह आत्मा तू है अर्थात् मूलकारण तू है—यह श्वेतकेतु के प्रति उद्दालक का उपदेश है। सांख्याभिमत प्रधान जगत्कारण नहीं है, क्योंकि वह आत्मा नहीं है, आत्मा जगत् का कारण है—यह प्रतिपादन करने के लिए ही यह वाक्य है। किंच 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जगत्कारण के साथ जीवात्मा की एकता का प्रतिपादन करता है। प्रधान जगत्कारण हो तो उस जड प्रधान के साथ जीवात्मा की एकता नहीं होती। यदि तत्पद की तदधीन अर्थ में लक्षणा करें, तो तत्-शब्द से प्रधान का परामर्श होगा। ऐसी दशा में जीवात्मा प्रकृति के अधीन है, यह 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ होगा, सो क्लिष्ट कल्पना है। 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस न्याय से लक्षणा अनुचित भी है। किंच, जीव के प्रकृत्यधीनत्व-प्रतिपादन में यदि श्रुति का तात्पर्य होता, तो श्रुति स्पष्ट कह देती कि तू प्रकृति के अधीन है। यद्यपि ऐसा कहने में गौरव होता है, तथापि जैसे दृढ प्रतिपत्ति के लिए लाघव का अनादर करके 'तत्त्वमसि' यह नौ वार उपदेश किया है, वैसे ही अधीन शब्द के अनुच्चारणजन्य लाघव का अनादर करके स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए 'तू प्रकृति के अधीन है' ऐसा ही कहना उचित था।

२ उस आत्मशब्दित ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु। इस प्रकार आत्मा से जगत् की उत्पत्ति कही है, इसलिए आत्मा ही जगत्कारण है, प्रधान नहीं।

प्रधान को यदि जगत् का कारण मानें, तो विलक्षण[1] रचना की उपपत्ति नहीं होगी। दूसरी बात यह कि प्रधान[2] और महत्तत्त्व आदि में कोई वैदिक प्रमाण भी नहीं है। इसलिए सांख्य-मत युक्तियुक्त नहीं है।

एवं पाशुपतं पाञ्चरात्रिकं जैनं च मतं श्रुतियुक्तिबाधितत्वादयुक्तम्। न च विधिशेषत्वाच्छ्रुतिर्न ब्रह्म प्रतिपादयतीति मीमांसकमतं युक्तम्; असिद्धत्वाद् विधिशेषत्वस्य। न चार्थवादाधिकरणन्यायाद् विधिशेषत्वम्; वैषम्यात्। स्वतः प्रयोजनवदर्थाप्रतिपादकानां 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१) इत्येवमादीनां स्वाध्यायविधिग्रहणान्यथानुपपत्त्या प्रयोजनवदर्थपरत्वे कल्पनीये शब्दभावनेतिकर्त्तव्यतांशसाकाङ्क्षस्य विधेः सम्प्रदानभूतदेवतादिस्तुतिद्वारेण तदंशपूरकत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन तदुभयैकवाक्यतेत्यर्थवादाधिकरणे निर्णीतम्।

इसी[3] प्रकार शैव, पाञ्चरात्र, जैन और त्रैदण्डिक-मत भी श्रुति तथा युक्ति से

---

१ विलक्षण अवयवसन्निवेशयुक्त गिरि, नदी, समुद्रादि की रचना विचित्र है और वह स्रष्टव्य की आलोचना से शून्य, चेतन से अप्रेरित, अचेतन प्रधान से नहीं हो सकती।

२ चेतन से अनधिष्ठित होने से सांख्याभिमत प्रधान, महदादि अप्रामाणिक हैं। भारतादि में उक्त प्रधान आदि तो चेतन से अधिष्ठित हैं, इसलिए प्रामाणिक हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—ईश्वर से अधिष्ठित माया ही प्रधान अथवा प्रकृति कही जाती है। 'तदैक्षत०' (छा० ६।२।३) इस श्रुति में कहा हुआ स्रष्टव्यालोचनरूप ईक्षण महत्तत्त्व कहा जाता है। 'सोऽकामयत' (तै० २।६) इस श्रुति में कहा हुआ काम अहङ्कार कहा जाता है।

३ सांख्य-मत की तरह पाशुपत, पाञ्चरात्रिक और जैनों का मत भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह श्रुति और युक्ति के विरुद्ध है। क्रमशः जड एवं चेतनरूप जीव और ईश्वर का वास्तव भेद मानने से ये द्वैतवादी हैं। 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते' (कै० १७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) इत्यादि श्रुतियाँ तो अद्वैत का प्रतिपादन करती हैं। 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इत्यादि श्रुतियाँ द्वैत का निषेध करती हैं। औपाधिक भेद के अङ्गीकार से सब व्यवहारों की सिद्धि हो सकती है। इसलिए द्वैत का अङ्गीकार गौरव-दोष से दुष्ट होने के कारण युक्तिविरुद्ध है। मीमांसकादि भी द्वैतवादी ही हैं। इस प्रकार

१५

बाधित होने के कारण युक्त नहीं हैं। विधि[१] का शेष होने के कारण श्रुति ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करती, यह मीमांसकों का मत भी युक्त नहीं है। क्योंकि ब्रह्म विधि-शेष (विधि का उपकारक) नहीं है। अर्थवादाधिकरण-न्याय[२] से भी ब्रह्म विधि-शेष नहीं है, क्योंकि विषमता है। साक्षात् प्रयोजनवाले अर्थों के अबोधक 'वायुर्वै०' इत्यादि वाक्यों को 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि के ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से प्रयोजनवत् अर्थपरत्व की कल्पना करनी चाहिये, इसलिए शब्द-भावना और इति-

---

यद्यपि उनके मत का भी निरास हो गया, तथापि मीमांसकोक्त अधिक अंश का अनुवाद करके दूषण देते हैं—'न च विधिशेषत्वात्' इस ग्रन्थ से।

१ 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १ । १ । ६), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १ । १) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करतीं, किन्तु जगत् के कारण परमाणु आदि में अथवा जीव में सर्वज्ञत्व का आरोप करके उसकी प्रशंसा करती हैं। इसलिए सर्वज्ञत्वादि दृष्टि से उनकी उपासना सिद्ध होती है। इसलिए 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुतियाँ 'आत्मानमुपासीत' इस विधि की अङ्ग हैं। अथवा यज्ञादि कर्मों के कर्ता जीव के स्तावक होने से यज्ञादि कर्म विधि के अङ्ग हैं, सर्वथा कर्माङ्गत्व के विना किसी भी श्रुति की सार्थकता नहीं है, क्योंकि वेद केवल क्रिया के लिए है—यह मीमांसकों का आशय है।

२ जैमिनीय मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का यह प्रथम अधिकरण है। आशय यह है—'वायव्यँ श्वेतमालभेत भूतिकामः' (तै० सं० २ । १ । १) यह विधिवाक्य है। वायु देवता जिसका हो, उस पशु को 'वायव्य' कहते हैं। ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामनावाले पुरुष को वायुदेवता के लिए श्वेत पशु का आलम्भन करना चाहिये, यह इससे विधान किया जाता है। इसके अनन्तर 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति' (तै० सं० २ । १ । १) यह अर्थवादवाक्य है। 'क्षेपिष्ठा' का अर्थ है शीघ्र गतिवाला। 'शीघ्रगति वायुदेव यज्ञकर्ता यजमान द्वारा दिये गये योग्य हविर्भाग से प्रसन्न होकर भाग देनेवाले यजमान को ऐश्वर्य देता है', यह उसका अर्थ है। इस अर्थवादवाक्य में कोई कर्तव्य प्रतीत नहीं होता। किन्तु भारत, रामायण आदि की तरह इसमें कोई वृत्तान्त प्रतीत होता। इसलिए यह वाक्य विधिवाक्य नहीं है। पूर्व विधिवाक्य के साथ इसकी एकवाक्यता भी नहीं है, क्योंकि दोनों ही वाक्य परस्पर निरपेक्ष होने से स्वतन्त्रता से अर्थ-बोधन कर सकते हैं। इस प्रकार क्रिया का शेष न होने से इस अर्थवादवाक्य को अनर्थता प्राप्त होती है। यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुति में स्वाध्याय के अध्ययन का विधान किया है। उक्त अर्थवादवाक्य स्वाध्याय के अन्तर्गत है, इसलिए उसका भी अध्ययन प्राप्त है। अध्ययन का दृष्ट फल है अर्थज्ञान। अर्थज्ञान होने पर जैसे 'इससे साध्य क्या है ?' यह आकांक्षा होती है, वैसे ही विधिवाक्य को भी आकांक्षा होती ही है, क्योंकि विधिवाक्य पुरुष को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह

कर्त्तव्यतारूपी अंश की विधि को आकांक्षा है। इसलिए सम्प्रदानभूत देवता आदि की स्तुति के द्वारा उस अंश का पूरक होने से नष्टाश्वदग्धरथ-न्याय[1] से विधि और अर्थवाद की एकवाक्यता है—ऐसा निर्णय अर्थवादाधिकरण में किया गया है।

वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानाच्च साक्षादेव परमानन्दप्राप्तिर्निःशेषदुःख-निवृत्तिश्च पुरुषार्थौ लभ्यत इति निराकाङ्क्षत्वान्नान्यशेषत्वसंभावना। प्रत्युत विधय एवान्तःकरणशुद्धिद्वारा तच्छेषतां भजन्त इति। तस्मात् प्रयोजन-वदबाधिताज्ञातज्ञापकत्वेन वेदान्तानां स्वत एव प्रामाण्यादस्त्येव ब्रह्मेति न मीमांसकमतसिद्धिः।

वेदान्तवाक्य[2] से उत्पन्न हुए ज्ञान से तो साक्षात् ही परमानन्द की प्राप्ति एवं समूल दुःख की निवृत्तिरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। इसलिए आकांक्षा न होने

प्रेरणा ही 'शब्दभावना' है। 'प्रेरणा' शब्द का अर्थ है पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल व्यापार। 'व्यापार' और 'भावना' पर्यायवाची शब्द हैं। वह व्यापार विधिवाक्यरूप शब्द में रहता है, इसलिए प्रेरणा भावना कही जाती है। सामान्यतः प्रेरणामात्र से सब पुरुष प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु प्रेरणाविशेष से प्रवृत्त होते हैं। वही प्रेरणा इतिकर्त्तव्यता-अंश है और वह यहाँ विधेय अर्थ का प्राशस्त्यज्ञापनरूप है। वह प्राशस्त्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' एतावन्मात्र विधिवाक्य से बोधित नहीं हो सकता। 'वह किस प्रकार करना चाहिये' इस प्रकार इति-कर्त्तव्यता की आकांक्षा विधिवाक्य को सिद्ध ही है। ऐसी दशा में विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य इन दोनों में आकांक्षा होने से और दोनों में परस्पर की आकांक्षा के दूरीकरण की सामर्थ्य होने से एकवाक्यता सम्पन्न होती है। वाक्यार्थबोध में निराकांक्ष होने से पदैकवाक्यता का अभाव होने पर भी वाक्यार्थप्रतीति के उत्तरकाल में आकांक्षा के उत्थापन से वाक्यैकवाक्यता हो ही सकती है, जो इस प्रकार है—यतः शीघ्रगामी होने से शीघ्र फल देनेवाला वायु इस पशु का देवता है, इसलिए इस प्रशस्त वायव्य पशु का आलम्भन करे। इस अर्थवादवाक्य की तरह 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि वाक्यों की भी विधिशेषता कल्पनीय है।

१ अर्थात् घोड़ेवाले दो रथों में से एक रथ के घोड़े मर गये और दूसरा रथ जल गया। वहाँ दूसरे रथ के घोड़े पहले रथ में जोड़कर जैसे काम चलाया जाता है, वैसे ही प्रकृत में वाक्यैकवाक्यता से विधिवाक्य और अर्थवाद-वाक्य का संयोजन करना चाहिये। इस प्रकार अर्थवादाधिकरण-सिद्धान्त को दिखाकर प्रकृत में उससे विषमता दिखाते हैं।

२ अर्थवाद-वाक्य-प्रतिपाद्य अर्थ को विधिशेष मानने से विधि द्वारा ही फल हो सकता है। स्वतन्त्र रूप से साक्षात् किसी फल की कल्पना नहीं हो सकती। 'तत्त्वमसि', 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि वेदान्त-वाक्यों के विषय में यह नहीं है, क्योंकि वेदान्त-वाक्यजन्य

के कारण अन्यशेषत्व की सम्भावना नहीं है। किन्तु इसके विपरीत विधियाँ[१] ही अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ब्रह्म-वाक्यों की शेषता को प्राप्त होती हैं। इसलिए सप्रयोजन, अबाधित एवं अज्ञात ब्रह्मरूप पदार्थ के ज्ञापक होने के कारण वेदान्त-वाक्यों में विधिशेषता[२] के बिना ही प्रामाण्य है; अतः ब्रह्म है। इस संदर्भ से यह सिद्ध हुआ कि मीमांसकों का मत युक्त नहीं है।

तार्किकादीनां च मतं 'तत्त्वमसि' (छा० ६ । ८ । ७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १ । ४ । १०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २ । ५ । १९), सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २ । १ । १) इत्यादिश्रुतिबाधितम्।

नैयायिक[३] आदि का मत भी 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियों से बाधित है।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (तै० ६ । २ । १), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (का० २ । १ । ११) इत्यादिश्रुतिबाधितं च भिन्नाभिन्नत्वम्।

आत्मतत्त्वज्ञान से परम पुरुषार्थ का लाभ होता है। इसलिए स्वतः फल होने से उसमें अन्यशेषत्व की शङ्का भी नहीं हो सकती।

१ 'विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृ० ४ । ४ । २२) इस श्रुति से यज्ञादि कर्म आत्मज्ञान की इच्छा के साधन हैं, यह प्रतिपादन किया जाता है। कर्म तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक पापनाश के द्वारा चित्तशुद्धिकर वैसी इच्छा को उत्पन्न करते हैं। उसी इच्छा का फल वेदान्त-वाक्यजन्य आत्मतत्त्वज्ञान द्वारा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) होता है। इस दशा में कर्म-विधियाँ ही वेदान्त-वाक्यों की शेषभूत हैं।

२ अन्यशेषता के बिना।

३ आदिपद से पातञ्जलों का ग्रहण है। 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों में जीवेश्वर की एकता का प्रतिपादन किया गया है। तार्किक और पातञ्जल जीवेश्वर की एकता नहीं मानते, इसलिए उनका मत श्रुतियों से बाधित है। क्योंकि तार्किक आत्मा को ज्ञान का आश्रय कहते हैं और 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति में आत्मा को ज्ञानरूप कहा गया है। इसलिए भी तार्किक-मत श्रुति के विरुद्ध है। भेदाभेदवादी त्रिदण्डियों के मत का खण्डन करते हैं—'एकमेव' इस ग्रन्थ से।

तथा भेद-अभेदवादियों का मत भी 'एकमेवाद्वि०'[1], 'नेह नाना०' इत्यादि श्रुतियों से बाधित है।

क्षणिकत्वं[2] च 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादिश्रुतिबाधितम्।

क्षणिक विज्ञानवादियों का मत भी 'आकाशवत्सर्वगतश्च०' इत्यादि श्रुतियों से बाधित है।

अत्र सर्वेषां मतस्यासत्त्वे प्रतिज्ञाते विशुद्धात्मकत्वादिति हेतुः। निर्विकल्पकाद्वितीयचैतन्यरूपत्वादित्यर्थः। अत्र हेतुर्विशिष्टानुभूत्येति। विशिष्टा = सविकल्पकानुभूतिभ्यो व्यावृत्ता या तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्या अखण्डानुभूतिस्तयेत्यर्थः। तेन सर्वव्यापकमद्वितीयं परमानन्दबोधरूपं च ब्रह्मेति सिद्धम्॥४॥

इस श्लोक में सांख्यादि समस्त मतों की असत्ता की प्रतिज्ञा में हेतु है— 'विशुद्धात्मकत्वात्' अर्थात् निर्विकल्पक[3] अद्वितीय चैतन्यरूप होने से। इसमें हेतु है—'विशिष्टानुभूत्या'[4] अर्थात् सविकल्पक ज्ञानों से भिन्न 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से जायमान जो अखण्डानन्दरूप ज्ञान है, उससे। इस कथन से सर्वव्यापक, अद्वितीय, परमानन्दबोधरूप ब्रह्म है, यह सिद्ध हुआ॥ ४ ॥

---

१ जीव और ब्रह्म का भेद सत्य है और उनका अभेद भी सत्य है। इसी प्रकार जड़ और चेतन का भेद और अभेद भी सत्य है, यह भेदाभेदवादी त्रिदण्डियों का मत है। यह मत 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से बाधित है, क्योंकि इस श्रुति में आत्मा की एकता का प्रतिपादन है और 'नेह नाना०' इत्यादि श्रुति में आत्मभिन्न सब पदार्थों के अस्तित्व का निषेध है। बौद्ध के मत का खण्डन करते हैं—'क्षणिकत्वम्' इस ग्रन्थ से।

२ 'आकाशवत्' इस श्रुति में आत्मा नित्य कहा गया है, इसलिए क्षणिकत्व का अङ्गीकार श्रुति से बाधित है।

३ 'तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्' (ब्र० वि० ८। ६) इस श्रुति में ब्रह्म निर्विकल्पक कहा गया है। निर्विकल्पक निर्विशेष को कहते हैं, अर्थात् 'ब्रह्म ऐसा है या वैसा' यह नहीं कहा जा सकता। किंच, निर्विशेष ब्रह्मज्ञानकाल में ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व भासता ही नहीं, क्योंकि ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व उपाधि-परिकल्पित होने से मिथ्या हैं। सत्य ब्रह्मज्ञान से मिथ्याभूत पदार्थ का बाध हो जाता है।

४ इस श्लोक में विशिष्ट शब्द का अर्थ 'युक्त' नहीं है।

ननु 'स य एषोऽणिमा' (छा० ६ । ८ । ७), 'अणोरणीयान्' (का० २ । २०, श्वे० ३ । २०) इति ब्रह्मणोऽणुत्वश्रुतेः 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' (का० ४ । १२), 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५ । ८) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिताणुजीवाभिन्नत्वाच्च न ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वमित्याशङ्क्य, 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २ । २ । ११), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २ । ५ । १९) इत्याद्याः श्रुतयो निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति पूर्वोक्तमेव द्रढयन्नाह—

'स[1] य एषोऽणिमा', 'अणोरणीयान्[2]' ब्रह्म के अणु-परिमाण का प्रतिपादन करनेवाली इन श्रुतियों से, 'अंगुष्ठमात्रः[3] पुरुषः', 'आराग्रमात्रो०'[4] इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित अणुत्वविशिष्ट जीव के साथ अभेद होने से ब्रह्म में सर्वव्यापकता सम्भव नहीं है, ऐसी शङ्का करके 'ब्रह्मैवेदममृतं०'[5], 'तदेतत्'[6] इत्यादि श्रुतियाँ निर्विशेष ही ब्रह्म

---

१ प्रकृत सद्रूप ब्रह्म नामक जो पदार्थ है, वह अणिमा की पराकाष्ठा है, यह अर्थ है ।

२ पूर्व प्रकृत ब्रह्म नामक परमात्मा अणु-पदार्थों से भी अणुतर है ।

३ जीव नामक पुरुष अङ्गुष्ठ-परिमाण है ।

प्रश्न—अङ्गुष्ठ-परिमाण होने पर जीव अनित्य हो जायगा, क्योंकि मध्यम परिमाण पदार्थ अनित्य हुआ करता है, यह नियम है । ऐसी दशा में कृतनाश और अकृताभ्यागम-दोष की प्राप्ति हुआ करती है ?

उत्तर—'अङ्गुष्ठमात्र' पद का स्वल्पपरिमाण के बोधन में तात्पर्य है । वह स्वल्पपरिमाण 'आराग्रमात्र' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से अणु-परिमाण ही स्वीकार करना चाहिये, यह आशय है । इसी बात को व्यक्त करते हैं—'आराग्र' इस ग्रन्थ से ।

४ 'आरा' लोह-शलाका का नाम है । उसका जो सूक्ष्म अग्रभाग तत्परिमाण अवर (जीव) आत्मा देखा गया है । इस प्रकार जीव यदि अणुपरिमाण है, तो उससे अभिन्न परमात्मा भी अर्थात् अणु-परिमाण सिद्ध होता है, यह पूर्वपक्षी का आशय है ।

५ अविद्यादृष्टि पुरुषों को सामने, पीछे, दाहिने और बाँये, ऊपर और नीचे जो नामरूपात्मक जगत् प्रतीत होता है, वह यह अमृत ब्रह्म ही है । किंबहुना, यह अखिल जगत् महत्तम ब्रह्म ही है ।

६ यह ब्रह्म अपूर्व है, क्योंकि इसका पूर्व (कारण) नहीं है, वैसे ही यह ब्रह्म अनपर है, क्योंकि इसका कोई अपर (कार्य) नहीं है । किंच, यह ब्रह्म अनन्तर है, क्योंकि

का प्रतिपादन करती हैं, इसलिए पूर्वोक्त पक्ष को दृढ करते हुए भगवान् कहते हैं—

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं
न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वापरा दिक् ।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूप-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ५ ॥

न ऊर्ध्व है, न अधः; न अन्दर है, न बाह्य; न मध्य है, न तिर्य्यक्; न पूर्व दिशा है, न पश्चिम-दिशा। आकाश के समान व्यापक होने से अखण्डैकरूप, एक, अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

न चोर्ध्वमिति। वियद्व्यापकत्वात्[1], 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति श्रुतेः। वियतो व्यापकत्वादिति वा 'ज्यायानाकाशात्'[2] (छा० ३। १४। ३), 'महतो महीयान्' (क० २। २०) इत्यादिश्रुतेः। जीवस्यापि सकलदेहव्यापिचैतन्योपलब्ध्या महत्त्वेऽप्युपाधिधर्माध्यासे आराग्रमात्रत्वाभिधानम्, 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति श्रुतेः। ब्रह्मणश्च सूक्ष्मत्वाभिप्रायेणाणुत्वव्यपदेशात्। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ५ ॥

इसके अन्तराल (मध्य) में कुछ नहीं है। वैसे ही यह ब्रह्म अबाह्य है, क्योंकि इसके बाहर कुछ नहीं है।

१ आकाश की तरह व्यापक होने से।

प्रश्न आकाश अपने मूलकारण प्रकृति और ब्रह्म में व्यापक नहीं है तथा प्रलयकाल में आकाश का नाश भी हो जाता है, इसलिए आकाश नित्य कैसे ?

उत्तर—बद्ध जीवों के प्रति श्रुति को उपदेश देना है, इसलिए बद्ध जीवों की दृष्टि से आकाश सर्वगत है—यह कथन है, क्योंकि हमारी दृष्टि से आकाश सर्वव्यापक और नित्य ही भासता है। 'इषुरिव सविता धावति' (बाण की तरह सूर्य भागता है) की तरह यह दृष्टान्त समझना चाहिये।

२ इस श्रुति को प्रमाण मानकर यदि परमात्मा की महत्ता स्वीकार करें, तो अणुत्व-प्रतिपादक प्रागुक्त श्रुति से विरोध होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि श्रुति में अणु-शब्द का प्रयोग सूक्ष्मता के अभिप्राय से किया है, महत्त्व होने पर भी सूक्ष्मत्व विरुद्ध नहीं है। जैसे पृथ्वी आदि की अपेक्षा महत् होता हुआ भी आकाश पृथ्वी आदि की अपेक्षा सूक्ष्मतर है ही।

'आकाशवत्सर्वगतश्च०' इस श्रुति से वह आकाश के समान व्यापक है। अथवा 'ज्यायान्०' इत्यादि श्रुति से आकाश का व्यापक है। 'महतो महीयान्' इस श्रुति से समस्त देह में व्यापक चैतन्य की उपलब्धि से जीव यद्यपि महत् है; तो भी 'बुद्धेर्गुणेन०'[1] इस श्रुति से उपाधि के धर्माध्यास से उसमें आराग्रमात्रत्व का अभिधान है। ब्रह्म में सूक्ष्मता के अभिप्राय से अणुत्व का व्यपदेश है। शेष सब स्पष्ट है ॥ ५ ॥

नतु ब्रह्मणो[2] जगदुपादानत्वेन उपादानोपादेययोश्चाभेदाद् विचित्रजगदभिन्नत्वेन ब्रह्मणो दुःखरूपत्वान्न तदभिन्नत्वेन जीवस्य परमपुरुषार्थप्राप्ति-

---

प्रश्न—परमात्मा यदि महान् है, तो उससे अभिन्न जीव का भी महत्त्व अङ्गीकार करना चाहिये ?

उत्तर—महत्त्व इष्ट ही है, इसीलिए ह्रद में निमग्न पुरुष के सब अङ्गों में शैत्य की उपलब्धि होती है। जीव के अंगुष्ठ-परिमाण अथवा अणु-परिमाण होने पर सर्वाङ्ग में शैत्योपलब्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—जीव के महत् होने पर देह के बाहर भी उसकी स्थिति होनी चाहिये ?

उत्तर—यह भी इष्ट ही है, इसीलिए योगी को योगबल से देशान्तरगत वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

प्रश्न—इस रीति से घट-पट आदि में भी जीव की उपलब्धि होनी चाहिये ?

उत्तर—घट-पट आदि में जीव है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति बुद्धिरूप उपाधि के अधीन है।

प्रश्न—जीव को महत् परिमाण मानोगे, तो आराग्रमात्र-श्रुति का विरोध होगा ? तो उत्तर में कहते हैं—'जीवस्यापि' इस ग्रन्थ से।

१ यह अवर आत्मा अपने गुण से अपरिच्छिन्न होता हुआ भी उपाधिभूत बुद्धि के गुण से आराग्रमात्र देखा गया है, यह श्रुति का अर्थ है।

२ जैसे मृत्तिका और घट का अभेद है, वैसे ही ब्रह्म और जगत् का अभेद है, क्योंकि दोनों में कार्य-कारण-भाव तुल्य है और जगत् में प्रतिकूल शब्दादि पदार्थ दुःखस्वरूप प्रतीत होते हैं। इसलिए तादृश जगत् से अभिन्न ब्रह्म भी दुःखरूप होगा और ब्रह्म से अभिन्न जीव भी दुःखरूप होगा। यद्यपि जगत् में अनुकूल भी शब्दादिक पदार्थों की सत्ता है, इसलिए जीव सुखरूप भी हो सकता है, तथापि उसके साथ ही दुःखरूपता के होने से मोक्ष की असिद्धि है और यह अभेद स्वभावसिद्ध है। इसलिए अग्नि की उष्णता की तरह जबतक जीव का अस्तित्व है, तबतक दुःख का निवारण असम्भव है, यह पूर्वपक्षी का आशय है।

रित्याशङ्क्य ब्रह्मणः[1] स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वात् निखिलजगद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन कारणत्वव्यपदेशादध्यस्तेन च समं सम्बन्धाभावान्न तत्राऽनर्थलेशोऽप्यस्तीत्याह—

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। उपादान और उपादेय में अभेद होता है। इसलिए विचित्र जगत् के साथ अभेद होने से ब्रह्म भी दुःखरूप हो जायगा। उस दुःखरूप ब्रह्म के साथ अभेद होने से जीव को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होगी; ऐसी शङ्का करके कहते हैं - ब्रह्म स्वप्रकाश परमानन्दरूप है। समस्त जगत्-भ्रम का अधिष्ठान होने से ब्रह्म में कारणता का व्यवहार होता है। अध्यस्त के साथ सम्बन्ध न होने के कारण अधिष्ठानरूप ब्रह्म में अनर्थ का लेश भी नहीं है।

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ६ ॥

न शुक्ल है, न कृष्ण; न रक्त है, न पीत; न कुब्ज है, न पीन; न ह्रस्व है, न दीर्घ। स्वप्रकाश ज्योतिःस्वरूप होने से अप्रमेय एक अवशिष्ट अद्वितीय शिव मैं हूँ।

न[2] शुक्लमिति। कुब्जम्[3] = अणु। पीनम् = महत्। तेनाणु, महद्,

---

१ ब्रह्म वास्तव में स्वयंप्रकाश परमानन्दरूप है, जगत् की उसमें प्रतीति होती है, वास्तव में जगत् की सत्ता नहीं है। ऐसी दशा में सत्य जगत् है ही नहीं तो ब्रह्म में उसकी कारणता कहाँ? इसलिए मोक्ष में कोई बाधा नहीं है, यह भाव है।

२ यहाँ शुक्लादि अनेक वर्णों की उक्ति सब वर्णों के उपलक्षण के लिए है, इसलिए ब्रह्म में सर्वविध रूप का निषेध होने से पृथ्वीत्वादि का निषेध सिद्ध होता है।

३ 'पीन' का प्रतिद्वन्द्वी होने से 'कुब्ज'-शब्द यहाँ अणु का वाचक है। पृथ्वी, जल, तेज आदि जो-जो द्रव्य हैं, वे अणु अथवा महत्, ह्रस्व अथवा दीर्घ अवश्य होते हैं। ब्रह्म में एक भी परिमाण नहीं है, इसलिए वह कोई नीरूप द्रव्य भी नहीं है।

ह्रस्वं दीर्घमिति चतुर्विधपरिमाणनिषेधाद् द्रव्यत्वप्रतिषेधः। रूप्यत[1] इति रूपं प्रमेयम्। अरूपमप्रमेयम्। तेन सर्वेषामेव द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थानां तत्तद्वाद्यभ्युपगतानां निषेधः। तथा च श्रुतिः—'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम्'[2] (बृ० ३।८।८) इत्याद्या 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्' (का० ३।१५) इत्याद्याश्च सर्वानर्थशून्यपरमात्मस्वरूपं प्रतिपादयन्ति। श्रौतस्याप्यर्थस्य न्यायेन निर्णयाय हेतुमाह—ज्योतिराकारकत्वादिति। स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वेनाप्रमेयत्वात्। प्रमेयत्वे घटादिवज्जडत्वापत्तेः। 'एतदप्रमेयं ध्रुवम्' (बृ० ४।४।२०) इति श्रुतेश्चेत्यर्थः॥ ६॥

कुब्ज = सूक्ष्म। पीन = महत् (महापरिमाण), इससे अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ इन चार प्रकार के परिमाणों के निषेध से ब्रह्म में द्रव्यत्व का प्रतिषेध हो गया। साक्षी से जो भासित हो, वह रूप (प्रमेय) कहा जाता है। ब्रह्म इसके विपरीत है। इसलिए तत्तत् वादियों से स्वीकृत द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों का निषेध हो गया। और 'अस्थूल०' इत्यादि तथा 'अशब्द०' इत्यादि श्रुतियाँ भी सब अनर्थों से रहित परमात्मस्वरूप का प्रतिपादन करती हैं। श्रुति से प्रतिपादित अर्थ का भी न्याय से निर्णय करने के लिए हेतु कहते हैं—ज्योतिःस्वरूप होने से। स्वप्रकाश ज्ञानरूप होने के कारण ब्रह्म अप्रमेय है। यदि उसे प्रमेय मानो, तो घटादि के समान उसमें भी

---

१ ब्रह्म के रूप का निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए वह अरूप अर्थात् अप्रमेय है। नैयायिक लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा द्रव्यविशेष है। मन आदि द्रव्यों का उसके साथ संयोग है। बुद्ध्यादि गुण और पुण्य-पाप-जनक कर्म उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। जीव और ईश्वर के विषय में अन्यान्य मत पहले दिखाये हैं। वे सब मत आत्मस्वरूप के अप्रमेयत्व से निरस्त हो गये, क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप है।

२ 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्' यह पूरी श्रुति है। इसका यह अर्थ है—यह पूर्वप्रकृत अक्षरब्रह्म न स्थूल है, न अणु; न ह्रस्व है, न दीर्घ। इन चार परिमाणों के निषेध से द्रव्य-धर्म का निषेध होता है। इसलिए ब्रह्म द्रव्य नहीं है। किंच, वह न लोहित है, न स्निग्ध; न छाया है, न तम; न वायु है, न आकाश। वह सङ्ग से रहित है। वह रस, गन्ध, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मनस्, तेजस्, प्राण और मुख से रहित है। जिससे परिमाण

जडत्व की आपत्ति हो जायगी। इस विषय में 'एतदप्रमेयम्०'[1] इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है ॥ ६ ॥

ननु[2] कस्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते ब्रह्मणोऽब्रह्मणो वा। नान्त्यः, तस्य जडत्वादसत्त्वाच्च। न प्रथमः, उपदेशानर्थक्यात्। ब्रह्मभावस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। जीवस्य[3] स्वतो ब्रह्मभावेऽप्यविद्याव्यवधानं ज्ञानेन निवर्तत इति चेत्। न; अविद्यानिवृत्तेरात्मभिन्नत्वे[4] द्वैतापत्तेर्ब्रह्मणोऽसिद्धिप्रसङ्गात्। तदुक्तं वार्तिके (बृ० वा० पृ० ५४०)—

'अव्यावृत्ताननुगतं[5] वस्तु ब्रह्मेति भण्यते।
ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र स्याद् द्वितीये सति वस्तुनि ॥'—इति।

अभिन्नत्वे चोपदेशानर्थक्यमित्युक्तम्। अत्र किं परमार्थतः फलाभावमभिप्रैषि, किं वा प्रतीतितोऽपि। तत्राद्यमिष्टापत्त्या परिहरति—

किया जाय उसे 'माता' कहते हैं। ब्रह्म से किसीका परिमाण नहीं होता, इसलिए वह अमात्र है। अन्तर-बाह्य से रहित सब विशेषों से रहित वह ब्रह्म है, वह एक ही अद्वितीय है।

१ यद्यपि यह ब्रह्म प्रमेय (ज्ञेय) नहीं है, तथापि शश-शृङ्ग की तरह तुच्छ भी नहीं है, किन्तु ध्रुव (नित्य) है।

२ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २। १। १) इस श्रुति में कहा है—ब्रह्म सत्स्वरूप और ज्ञानस्वरूप है। इससे अर्थात् ही सिद्ध हो गया कि ब्रह्म से भिन्न पदार्थ सत्य नहीं, किन्तु असत् है। वैसे ही ब्रह्म से भिन्न ज्ञान नहीं, किन्तु जड़ है। इसलिए जड़ और असत् को ब्रह्मभाव का उपदेश व्यर्थ ही है, क्योंकि वचनशतक से भी अब्रह्म और असत् को ब्रह्मभाव का आपादन नहीं हो सकता, अन्धकार कभी तेज को प्राप्त नहीं हो सकता।

३ ब्रह्म ही को ब्रह्मभाव का उपदेश है। जीव यद्यपि ब्रह्म ही है, तथापि 'तत्त्वमसि' श्रुति में जो जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश किया गया है, उसका फल ब्रह्मत्व-प्राप्ति नहीं, किन्तु अज्ञान की निवृत्ति है, यह आशय है।

४ 'तत्त्वमसि' इस उपदेश की फलभूत जो अविद्या की निवृत्ति कही गयी है, वह ब्रह्म ही है अथवा ब्रह्म से भिन्न है? प्रथम पक्ष में जीव ब्रह्मरूप है, उसे ब्रह्मत्व का उपदेश व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष में 'तत्त्वमसि' इस उपदेश से उत्पन्न अविद्या-निवृत्ति ब्रह्म से भिन्न होकर मोक्ष में रहती है, इसलिए मोक्ष में भी द्वैत तदवस्थ रहेगा।

५ जैसे घट से भिन्न पट से घट व्यावृत्त होता है, वैसे ही ब्रह्म से भिन्न यदि कोई वस्तु हो, तो ब्रह्म उससे व्यावृत्त होगा। सो तो है नहीं, इसलिए ब्रह्म अव्यावृत्त है। ब्रह्म

'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से किसको ब्रह्मभाव का उपदेश होता है, ब्रह्म को अथवा ब्रह्मभिन्न को? अन्तिम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह जड़ और असत् है। प्रथम पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि ब्रह्म को ब्रह्मभाव स्वतःसिद्ध है, इसलिए उपदेश व्यर्थ होगा। जीव में ब्रह्मत्व यद्यपि स्वतःसिद्ध है, तथापि ज्ञान से अविद्यारूपी व्यवधान की निवृत्ति की जाती है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अविद्या-निवृत्ति यदि आत्मरूप नहीं है, तो द्वैत की आपत्ति से अद्वितीय ब्रह्म की असिद्धि का प्रसङ्ग हो जायगा।

वार्तिक में भी कहा है—'जो किसीसे व्यावृत्त नहीं, जिसमें कोई धर्म अनुगत नहीं, जो किसी धर्मी में अनुगत नहीं, ऐसी वस्तु को ब्रह्म कहते हैं। दूसरी वस्तु की सत्ता में ब्रह्मार्थ दुर्लभ हो जायगा।' यदि अभिन्न मानो, तो उपदेश अनर्थ होता है, यह कहा गया है। यहाँ परमार्थतः फलाभाव (अलीक फल) में तुम्हारा अभिप्राय है या प्रातीतिक अलीकता में भी? इनमें प्रथम पक्ष का इष्टापत्ति से परिहार करते हैं—

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा
न च त्वं न चाहं न वाऽयं प्रपञ्चः।
स्वरूपाववोधो विकल्पासहिष्णु-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ७ ॥

न शास्ता है, न शास्त्र; न शिष्य है, न शिक्षा; न तुम हो, न मैं और न यह प्रपञ्च ही है। स्वरूपज्ञान विकल्प का सहन नहीं करता, इसलिए एक, अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

न शास्तेति। शास्ता = उपदेशकर्ता गुरुः। शास्त्रम् = उपदेशकरणम्। शिष्यः = उपदेशकर्म। शिक्षा = उपदेशक्रिया। त्वम् = श्रोता। अहम् =

से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है—यह अर्थ है। और जैसे घटत्व अपने आश्रयीभूत अनेक घटों में एक अनुगत होता है, वैसे ही ब्रह्म किसीमें अनुगत नहीं, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। इसलिए ब्रह्म का कोई आश्रय नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म न तो किसीसे व्यावृत्त है और न किसीमें अनुगत।

वक्ता । अयम् = सर्वप्रमाणासन्निधापितः प्रपञ्चो देहेन्द्रियादिरनर्थः परमार्थतो नास्तीत्यर्थः ।

शास्ता=उपदेश करनेवाला गुरु । शास्त्र=जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है । शिष्य=उपदेश-भाजन । शिक्षा=उपदेश-क्रिया । तुम=श्रोता । मैं=वक्ता । सब प्रमाणों से सन्निधापित देह, इन्द्रिय आदि रूप यह प्रपञ्च परमार्थतः नहीं है ।

द्वितीयं निराकरोति—स्वरूपेति । अयमर्थः—यद्यप्यविद्यानिवृत्ति[1]-रात्माऽनात्मा वेत्यादिविकल्पे किमपि फलं निरूपयितुं न शक्यते; तथापि स्वरूपावबोधो विज्ञानफलमनुभूयते । न चैतत्कथमिति विकल्पनीयम्, सर्वद्वैतोपमर्देन विकल्पासहिष्णुत्वात् । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तथा च श्रुतिः (गौ० का० २ । ३२)—

---

१ जैसे कभी वन में सायङ्काल के समय अपने साथियों से बिछुड़ा हुआ देवदत्त दूसरे दिन प्रातःकाल अपने घर आ गया । उसे देखकर चैत्र ने कहा—'देवदत्त ग्राम में आ गया है ।' इसपर यदि कोई विकल्प करे कि पाँव से आया या किसी सवारी से ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि वह पङ्गु है । दूसरा भी ठीक नहीं, क्योंकि निर्जन वन में सवारी का मिलना असम्भव है । इसलिए विकल्प का असहिष्णु होने से उसका ग्राम में आगमन उत्पन्न नहीं है । इस आगमन की अनुपपत्ति को परीक्षक लोग यथार्थ नहीं मानते, क्योंकि 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' यह न्याय है । यह प्रत्यक्ष देखकर कहता है कि देवदत्त आ गया है । तुम केवल तर्क से उसकी अनुपपत्ति की सम्भावना करते हो । प्रत्यक्ष दर्शन प्रबल है, इसलिए उसका आगमन निश्चित ही है । उपपत्ति में तुम्हें यत्न करना चाहिये । यदि तुम्हारी बुद्धि तर्क चाहती है, तो ऐसा तर्क करो कि अचानक कोई दयालु सिद्ध-योगी आ गया होगा । उसने उसकी पङ्गुता नष्ट कर दी होगी । अथवा कोई अश्वारोही अपने अश्व पर बिठाकर उसे ले आया होगा । इसलिए प्रत्यक्ष से उपलभ्यमान वस्तु में उससे विपरीत अर्थ के उपपादक विकल्प का अवसर नहीं है । वैसे ही प्रकृत में 'तत्त्वमसि' इस उपदेश से स्वरूपज्ञानरूप फल प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, इसलिए वहाँ 'अविद्या-निवृत्ति आत्मरूपा है, अथवा आत्मा से भिन्न ?' इस विकल्प का अवसर ही नहीं । जैसे वहाँ दृष्टान्त में सिद्ध योगी अथवा कोई अश्वारोही उसको ले आया होगा, वैसे ही यहाँ भी यह तर्क करना चाहिये कि अविद्यानिवृत्ति आत्मा से भिन्न नहीं है । वह पहले से ही आत्मा में सिद्ध है । उपदेश से केवल उसकी अभिव्यक्ति भर होती है ।

'न[1] निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'—इति।

'ब्रह्म[2] वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ० १।४।१०) इत्याद्या पूर्वमपि ब्रह्मस्वरूपस्यैव सतो जीवस्य ज्ञानाद् ब्रह्मभावं दर्शयति सर्वं च द्वैतं वारयति ॥ ७ ॥

'स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः' इस वाक्य से अब दूसरे पक्ष का निरास करते हैं। यह तात्पर्य है—यद्यपि अविद्या-निवृत्ति आत्मरूप है या अनात्मरूप? इत्यादि विकल्प से किसी फल का निरूपण नहीं किया जा सकता, तो भी स्वरूपावबोधरूपी ज्ञान का फल अनुभूत होता है। यह कैसे हो सकता है? ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये। समस्त द्वैत का नाश होने से आत्मा में विकल्प है ही नहीं। प्रत्यक्षसिद्ध में अनुभवविरुद्ध तर्क का ग्रहण नहीं करना चाहिये।

श्रुति भी है—'प्रपञ्च का न नाश होता है, न जन्म, न वह अनादि अज्ञान से युक्त है, न उसकी निवृत्ति के लिए अनुकूल श्रवण-मनन ही करता है, न मैं मुक्त होऊँ यह अभिलाषा रखता है और न मुक्त ही है—यही परमार्थता है।' 'ब्रह्म वा इदमग्र०' इत्यादि श्रुतियाँ पहिले भी ब्रह्म-स्वरूपता से ही विद्यमान जीव का ज्ञान से ब्रह्मभाव दिखलाती और समस्त द्वैत का निवारण करती हैं ॥ ७ ॥

नन्वात्मनः स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वे सर्वदा समाने जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिव्यवस्था कथम्? न च भ्रान्त्यैव[3] व्यवस्थेति वाच्यम्। तथा सति सर्वस्यैव

---

१ निरोध = नाश, बद्ध = संसारी, साधक = शम-दमादिसाधन-सम्पन्न। इस श्रुति में पारमार्थिक वस्तुस्थिति का वर्णन किया गया है। चिन्मात्र परमार्थ है। प्रपञ्च का न नाश है, न उत्पत्ति है, न कोई संसारी है, न साधक, न मुमुक्षु और न मुक्त। यह सब द्वैतविलास भ्रान्ति ही है।

२ जीवरूपता को प्राप्त हुए उस ब्रह्म ने भ्रम के अपनयनकाल में अपने ही स्वरूप का 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार किया। उससे सर्वदृश्यजात जगत् ब्रह्म ही हो गया, जैसे भ्रम के दूर होने पर प्रातिभासिक रजत शुक्ति हो जाता है।

३ जैसे स्वप्न के मध्य जाग्रत् आदि की भ्रान्ति से कल्पना होती है।

स्वप्नत्वापत्तेरिति[1] चेत् । न ; लक्षणतस्त्रयाणामपि[2] स्वप्नत्वेऽपि प्रतिभासत आविद्यकविशेषसम्भवादसद्विलक्षणत्वेन[3] च सविशेषत्वाद् व्यवस्थोपपत्तेः । परमार्थतस्तु न कापि व्यवस्थेत्याह--

यदि आत्मा को स्वप्रकाश चैतन्यरूप मानो, तो उसके सर्वदा भासमान रहने से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की व्यवस्था कैसे होगी ? भ्रान्ति से ही उनकी व्यवस्था है ऐसा नहीं कहना चाहिये । ऐसा होने पर सब अवस्थाओं में (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में) स्वप्न की आपत्ति हो जायगी—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि आविधिकत्वरूप लक्षण से तीनों अवस्थाओं में यद्यपि स्वप्नत्व है, तथापि व्यावहारिक की अपेक्षा अविद्याकृत में विशेष का सम्भव है । असद्विलक्षण होने के कारण अविद्याकृत विशेष है, अतः व्यवस्था की उपपत्ति हो गयी । परमार्थरूप से कोई व्यवस्था नहीं है । इसी बात को कहते हैं—

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिः
न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा ।

---

१ ऐसी दशा में सर्वदा एक ही अवस्था होनी चाहिये । ऐसा मानने पर 'मैंने स्वप्न देखा था, मैं सो गया था' इस प्रकार अनुभूत अवस्थाविशेष का प्रबुद्ध पुरुष को स्मरण नहीं होना चाहिये ।

२ स्वप्न आविद्यिक है । यह स्वप्न का लक्षण यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में समान है; तथापि व्यवहार के अनुरोध से अविद्या के अनेक अवस्था-विशेषों की कल्पना करनी चाहिये । तन्मूलक ही सुप्त, प्रसुप्त और प्रबुद्ध ये व्यवहार होते हैं ।

प्रश्न—आत्मा निर्विशेष है, यह तुम्हारा सिद्धान्त है । इसलिए उसमें सुषुप्ति आदि विशेष स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु आविद्यिक हैं, यह कहना होगा । अविद्यागत विशेष आत्मा में प्रतीत होते हैं, यह इसका तात्पर्य है । यह अविद्या सती है अथवा असती ? आद्य पक्ष में अविद्या में विशेष बन सकते हैं, परन्तु अविद्या के सती मानने में द्वैत की प्राप्ति होगी, जो तुम्हें अभीष्ट नहीं है । द्वितीय पक्ष में अद्वैत की उपपत्ति तो हो सकती है, परन्तु विशेष नहीं बन सकते । उत्तर में कहते हैं—'असद्विलक्षणत्वेन' इस ग्रन्थ से ।

३ अविद्या सत् से विलक्षण है, इसलिए द्वैतापत्ति नहीं । असत् से विलक्षण है, इसलिए सविशेष है, अतः अविद्या से 'सुप्तः, प्रबुद्धः' इत्यादि व्यवस्था हो सकती है, यह भाव है ।

अविद्यात्मकत्वात् त्रयाणां तुरीय-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ८ ॥

न मेरा जागरण है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न मैं विश्व हूँ, न तैजस हूँ, न प्राज्ञ। ये तीनों अविद्या के कार्य हैं; अतः इनमें चतुर्थ, एक, अवशिष्ट, अद्वितीय, शिव मैं हूँ।

न जाग्रदिति। अत्र लयक्रमेण पौर्वापर्य्यनिर्देशः। तथाहि—अस्मिन् मते पदार्थौ द्विविधः, दृक् दृश्यं च। अन्यवादिपरिकल्पितानां पदार्थाना-मत्रैवान्तर्भावात्।

यहाँ पर जाग्रत्[1] स्वप्न, सुषुप्ति का पौर्वापर्य-निर्देश लय-क्रम से है। वेदान्त-मत में पदार्थ दो प्रकार के हैं—(१) द्रष्टा[2] और (२) दृश्य। वैशेषिक आदि अन्य वादियों द्वारा परिकल्पित पदार्थों का इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

तत्र दृक्पदार्थ आत्मा पारमार्थिक[3] एक एव सर्वदैकरूपोऽप्यौपाधिक-भेदेन त्रिविधः—ईश्वरो जीवः साक्षी चेति। तत्र कारणीभूताज्ञानोपा-

---

१ जैसे पञ्चभूतों का आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इस प्रकार उत्पत्तिक्रम से निर्देश किया जाता है। अर्थात् आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल उत्पन्न होता है, इत्यादि उत्पत्ति-क्रम है। लयक्रम से वे ही भूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इस प्रकार विपरीत क्रम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। पृथ्वी का जल में लय होता है और जल का तेज में इत्यादि लयक्रम है। क्रमविशेष से निर्देश में वक्ता की इच्छा ही नियामक है। प्रकृति में लयक्रम के अनुरोध से जाग्रत् और विश्व प्रथम कहे हैं। जाग्रत् का स्वप्न में और स्वप्न का सुषुप्ति में लय होता है। वैसे ही विश्व का तैजस में और तैजस का प्राज्ञ में लय होता है। मुमुक्षु जीव का कर्त्तव्य है कि वह सांसारिक पदार्थों के मूलकारण तक का लय करे, इस अभिप्राय से आचार्यों ने लयक्रम का आदर किया है।

२ दृक् (चेतन-ज्ञान-स्वरूप) उससे भिन्न सब जड जगत् दृश्य है।

३ भूत, भविष्य और वर्तमान में जिसका बाध नहीं होता।

धिरीश्वरः । अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानोपहितो[1] जीवः । प्रपञ्चित-श्चैतदधस्तात्[2] । अविद्याप्रतिबिम्बेश्वरपक्षे[3] बिम्बचैतन्यं साक्षी । बिम्बेश्वरपक्षे[4] च बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखस्वरूपवज्जीवेश्वरानुगतं सर्वानु-

---

१ अन्तःकरणावच्छिन्न (अन्तःकरणरूप से परिणत) अज्ञानरूप उपाधि से विशिष्ट आत्मा जीव है। अथवा अज्ञान के अन्तःकरणरूप से परिणत होने के पूर्व उस परिणाम के योग्य अज्ञानगत संस्कारों से अवच्छिन्न और अज्ञान से उपहित आत्मा जीव है।

२ प्रथम श्लोक में जीव और ईश्वर के स्वरूप के विचार-प्रकरण में प्रतिबिम्बवाद के स्वरूप के निरूपण के समय इसका निरूपण किया गया है।

३ अनुसन्धातृ-चैतन्य साक्षी कहा जाता है। वह सर्वदा सर्वत्र एकरूप है। उसका औपाधिक भेद भी सम्भव नहीं है। जहाँ औपाधिक भेद कहा जाता है, वह वास्तव में उपाधिमात्र में हुआ करता है। उपाधिसन्निधान से अन्यत्र प्रतीत होता हुआ भी उपाधिविशिष्ट ही उपधेय में प्रतीत होता है। उपाधि के सन्निहित होने पर भी केवल उपधेय में प्रतीत नहीं होता। जैसे अग्निकणरूप उपाधि के सम्बन्ध से भासमान भी उष्णता अग्निकणविशिष्ट ही जल में भासती है, अग्निकणसन्निहित केवल जल में नहीं, केवल जल तो शीत ही है। अग्निकणगत उत्कट उष्णता के प्रतिबन्ध से जल की शीतलता नहीं भासती, यह विषय अन्य है। प्रकृत में जीवशब्द और ईश्वरशब्द का अर्थ उपाधिविशिष्ट-चैतन्य है। उनमें से उपाधि में भेद प्रतीत हो, पर साक्षीशब्द के वाच्य केवल चैतन्य में भेद नहीं है। कारण विषयावभासकता ही साक्षिता है, उसका अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य में सम्भव नहीं, क्योंकि अन्तःकरण जड़ है।

प्रश्न—साक्षिता अन्तःकरणादि साधन-सापेक्ष है।

उत्तर—यह सत्य है, पर इससे क्या? इससे भी साक्षिता की चैतन्यमात्रनिष्ठता की हानि नहीं है। पत्नीत्व भर्तृसापेक्ष है, इतने से भर्तृविशिष्ट पत्नी में पत्नीत्व कोई नहीं मानता। इस प्रकार सब जीवों के तत्-तद्विषयक ज्ञान में और ईश्वर के सर्वविषयक-ज्ञान में सर्वदा सर्वत्र अनुसन्धातृ-चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों में अनुगत एक ही साक्षी है। अविद्याप्रतिबिम्बेश्वरपक्ष में व्यष्टि-अविद्या-प्रतिबिम्बस्वरूप जीव कहना होगा। इस पक्ष में जीव-ईश्वर इन दोनों में अनुगत बिम्बचैतन्य साक्षी है, यह स्पष्ट ही है। जब अज्ञानोपहित बिम्बचैतन्य ईश्वर और अज्ञान-प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है—पहिले कहे गये विवरणकार के इस पक्ष का स्वीकार किया जाय, तो उस पक्ष में भी जीव एवं ईश्वर दोनों में अनुगत साक्षी चैतन्य है।

४ जीवस्वरूप और ईश्वरस्वरूप कल्पित एवं औपाधिक हैं। कल्पना का कोई अधिष्ठान अवश्य कहना चाहिये। उस कल्पना का अधिष्ठान दोनों में अनुगत जो सामान्य चित्स्वरूप है, वही साक्षी है। जैसे बिम्बभूत देवदत्त के मुख के प्रतिबिम्बमात्र का दर्शन

सन्धातृ चैतन्यं साक्षीत्युच्यते। वार्त्तिककारमते[1] ईश्वर एव साक्षीति द्वैविध्यमेव जीवेश्वरभेदेन दृशः।

उनमें पारमार्थिक, अद्वितीय, नित्य, कूटस्थ, आत्मा दृक् पदार्थ है। यद्यपि वह एक है; तथापि उपाधि द्वारा ईश्वर, जीव और साक्षी भेद से तीन प्रकार का है। उनमें कारणस्वरूप अज्ञानोपाधि ईश्वर है। अन्तःकरण और अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञानोपाधि जीव है। प्रथम श्लोक के व्याख्यान में यह प्रक्रिया विस्तारपूर्वक कही गयी है। 'अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है' इस पक्ष में बिम्ब-चैतन्य साक्षी है। 'बिम्ब-चैतन्य ही ईश्वर है' इस पक्ष में तो बिम्बरूप और प्रतिबिम्बरूप दोनों मुखों में अनुगत मुखस्वरूप के समान जीव और ईश्वर में अनुगत सबका अनुसन्धान करनेवाला जो चैतन्य है, वह साक्षी कहा जाता है। वार्तिककार के मत में ईश्वर ही साक्षी है, इसलिए जीव और ईश्वर के भेद से द्रष्टा ही दो प्रकार का है।

तत्रेश्वरस्त्रिविधः—स्वोपाधिभूताविद्यागुणत्रयभेदेन विष्णुब्रह्मरुद्रभेदात्। कारणीभूतसत्त्वगुणावच्छिन्नो[2] विष्णुः पालयिता। कारणीभूतरजउपहितो

होने पर भी 'यह देवदत्त का मुख है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही देवदत्त की प्रतिकृति का दर्शन होने पर भी वह प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए विम्बभूत देवदत्तमुख, उसके प्रतिबिम्ब और उसकी प्रतिकृति—इन सबमें अनुगत देवदत्त के सामान्य मुखस्वरूप का अवश्य स्वीकार करना चाहिये, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

१ उनके मत में उपाधि-सम्बन्ध से भासमान भी ईश्वरत्व उपाधिसन्निहित केवल चैतन्य में ही है, इसलिए साक्षी शब्द और ईश्वरशब्द का वाच्य एक ही है, क्योंकि उपाधिविशिष्ट में ही ईश्वरत्व है। इसका नियामक कोई हेतु नहीं है। इसलिए वार्तिककार के मत में चैतन्य के दो ही प्रकार हैं।

२ जीव की उपाधि में भी सत्त्वादि गुण हैं, किन्तु वे त्रिगुणात्मक मूल-प्रकृति के कार्य हैं, इसलिए यहाँपर कारणीभूत शब्द का अर्थ अकार्यभूत समझना चाहिये। इससे जीव की उपाधि में रहनेवाले सत्त्वादि गुणों के किसी कर्मविशेष अथवा सुखविशेष में कारणत्व होने पर भी उक्त विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र के लक्षणों की जीव में अतिव्याप्ति नहीं है।

ब्रह्मा[1] स्रष्टा। हिरण्यगर्भस्तु[2] महाभूतकारणत्वाभावान्न ब्रह्मा; तथापि स्थूलभूतस्रष्टृत्वात् क्वचिद् ब्रह्मेत्युपचर्यते। कारणीभूततमउपहितो रुद्रः संहर्त्ता। एवं चैकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकाराः, श्रीभारती-भवान्याद्याः स्त्र्याकाराः, अन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लीलयैवा-विर्भवन्ति भक्तानुग्रहार्थमित्यवधेयम्।

इनमें ईश्वर भी अपनी उपाधिभूत अविद्या के तीन गुणों के भेद के द्वारा विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र भेद से तीन प्रकार का है। कारणस्वरूप सत्त्व-गुण से अवच्छिन्न (उपहित) दृक्-पदार्थ पालनकर्त्ता विष्णु है। कारणस्वरूप रजोगुण से उपहित दृक्-पदार्थ सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा है। यद्यपि हिरण्यगर्भ महाभूतों का कारण न होने से ब्रह्मा नहीं

---

१ कारणीभूत रजोगुणावच्छिन्न जगत् का उत्पादक ईश्वर ब्रह्मा है। यह ईश्वरवाचक ब्रह्मशब्द पुंल्लिङ्ग है और निरुपाधिक शुद्ध चैतन्यार्थक ब्रह्मशब्द नपुंसकलिङ्ग है। वैसे ही कारणीभूत तमोगुणावच्छिन्न जगत्संहारक ईश्वर रुद्र है। इस दशा में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र इनका केवल औपाधिक भेद है—एक ही ईश्वर तत्तत् गुणों की प्रधानता से उन-उन कार्यों को काल के अनुसार करता है, यह समझना चाहिये।

२ अद्वैत वेदान्ती के मत में सामान्य रूप से यह प्रक्रिया है—सब जड़ पदार्थ चेतन की उपाधि हैं। जड-व्यष्ट्युपाधिक चेतन 'जीव' कहा जाता है और जड-समष्ट्युपाधिक चेतन 'ईश्वर'। चेतन का उपाधिभूत वह जड-जात तत्तत्कालकृत अवस्थाभेद के कारण स्थूल, सूक्ष्म और अव्याकृत भेद से तीन प्रकार का है। उनमें से भी पञ्चीकृत भूतात्मक दृश्यमान जगत् स्थूल है। तादृश स्थूल का कारणीभूत अपञ्चीकृत भूतात्मक सूक्ष्म है। उस सूक्ष्म का भी कारणीभूत मूल-अज्ञान अव्याकृत है। इस प्रकार उपाधियों के त्रैविध्य से व्यष्टिसमष्ट्युपाधिक जीव एवं ईश्वर भी प्रत्येक में तीन-तीन प्रकार के हैं। उनमें स्थूल-व्यष्ट्युपाधिक जीव 'विश्व' कहा जाता है, सूक्ष्मव्यष्ट्युपाधिक जीव 'तैजस' और अव्याकृतव्यष्ट्यु-पाधिक जीव 'प्राज्ञ' कहा जाता है। स्थूलसमष्ट्युपाधिक ईश्वर 'विराट्' कहा जाता है, सूक्ष्म समष्ट्युपाधिक ईश्वर 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है और अव्याकृत समष्ट्युपाधिक ईश्वर 'ईश' कहा जाता है। इसी ईश की तत्तद्गुणों की प्रधानता से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र संज्ञा होती है। निरुपाधिक चेतन तो 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में प्रदर्शित है। इस दशा में सूक्ष्मभूतोपाधिक हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूतों का स्थूलरूप से परिणाम करने में समर्थ है। परन्तु अव्याकृत का सूक्ष्मरूप से परिणाम करने में उसकी सामर्थ्य नहीं है। इसलिए यहांपर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म भूतों की कारणता के अभाव से सब जगत् के उत्पादन में उसकी सामर्थ्य नहीं है।

है, तथापि स्थूल भूतों की सृष्टि करने से कहीं-कहीं ब्रह्मा शब्द का उसमें उपचार होता है। कारणस्वरूप तमोगुण से उपहित दृक्-पदार्थ संहार करनेवाला रुद्र है। इस प्रकार एक ही दृक्-पदार्थ के चतुर्भुज (विष्णु), चतुर्मुख (ब्रह्मा), पञ्चमुख (शिव), पुरुषाकार तथा भारती, भवानी आदि स्त्री-आकार और अन्य मत्स्य, कूर्म आदि अनन्त अवतार भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला ही से आविर्भूत होते हैं—यह जानना चाहिये।

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य[1] निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥' (रा० पू० १।७)

जीवोऽपि त्रिविधः—स्वोपाध्यवान्तरभेदेन विश्वतैजसप्राज्ञभेदात्। तत्राविद्यान्तःकरणस्थूलशरीरावच्छिन्नो[2] जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः। स एव स्थूलशरीराभिमानरहित उपाधिद्वयोपहितः स्वप्नाभिमानी तैजसः। शरीरान्तःकरणोपाधिद्वयरहितोऽन्तःकरणसंस्कारावच्छिन्नाविद्यामात्रोपहितः सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञः। एतेषां च स्वतन्त्रोपाधिभेदाभावेन स्वतन्त्रभेदाभावे-

---

१ चिन्मय=ज्ञानमात्रस्वरूप, अद्वितीय=द्वितीयरहित, निष्कल = निरवयव, अशरीर= शरीररहित। एतादृश ब्रह्म की जो चतुर्भुज आदि मूर्त्ति-कल्पना है, वह केवल उपासकों के तत्तदभीष्ट की सिद्धि ही के लिए है।

२ अविद्या, उसका परिणाम, अन्तःकरण और स्थूलशरीर इन तीन उपाधियोंवाला जीव विश्व-संज्ञक है। 'विश्' धातु प्रवेशार्थं है। जाग्रत्-अवस्था में स्थूलशरीरपर्यन्त जीव का प्रवेश होता है, इसलिए उसको 'विश्व' कहते हैं। स्वप्नावस्था में तो पहली दो उपाधियां से युक्त जीव 'तैजस' कहा जाता है, क्योंकि स्वप्न-अवस्था में स्थूल शरीर में अभिमान नहीं होता। तैजस का अर्थ है तेजोमय। यद्यपि यह सर्वदा ही तेजोमय है, तथापि स्वप्न में स्थूल शरीर के अभिमान के त्याग से स्वयंज्योति हो जाता है, यह विशेष है। सुषुप्ति-अवस्था में तो न स्थूलशरीर उपाधि है और न अन्तःकरण, किन्तु अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न जो अविद्या है, तन्मात्रोपाधिक जीव 'प्राज्ञ' कहा जाता है। प्रकर्षेण (अत्यन्त) अज्ञ है, इसलिए इसको 'प्राज्ञ' कहते हैं। अथवा आत्मस्वरूप सम्पत्ति का नाम है—प्रज्ञा। सुषुप्ति-अवस्था में वह इसको प्राप्त है; इसलिए इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं। इस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में केवल अविद्या ही उपाधि है, स्वप्न-अवस्था में अविद्या तो है ही, किन्तु उससे अधिक अविद्या का कार्य अन्तःकरण भी उपाधि है। जाग्रत्-अवस्था में उससे भी अधिक स्थूल शरीर उपाधि है। यद्यपि इस प्रकार विश्व, तैजस और प्राज्ञ का औपाधिक भी अत्यन्त भेद नहीं है, तथापि उपाधिभूत एक ज्ञान की कारणावस्था और कार्यावस्थारूप अवान्तर भेद से यह विश्व है, यह तैजस है, यह प्राज्ञ है—इस प्रकार का व्यपदेश होता है।

ऽप्यवान्तरोपाधिभेदादेकत्वेऽप्यवान्तरभेदो व्यवह्रियते। साक्षी तु सर्वानुसन्धाता सर्वानुगतस्तुरीयाख्य एकविध एव। तत्रोपाधिभेदेनापि न क्वचिद् भेदः, तदुपाधेरेकरूपत्वात्[1]।

ज्ञानमात्रस्वरूप, अद्वितीय, निरवयव एवं शरीररहित भी ब्रह्म की अपने उपासकों की कार्यसिद्धि के लिए चतुर्भुज आदि रूप से कल्पना की जाती है। अपनी उपाधि के अवान्तर भेद द्वारा विश्व, तैजस और प्राज्ञ-भेद से जीव भी तीन प्रकार का हैं। उनमें अविद्या, उसके परिणाम अन्तःकरण और स्थूल शरीररूप उपाधियों से युक्त एवं जाग्रदवस्था का अभिमानी जीव 'विश्व' कहलाता है। वही यदि स्थूल शरीर के अभिमान से शून्य अविद्या तथा अन्तःकरणरूप दो उपाधियों से युक्त होकर स्वप्न का अभिमानी हो तो 'तैजस' कहलाता है। स्थूल शरीर और अन्तःकरणरूप दो उपाधियों से रहित और अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न अविद्यामात्र से उपहित सुषुप्ति का अभिमानी 'प्राज्ञ' कहलाता है। इनके स्वतन्त्र उपाधि (अविद्या) के भेद का अभाव होने के कारण यद्यपि स्वतन्त्र भेद का अभाव है, तो भी अवान्तर उपाधि के भेद से अभेद रहने पर भी भेद का व्यवहार होता है। सबका निरीक्षण करनेवाला, सबमें अनुगत, 'तुरीय' नामक साक्षी तो एक ही है। उसमें उपाधि-भेद से भी भेद नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी उपाधि एक ही है।

अविद्यातद्व्याप्यतत्कार्यात्मकः[2] प्रपञ्चो दृश्यपदार्थः। तस्य[3]

---

१ चैतन्य में साक्षित्व का आपादक उपाधिरूप सत्त्वगुण सर्वत्र एक ही है। किंच, साक्षित्व चैतन्यमात्र का धर्म है, इसलिए उपाधि का सन्निधान होने पर भी साक्षी के स्वरूप में भेद नहीं हो सकता।

२ 'तत्' शब्द से अविद्या का परामर्श है। अविद्या और अविद्या से व्याप्त जो अविद्या का कार्य एतदुभयात्मक दृश्य पदार्थ है, क्योंकि मृत्तिका से घट की तरह कारण से कार्य का स्वरूप व्याप्त हुआ करता है। अद्वैतवेदान्ती के मत में सकल प्रपञ्च आविद्यिक है, इसलिए स्वाप्न पदार्थों के तुल्य होने से उसका निरूपण व्यर्थ ही है, ऐसी शङ्का करके कहते हैं—'तस्य चापारमार्थिकत्वे' इति से।

३ सत्ता तीन प्रकार की हुआ करती है—पारमार्थिकी, व्यावहारिकी और प्रातिभासिकी। इनमें से ब्रह्म-सत्ता पारमार्थिकी है, आविद्यिक प्रपञ्च की सत्ता व्यावहारिकी एवं शुक्तिरजतादि की सत्ता प्रातिभासिकी है। इनमें प्रातिभासिक पदार्थ का व्यवहार में उपयोग नहीं होता, क्योंकि शुक्तिरजत से कोई राजत अलङ्कार नहीं बनाया जा सकता।

चापारमार्थिकत्वेऽपि व्यावहारिकसत्ताभ्युपगमान्न स्वाप्निकपदार्थवन्निरूपणं व्यर्थम्; उपासनादौ तदुपयोगादिति। सोऽपि त्रिविधः—अव्याकृतमूर्त्तामूर्त्त-भेदात्। तत्र[1] साभासाऽविद्या मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चबीजशक्तिरूपा, तदजन्यत्वेऽपि[2]

पारमार्थिक आत्मैक्यरूप से स्थिति होने पर व्यावहारिक पदार्थ का उपयोग न हो, किन्तु उससे पहले उपासनादि व्यवहारदशा में व्यावहारिक पदार्थ का उपयोग होता ही है। आत्मा की उपासना भी व्यावहारिकी ही है, क्योंकि उपासना भेदगर्भा होती है। वह उपास्य-उपासकभाव के अधीन है।

१ अविद्या, उसका चिति के साथ सम्बन्ध, जीवेश्वर-विभाग और अविद्यागत चिदाभास—ये चार पदार्थ 'अव्याकृत' शब्द से कहे जाते हैं। 'अविद्या' ईश्वर की अलौकिक शक्ति है, वह जड़ होते हुए भी स्वरूप से स्वच्छ है, इसलिए उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। उसको 'आभास' कहते हैं। चिति का यह आभास चित् नहीं है, इसलिए आभास का दृक्रूप प्रथम पदार्थ में अन्तर्भाव नहीं होता। यह आभास जड़ भी नहीं है, तो इतने से भी वह चित्रूप नहीं है, क्योंकि वह चित् और जड़ एतत् उभय से विलक्षण ही है। ऐसे आभास के सहित अविद्या मूर्त्त-अमूर्त्त सकल प्रपञ्चों का उद्भावन करनेवाली ईश्वर की शक्ति ईश्वररूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। अव्याकृत शब्द-वाच्य जो अविद्या आदि चार पदार्थ कहे गये हैं, उनमें से अविद्या से भिन्न तीन अविद्या के व्याप्य हैं।

शङ्का—(१) चित् और अविद्या का सम्बन्ध, (२) जीवेश्वर, विभाग और (३) चिदाभास ये तीनों पदार्थ अविद्या से व्याप्त कैसे हैं? क्योंकि घट मृत्तिका से उत्पन्न होता है, इसलिए वह मृत्तिका से व्याप्त होता है। पर ये तो अविद्या से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अविद्या की तरह अनादि ही हैं।

उत्तर—जन्यत्व व्याप्यता का नियामक नहीं है, क्योंकि स्वव्याप्यत्व में स्वजन्यत्व हेतु नहीं है, किन्तु स्वावस्थित्यधीन-अवस्थितिकत्व स्वव्याप्यत्व है। जैसे मृत्तिका की अवस्थिति होने पर ही घट की अवस्थिति देखी जाती है। मृत्तिका की निवृत्ति होने पर तो क्षणभर भी घट की स्थिति नहीं होती, किन्तु निवृत्ति ही होती है। इसलिए घट मृत्तिका का व्याप्य है। वैसे ही यहाँ अविद्या की अवस्थिति होने पर इन तीनों पदार्थों की अवस्थिति होती है, अविद्या की निवृत्ति होने पर तो इनकी क्षणभर भी अवस्थिति नहीं होती है। इसलिए ये अविद्या के व्याप्य हैं। इस प्रकार अविद्याव्याप्यत्व के प्रदर्शन से अविद्या की निवृत्ति के लिए मुमुक्षु द्वारा क्रियमाण यत्न में इन तीनों की निवृत्ति के लिए पृथक्-पृथक् यत्न की अपेक्षा नहीं है, यह सूचित होता है।

२ चार 'तत्' शब्दों से अविद्या का परामर्श है। 'चैतन्यतत्सम्बन्ध' शब्द में पूर्व-पद में द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुष है। इसी प्रकार जीवेश्वर-विभाग शब्द में भी द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुष

तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वेन तद्व्याप्यैश्चैतन्यतत्सम्बन्धजीवेश्वरविभागचिदाभासैः सहानादित्वादव्याकृतमित्युच्यते। सा च स्वयं जडाऽप्यजडेन चिदाभासेनोज्ज्वलिता पूर्वपूर्वसंस्कारजीवकर्मप्रयुक्ता[1] सती शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि[2] आकाशवायुतेजोजलपृथिव्याख्यानि पञ्चमहाभूतानि जनयति। तत्र[3] पूर्वपूर्वभूतभावापन्नाया अविद्याया उत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात् पूर्वपूर्वभूतगुणानामुत्तरोत्तरभूतेष्वनुप्रवेशः।

अविद्या एवं अविद्या से व्याप्त (अविद्या-चैतन्य-सम्बन्ध आदि) अविद्या कार्यरूप प्रपञ्च दृश्य पदार्थ है। वह यद्यपि अपारमार्थिक है, तथापि उसकी व्यावहारिकी सत्ता

है। यहाँपर जीव और ईश्वर का दृकूरूप प्रथम पदार्थ में ही अन्तर्भाव है। उनका विभागमात्र अव्याकृत है। इसी प्रकार चैतन्य-तत्-सम्बन्ध यहाँपर भी सम्बन्धमात्र अव्याकृत है, चैतन्य का तो दृकूरूप प्रथम पदार्थ में ही संग्रह हो चुका है। तच्छब्द से परामृष्ट अविद्या और साभासाविद्या पहले ही अव्याकृत पदार्थ में संगृहीत हो चुकी हैं। अब अमूर्त्त पदार्थ को कहते हैं –'सा च' इस ग्रन्थ से।

१ अनादि संस्काररूप से स्थित जीव के कर्मों से सहकृत होती हुई, यह अर्थ है। संस्कार तो अव्याकृत है ही, क्योंकि शक्ति-विशेषरूप होने से वह अविद्या के स्वरूप के अन्तर्गत है। उस अव्याकृत-चतुष्टय से अतिरिक्त यह पञ्चम संस्कार भी अव्याकृत ही है—यह कोई-कोई कहते हैं।

२ अद्वैतवेदान्तियों के मत में गुण और गुणी का तादात्म्य ही है, इसलिए आकाश का सूक्ष्मस्वरूप शब्द ही है। इसी प्रकार वायु आदि का भी सूक्ष्मरूप स्पर्शादि ही है, यह समझना चाहिये।

३ शब्दात्मक आकाशस्वरूप होती हुई अविद्या स्पर्शात्मक वायु को उत्पन्न करती है। इस तरह कारणस्वरूपान्तर्गत शब्द की कार्यरूप स्पर्शात्मक वायु में अनुवृत्ति होती है। इसलिए वायु शब्दस्पर्शोभयात्मक हो जाता है। तादृश वायुभाव को प्राप्त हुई अविद्या रूपात्मक तेज को उत्पन्न करती है। उनमें से भी पूर्व की तरह कारण के स्वरूपों की अनुवृत्ति से शब्दस्पर्शरूपात्मक तेज सिद्ध होता है। तेज से जायमान जल शब्दस्पर्शरूपरसात्मक होता है। उससे जायमान पृथ्वी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक होती है। यहाँपर सारी अविद्या का आकाशरूप से परिणाम नहीं होता, किन्तु एकदेश से होता है। आकाश भी एकदेश से वायुभाव को प्राप्त होता है, वायु भी एकदेश से तेज को और तेज एकदेश से जल को और जल एकदेश से पृथ्वी को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर की अपेक्षा से पूर्व-पूर्व महान् सिद्ध होते हैं।

को स्वीकार करने से उसका निरूपण स्वप्न के पदार्थों के निरूपण के समान व्यर्थ नहीं है, उपासना आदि में उसका उपयोग है। दृश्य भी अव्याकृत, मूर्त्त एवं अमूर्त्त भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों में चिदाभाससहित अविद्या, जो कि मूर्त, अमूर्त्त और समस्त जगत् की बीजशक्तिरूपा है, अविद्या से अजन्य होने पर भी अविद्या की निवृत्ति से निवृत्त होनेवाले जो-जो अविद्या के व्याप्य अविद्या-चैतन्य-सम्बन्ध, जीवेश्वर-विभाग और चिदाभास हैं, इनके साथ मिलकर वही साभास अविद्या अनादि होने से अव्याकृत कही जाती है। वह यद्यपि स्वयं जड़ है, तो भी चेतन चिदाभास से उज्ज्वल होकर पूर्व-पूर्व संस्कार और जीवों के कर्मों से प्रेरित होती हुई शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धस्वरूप आकाश, वायु तेज, जल, पृथ्वीनामक पाँच महाभूतों को उत्पन्न करती है। पूर्व-पूर्व भूतों (आकाशादि) के स्वरूप को प्राप्त हुई अविद्या उत्तर-उत्तर के प्रति कारण होती है। इसलिए पूर्व-पूर्व भूतों के गुणों का उत्तर-उत्तर भूतों में प्रवेश होता है।

एवमविद्यात एवान्धकारोऽपि भावरूप एव आवरणात्मा चाक्षुषज्ञान-विरोधी आलोकनाश्यश्च झटिति विद्युदादिवदाविर्भवति तिरोभवति चेति सिद्धान्तः। संसारहेतुदेहानुपादानत्वाच्च न श्रुतिषु सृष्टिप्रक्रियायामाम्नात इत्यविरोधः। दिक्कालौ त्वप्रामाणिकत्वान्नोक्तौ : आकाशस्यैव दिग्व्यवहार-हेतुत्वात्, 'दिशः श्रोत्रमि'ति श्रुतेश्च। कालस्त्वविद्यैव, तस्या एव सर्वाधार-त्वादिति। अयश्चाव्याकृतपदार्थ ईश्वरोपाधिः।

इसी प्रकार भावस्वरूप[1], आवरणरूप[2], चाक्षुषज्ञान का विरोधी आलोक से नष्ट होनेवाला अन्धकार भी अविद्या से ही बिजली की तरह झटपट आविर्भूत होता है

---

१ वैशेषिक अन्धकार को तेज का अभावरूप मानते हैं। यह युक्त नहीं, क्योंकि 'नीलं तमश्चलति' इस प्रतीति के अनुरोध से अन्धकार की भावरूपता सिद्ध है। उक्त प्रतीति भ्रमरूप नहीं है, क्योंकि उसका बाध नहीं होता—जैसे 'नेदं रजतम्' इस प्रकार बाध का अनुभव होता है, वैसे 'न नीलं तमः' इस प्रकार बाध का अनुभव नहीं होता। अन्धकार चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, इसलिए उसे अतिरिक्त पदार्थ मानने में गौरव नहीं है।

२ आवरणस्वरूप है, इसीलिए वह चाक्षुषज्ञान का विरोधी है।

शङ्का—अन्धकार यदि भाव-पदार्थ है, तो जैसे भावरूप आकाशादि की उत्पत्ति 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २ । १ । १) इत्यादि श्रुतियों में वर्णित है, वैसे ही

और झट तिरोभूत हो जाता है। संसार-बन्धन[1] की कारणस्वरूप देह का उपादान न होने से श्रुतियों में सृष्टिप्रकरण में उसका कथन नहीं किया, इसलिए कोई विरोध नहीं है। दिशा[2] और काल तो अप्रामाणिक होने से पृथक् नहीं कहे गये। 'दिशः श्रोत्रम्'[3] इस श्रुति से आकाश को ही दिशा के व्यवहार का हेतु कहा गया है। काल तो अविद्या ही है, क्योंकि अविद्या ही सबका आधार है। यह अव्याकृत-पदार्थ ईश्वर का उपाधि है।

अन्धकार की उत्पत्ति का वर्णन क्यों नहीं किया? उत्तर में कहते हैं—'संसारहेतुदेहानुपादानत्वात्' इत्यादि से।

१ भाव यह है कि प्रधानतया भावों की उत्पत्ति के वर्णन में श्रुति की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु मुमुक्षु पुरुषों को मोक्ष के साधन आत्मतत्त्वज्ञान के लिए आत्मा का यथार्थ स्वरूप बताने में ही श्रुति का तात्पर्य है। संसाररूप बन्ध का कारण प्राणियों का नैसर्गिक देहात्मभ्रम जबतक निवृत्त नहीं किया जा सकता, तबतक आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रदर्शन नहीं हो सकता। अतः उस भ्रम के निवारण के लिए देहादि के मूलकारणों का प्रदर्शन करना चाहिये, इस अभिप्राय से श्रुति ने भौतिक देह के उपादान कारण आकाशादि की उत्पत्ति का वर्णन किया है। अन्धकार तो देह का उपादान नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति के वर्णन न करने से श्रुति की न्यूनता नहीं है। किञ्च, श्रुति में आकाश, वायु आदि की उत्पत्ति के वर्णन से परमाणुओं के नित्यत्व का भ्रम दूर हो जाता है, इसलिए कोई भी जड़ नित्य नहीं है, एक चेतन आत्मा ही नित्य है, इस अर्थ में श्रुति का तात्पर्य है। आत्मभिन्न सब भाव-पदार्थों की अनित्यता में श्रुति का तात्पर्य है। अन्धकार को तो वैशेपिक भी नित्य नहीं मानते। इसलिए अन्धकार की उत्पत्ति के कथन से उसका अनित्यत्वसाधन सिद्धसाधन ही है, अतः अन्धकार की उत्पत्ति में श्रुति उदासीन है।

शङ्का—भावरूप दिशा और काल की उत्पत्ति के प्रदर्शन से उनका अनित्यत्व अवश्य दिखाना चाहिये, क्योंकि वैशेपिकादि दिशा और काल को नित्य मानते हैं।

उत्तर—दिशा की उत्पत्ति तो 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१।१) यहां पर दिखायी है, क्योंकि दिशा आकाश से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। और काल अविद्या से अतिरिक्त नहीं है 'सा च तम आसीत्' (तै० ब्रा० २।८।६।४) इत्यादि श्रुति में कहा है।

२ 'अप्रामाणिकत्वात्' इसका 'पदार्थान्तरत्वेन अप्रामाणिकत्वात्' यह अर्थ है।

३ वैशेपिक भी श्रोत्र-इन्द्रिय को आकाशरूप मानते हैं। 'दिशः श्रोत्रम्' इस श्रुति में दिशा से श्रोत्र की उत्पत्ति के कथन से दिशा श्रोत्र का उपादान कारण है, यह सिद्ध होता है। तथाच आकाशस्वरूप श्रोत्र का उपादान कारण आकाश ही होना चाहिये, इसलिए अर्थात् दिशा आकाशरूप है, यह सिद्ध होता है।

तानि च सूक्ष्माण्यपञ्चीकृतानि पञ्चमहाभूतान्यमूर्ताख्यानि कारणैक्यात् सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकानि सत्त्वांशप्राधान्येन ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमेकं स्वच्छं द्रव्यं चित्ररूपमिव मिलित्वा जनयन्ति। तस्य च ज्ञानशक्तिप्रधानोंऽशोऽन्तःकरणम्। तच्च बुद्धिर्मन इति द्विधोच्यते। क्रियाशक्तिप्रधानोंऽशः प्राणः। स पञ्चधा—प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इति।

और वे[1] अमूर्त्त नामवाले सूक्ष्म अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कारण[2] की एकता से सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक हैं। ये अमूर्त्त पञ्चमहाभूत सत्त्व-अंश की प्रधानता से ज्ञानक्रिया-शक्त्यात्मक एक स्वच्छ[3] द्रव्य को चित्ररूप की तरह मिलकर उत्पन्न करते हैं। उसका[4] ज्ञानशक्तिप्रधान अंश अन्तःकरण है। वह[5] अन्तःकरण ही बुद्धि और मन इन दो भेदों से कहा जाता है। क्रियाशक्तिप्रधान अंश प्राण है। वह[6] प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान भेद से पाँच प्रकार का है।

---

१ पञ्चीकरण को अप्राप्त पाँच भूतों के परस्पर मिश्रण को 'पञ्चीकरण' कहते हैं। उसका प्रकार आगे मूल में ही 'तत्र च प्रत्येकम्' इत्यादि ग्रन्थ से कहेंगे।

२ कारण के साथ कार्य की एकता लोक में देखी जाती है, क्योंकि घट मृत्स्वरूपता का त्याग नहीं करता। ब्रह्मसूत्रकार ने भी 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इस सूत्र से कार्य का कारण के साथ अभेद कहा है। तथाच, जैसे चिकनी मृत्तिका से बनाया हुआ घट मृत्तिकारूप होने से चिकना ही होता है, वैसे ही त्रिगुणात्मक अविद्या से सम्पादित पञ्चभूत त्रिगुणात्मक ही होते हैं।

३ कारणगत सत्त्व-अंश की अधिकता से उत्पन्न होने के कारण अन्तःकरण भी स्वच्छ है, जैसे रजत की मुद्रा अन्य धातुओं से मिश्रित होने पर भी रजत-अंश की अधिकता से राजत ही देखी जाती है। वह ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मक होने से शक्तिद्वय से युक्त है, इसलिए चित्ररूप के सदृश है।

४ ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मक एक स्वच्छ द्रव्य का, यह अर्थ है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती के मत में प्राण और अन्तःकरण की एकता ही है, केवल शक्तिभेद से भेद का व्यपदेश होता है।

५ निश्चयात्मक वृत्तिवाले अन्तःकरण को 'बुद्धि' कहते हैं। अनिश्चयात्मक वृत्तिवाला अन्तःकरण 'मन' कहा जाता है। 'अहम्' इत्याकारक निश्चयविशेषात्मक वृत्तिमद् अन्तःकरण-रूप होने से 'अहंकार' बुद्धिविशेष ही है। संशयरूप अनिश्चयविशेषात्मक वृत्तिमद् अन्तः-करणरूप होने से चित्त मनोविशेष है।

६ 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥'
इस प्रकार स्थान-भेद से उनका भेद समझना चाहिये।

एवमेकैकभूतेभ्यो ज्ञानक्रियाशक्तिभेदात् प्रत्येकमिन्द्रियद्वयं जायते। आकाशाच्छ्रोत्रवाचौ। वायोस्त्वक्पाणी। तेजसश्चक्षुष्पादौ। अद्भ्यो रसनपायू। पृथिव्या घ्राणोपस्थौ। अत्र 'तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति श्रुतेस्तैजसी वाक्। पादस्तु नाभस इति केचित्। शब्दव्यञ्जकेन्द्रियत्वेन श्रोत्रवद्वाचो नाभसत्वं पादचिकित्सया च चक्षुषः स्वास्थ्यदर्शनाच्चक्षुर्वत् पादस्यापि तैजसत्वमिति युक्तमुत्पश्यामः। तेजोमयत्वश्रुतिस्तु मनसः पञ्चमहाभूतकार्यस्यापि अन्नमयत्वश्रुतिरिव तदुपकार्यतया व्याख्येया। मनसश्च पञ्चमहाभूतगुणग्राहकत्वेन तद्वत्त्वनिश्चयात् पञ्चमहाभूतात्मकत्वमित्यन्यदेतत्।

इस प्रकार एक-एक भूत से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के भेद से प्रत्येक की दो-दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश[1] से श्रोत्र और वाणी, वायु से त्वचा और हस्त, तेज से नेत्र और पाद, जल से रसना और गुद (मलविसर्जनेन्द्रिय), पृथिवी से नासिका और उपस्थ (मूत्रविसर्जनेन्द्रिय)। यहाँ कुछ लोग 'तेजोमयी वाक्' इस श्रुति से

---

१ कर्णविवरवर्ती ज्ञानशक्तिमान् आकाश 'श्रोत्र' इन्द्रिय है। वैसे ही मुखविवरवर्ती क्रियाशक्तिमान् आकाश 'वाक्' इन्द्रिय है। इसी प्रकार वायु प्रभृति चारों में प्रत्येक की दो-दो इन्द्रियाँ समझनी चाहिये। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शब्द आकाश का गुण है और श्रोत्र शब्द का ग्राहक है। शब्द का आश्रय होने ही से वह शब्द को ग्रहण करता है, क्योंकि शब्दग्राहकता का अवच्छेदक कोई धर्मान्तर वहाँ दृश्यमान नहीं है। इसलिए शब्द का आश्रय होने से श्रोत्र की आकाशरूपता स्वीकार करनी चाहिये। 'वाक्' इन्द्रिय तो शब्द की उद्भावक है, इसलिए वह भी आकाशरूप है, यह स्वीकार करना चाहिये। वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है, शब्द तो उसमें अपने कारण आकाश से आया है। इसलिए वायुगत स्वाभाविक गुण स्पर्श की ग्राहक, स्पर्श की आश्रय होने से, 'त्वक्' इन्द्रिय वायुरूप है। वायु में क्रियाशक्ति है। वह क्रियाशक्ति 'पाणि' इन्द्रिय में अधिक देखी जाती है। इसलिए 'पाणि' इन्द्रिय वायुरूप है। तेज का स्वाभाविक गुण रूप है, शब्द-स्पर्श तो उसमें कारण से अनुवृत्त हैं, स्वाभाविक नहीं। इसलिए तादृश रूप का ग्राहक होने से चक्षु रूपवान् है, अतः चक्षु तैजस् है। पादों में घृत आदि का सम्मर्दन करने से चक्षु का स्वास्थ्य देखा जाता है, इसलिए 'पाद' इन्द्रिय तेजोरूप है। जल का स्वाभाविक गुण रस है; शब्द, स्पर्श और रूप उसमें कारण से आते हैं। रस की ग्राहक होने से 'रसन' इन्द्रिय रस की आश्रय है; इसलिए रसनेन्द्रिय जल-स्वरूप है। 'पायु' इन्द्रिय भी जल की तरह मल की शोधक होने से जलस्वरूप है। पृथ्वी का स्वाभाविक गुण गन्ध है; शब्द, स्पर्श, रूप, रस उसमें कारण से अनुवृत्त हुए हैं। गन्ध की ग्राहक होने से 'घ्राण' इन्द्रिय गन्ध की आश्रय है, इसलिए घ्राण-इन्द्रिय पृथ्वीस्वरूप है। 'उपस्थ' इन्द्रिय गन्ध-विशेष की अतिशय व्यञ्जक होने से पृथ्वीस्वरूप है।

वाणी को तैजस (तेज से उत्पन्न) कहते हैं। कोई पाद को नाभस[1] (आकाश से उत्पन्न) कहते हैं। परन्तु हम तो यही युक्त समझते हैं कि शब्द-व्यञ्जक इन्द्रिय होने के कारण श्रोत्र के समान वाणी भी आकाशजन्य है। पाद की चिकित्सा करने से नेत्र की स्वस्थता देखी जाती है, अतः नेत्र के समान पाद भी तैजस है। वाणी में तेजोमयत्व[2] का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति तो, पञ्चभूतों के कार्यरूप मन में अन्नमयत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के समान, उसकी उपकारी होने से, व्याख्येय है। मन पाँच भूतों के गुणों का ग्रहण करता है, उसमें पञ्चमहाभूतगुणवत्त्व का निश्चय होने से पञ्चमहाभूतात्मकता सिद्ध है, यह बात दूसरी है।

एतेषामधिष्ठातारो देवा अपि ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिप्रधानाः। दिगग्नी वातेन्द्रौ आदित्यविष्णू वरुणमित्रौ अश्विप्रजापती इति। तत्र ज्ञानशक्तिसमष्टिरन्तःकरणम्। क्रियाशक्तिसमष्टिः प्राणः।

श्रोत्र आदि के अधिष्ठाता देवता[3] भी ज्ञानशक्तिप्रधान एवं क्रिया-शक्तिप्रधान हैं। दिशा और अग्नि, वायु और इन्द्र, सूर्य और विष्णु, वरुण और मित्र, अश्विनी-

---

१ नाभस=आकाशमय।

२ 'तेजोमयी वाक्' इस श्रुति में वाणी को तेजोमय कहना 'वाणी तेज से पुष्ट होती है' इस अभिप्राय से है। इसलिए उससे विरोध नहीं है। जैसे पञ्चभूतों के कार्य भी मन को 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' (छा० ६।५।४) इस श्रुति में अन्नभक्षण से प्रसन्नता होती है, इस अभिप्राय से मन 'अन्नमय' कहा गया है, वैसे ही 'तैजस पदार्थों के भक्षण से वाक्-इन्द्रिय का कार्य शब्दोच्चारण भलीभाँति सम्पन्न होता है', इस अभिप्राय से वाणी को 'तेजोमय' कहा गया है।

शङ्का—'अन्नमयं हि सौम्य मनः' इस श्रुति के अनुरोध से घटादि की तरह मन भी पार्थिव ही है।

उत्तर—मन यदि पार्थिव हो, तो गन्धवान् होने से घ्राणेन्द्रिय की तरह गन्ध ही का ग्रहण करेगा, शब्दादि का नहीं। किन्तु वह शब्दादि का ग्रहण करता देखा जाता है। इसलिए शब्दादिग्रहणान्यथानुपपत्त्या मन में शब्दादि सभी गुण हैं, यह स्वीकार करना चाहिये। अतएव मन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का आश्रय होने से पाञ्चभौतिक सिद्ध होता है।

३ श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और घ्राण नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियों के क्रम से ज्ञानशक्ति-प्रधान दिक्, वात, आदित्य, वरुण और अश्विनीकुमार देवता हैं, वैसे ही वाक्, पाणि, पाद,

कुमार और प्रजापति—ये क्रम से श्रोत्र, वाणी आदि के अधिष्ठाता हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रियों की समष्टि अन्तःकरण है और कर्मेन्द्रियों की समष्टि प्राण।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाणि। त्वक्चक्षुषी स्वग्राह्यगुणाश्रयं द्रव्यमपि गृह्णीतः। श्रोत्रमपि चक्षुर्वद् गत्वा शब्दग्राहकम्, दूरे शब्द इति प्रत्ययात्। वचनादानगति-विसर्गानन्दजनकानि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि। एतच्च सर्वं मिलित्वा सप्तदशकं लिङ्गं ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भ इति क्रिया-शक्तिप्राधान्येन सूत्रमिति चोच्यते। अयममूर्त्तः पदार्थः कार्यत्वाद् व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण करनेवाले श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमें से त्वचा[1] और नेत्र अपने से ग्रहण करने के योग्य गुण के आश्रयभूत द्रव्य का भी ग्रहण करते हैं। श्रोत्र भी नेत्र के समान विषय के समीप जाकर शब्द का ग्रहण करता है, क्योंकि दूर में शब्द है—ऐसा ज्ञान होता है। बोलना, ग्रहण करना, चलना, मल त्यागना, आनन्द आदि क्रियाओं

पायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियों के क्रम से क्रियाशक्ति-प्रधान अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति देवता हैं।

१ श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण ये तीनों इन्द्रियाँ तत्तत् गुणमात्र का ग्रहण करती हैं। त्वक् इन्द्रिय तो स्पर्श और उसके आश्रय का ग्रहण करती है। चक्षुरिन्द्रिय भी रूप और उसके आश्रय का ग्रहण करती है।

शङ्का—प्रत्यक्षज्ञान में विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष की अपेक्षा है। ऐसी दशा में दूरस्थ पर्वतादि का चक्षु से ज्ञान कैसे होता है?

उत्तर—चक्षु स्वयं लम्बा होकर पर्वत के समीप जाकर पर्वत को व्याप्त करता है, अथवा किरण द्वारा पर्वत को व्याप्त करता है। इसी प्रकार श्रोत्र भी लम्बा होकर शब्द के समीप जाकर शब्द को व्याप्त करता है। शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है, इसलिए क्रम से श्रोत्रदेश में उत्पद्यमान ही शब्द को श्रोत्र ग्रहण करता है, यह वैशेषिकमत युक्त नहीं है; क्योंकि उस दशा में सर्वत्र श्रोत्रसन्निहित ही शब्द का ग्रहण होगा। तब 'दूर शब्द सुनाई देता है' ऐसी प्रतीति न होगी। इसलिए श्रोत्र ही शब्द के समीप जाता है, यह स्वीकार करना चाहिये।

की जनक वाणी, हस्त, पाद, गुद, उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये[1] सब मिलकर सत्रहों का समुदाय-स्वरूप लिङ्गदेह ज्ञानशक्ति की प्रधानता से हिरण्यगर्भ और क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। यह[2] अमूर्त्त पदार्थ कार्य होने से व्यष्टि में एवं समष्टि में भी जीवो उपाधि है।

तानि[1] च तादृशानि भूतानि भोगायतनं[2] शरीरं भोग्यञ्च[3] विषय-मन्तरेण भोगं जनयितुमशक्नुवन्ति जीवकर्मप्रयुक्तत्वात् स्थौल्याय पञ्चीकृतानि भवन्ति। तत्र च प्रत्येकं पञ्चभूतानि द्विधा विभज्यन्ते, तत्रैकैको भागश्चतुर्धा विभज्यते। तद्भागचतुष्टयञ्च स्वभागं विहायेतरभूतचतुष्टयार्धभागेषु प्रविशतीति स्वस्यार्धभागेनेतरेषामष्टमभागेन च पञ्चीकरणान्मेलनेऽप्याधिक्यादाका-शादिशब्दप्रयोगः।

अमूर्त्त और सूक्ष्म वे भूत भोगों के गृहरूप शरीर तथा भोग्य विषयों के विना

---

१ ईश्वर की उपाधि अनादि अव्याकृत से उत्पद्यमान यह सब है। सूक्ष्म अपञ्चीकृत पञ्चभूत और उन सबके सात्त्विक अंशों से उत्पद्यमान ज्ञानशक्तिप्रधान अन्तःकरण, वैसे ही उन भूतों से उत्पद्यमान क्रियाशक्ति-प्रधान प्राण, वैसे ही उन प्रत्येक के सात्त्विक अंशों से उत्पद्यमान ज्ञानशक्तिप्रधान पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वैसे ही उनसे उत्पद्यमान क्रियाशक्तिप्रधान पाँच कर्मेन्द्रियाँ—इन सत्रहों का समुदायरूप लिङ्गशरीर है। वह लिङ्गशरीर ज्ञानशक्ति की प्रधानता से 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। हिरण्य (सुवर्ण) की तरह प्रकाशजनक गर्भवाला', यह 'हिरण्यगर्भ' शब्द का अक्षरार्थ है। समष्टि-लिङ्ग-शरीराभिमानी जीव भी हिरण्यगर्भरूप लिङ्गशरीर का अधिष्ठाता होने से हिरण्यगर्भ कहा जाता है, वैसे ही वही सत्रहों का समुदाय-रूप लिङ्गशरीर क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। सूत्र (तागा) की तरह सब पदार्थों में अनुस्यूत (सिला हुआ) होने से यह सूत्र कहा जाता है। लिङ्ग-समष्टि का अभिमानी जीव भी लिङ्गशरीररूप सूत्र का अधिष्ठाता होने से सूत्र कहा जाता है।

२ ये सब ईश्वर के बनाये हैं, इसलिए अपनी उत्पत्ति से पहले अपने उत्पादक ईश्वर के उपाधि नहीं हो सकते। अतः ये जीव ही के उपाधि हैं। सूत्रात्मा और हिरण्यगर्भ भी जीवविशेष ही हैं। इस प्रकार अव्याकृत और अमूर्त्त इन दोनों पदार्थों को कहकर तृतीय मूर्त्त पदार्थ के प्रदर्शन के लिए आरम्भ करते हैं—'तानि चेति' से।

१ अमूर्त्त = सूक्ष्मभूत। २ भोगायतन = शरीर। ३ पञ्चीकृत पञ्चभूतों के परिणाम-विशेष = भोग्य-विषय।

भोग[1] उत्पन्न करने में असमर्थ होते हुए जीव[2] के कर्मों से प्रेरित होकर स्थूल होने के लिए पञ्चीकृत होते हैं। पञ्चीकरण में प्रत्येक[3] भूत के दो विभाग किये जाते हैं। उनमें से एक-एक भाग के चार-चार भाग किये जाते हैं। वे चार भाग अपने भाग को छोड़कर अन्य चार भूतों के आधे भाग में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अपने आधे भाग से अन्य चार भूतों के आठवें भाग से पञ्चीकरण द्वारा मिलने पर भी अपने भाग के आधिक्य से आकाश आदि शब्द प्रयोग होता है।

अत्र[4] च 'त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६ । ३ । ३) इति श्रुतेः 'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' (ब्र० सू० २ । ४ । २०) इति सूत्राच्च

---

१ उस परिणामविशेष ही से भूतों को भोगजनकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

२ सूक्ष्मभूतों की स्थूलता पञ्चीकरण से होती है। पञ्चीकरण पाँचों भूतों के परस्पर मिश्रण को कहते हैं। वह मिश्रण सम विभाग से नहीं, किन्तु लोकप्रतीति के अनुसार विषम-भाग से होता है। यदि सम-भाग से हो, तो 'यह पृथ्वी, यह जल' इत्यादि प्रतीति न हो ी।

३ आकाश के दो भाग करके फिर उन दोनों अर्धभागों में से एक अर्ध के चार सम-भाग करने चाहिये, इस प्रकार पाँच भाग हो जाते हैं। उनमें से एक भाग तो अर्द्धांश है, दूसरे चार अष्टमांश। वायु आदि चार भूतों के भी इसी प्रकार पाँच भाग करने चाहिये। उनमें से आकाश के अर्द्धांश में वायु आदि चारों भूतों का एक-एक अष्टमांश जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ 'आकाश' शब्द से कहा जाता है, क्योंकि आकाश का अंश उसमें अधिक है। उसी प्रकार वायु के अर्द्धांश में वायु से भिन्न आकाशादि चार भूतों का एक-एक अष्टमांश जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ उपलभ्यमान वायु कहा जाता है। इसी प्रकार तेज, जल, पृथ्वी इनके भी प्रत्येक अर्द्धांश में तत्तत् से भिन्न चारों भूतों के प्रत्येक चार अष्टमांश जोड़ देने चाहिये। जिस भूत का जिसमें अर्द्धांश होता है, उसका उस शब्द से व्यपदेश होता है।

४ अब त्रिवृत्करणवादी वाचस्पति मिश्र के मत का अनुवाद करते हैं। आकाश और वायु का अन्य भूतों में मिश्रण नहीं, वैसे ही आकाश और वायु में अन्य भूतों का मिश्रण नहीं। किन्तु तेज, जल, पृथ्वी इन्हींका परस्पर मिश्रण है। इसीको 'त्रिवृत्करण' कहते हैं। वह भी सम-विभाग से नहीं, किन्तु पञ्चीकरण की तरह विषम-विभाग से ही है। उसका प्रकार यह है—तेज के दो सम-भाग करके उन दोनों अर्द्ध-भागों में से फिर एक भाग के दो सम-विभाग करने चाहिये। इस प्रकार तीन भाग होते हैं। उनमें से एक भाग तो अर्द्धांश है, दूसरे दो चतुर्थांश, इस प्रकार जल और पृथ्वी के भी प्रत्येक भागत्रय करने चाहिये। उनमें से तेज के

त्रयाणामेव मेलनप्रतीतेश्च, त्रिवृत्करणमेव केचिन्मन्यन्ते। ते[१] वियदधिकरणन्याये-नैव निराकृताः। तथा हि—तैत्तिरीयके 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै० २।१।१) इति श्रुतेश्छान्दोग्ये त्रयाणां तेजोऽबन्नानां

अर्द्धांश जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ तेज-अंश की अधिकता से तेज कहा जाता है। वैसे ही जल के अर्द्धांश में तेज का एक चतुर्थांश और पृथ्वी का एक चतुर्थांश जोड़ देना चाहिये। यह मिश्रित पदार्थ जल-अंश की अधिकता से जल कहा जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी के अर्द्धांश में तेज का एक चतुर्थांश और जल का एक चतुर्थांश जोड़ देना चाहिये। यह पृथ्वी कहा जाता है। त्रिवृत्करण में प्रमाण 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।३) यह श्रुति है। 'उन तेज, जल और पृथ्वी में से एक-एक को त्रिवृत कर दूँ' इस प्रकार परमात्मा ने विचार किया, यह श्रुति का अर्थ है। जैसे तीन तन्तुओं से ग्रथित रज्जु त्रिवृत होती है। यहाँपर वायु का उच्चारण न होने से पञ्चीकरण में श्रुति का तात्पर्य नहीं है, यह समझा जाता है। 'संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' (ब्र० सू० २।४।२०) यह सूत्र भी त्रिवृत्करण में प्रमाण है। संज्ञा = नाम, मूर्त्ति = रूप, क्लृप्ति = कल्पना, त्रिवृत्कुर्वतः = परमात्मा की—यह अर्थ है। 'तासां त्रिवृतं' इस उक्त श्रुति के अनुरोध से त्रिवृत्करण परमात्मा ने किया है, इसलिए 'त्रिवृत्कुर्वतः' शब्द का अर्थ परमात्मा है। अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि नाम-रूप व्याकरण परमात्मा ही का कार्य है, जीव का नहीं। 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इस श्रुति में 'नामरूप-व्याकरण का कर्त्ता परमात्मा है' इस उपदेश से, यह सूत्र का अर्थ है। इस सूत्र में त्रिवृत्करण का अनुवाद है। किंच, तेज, जल, पृथ्वी ये रूपवान् हैं, इसलिए उनके मिश्रण की प्रतीति होती है। वायु और आकाश नीरूप हैं, उनके मिश्रण की प्रतीति नहीं होती। प्रतीति के अनुसार ही ऐसा जानना है, यह निश्चय होता है—यह वाचस्पति मिश्र का आशय है। इस मत का निराकरण करते हैं।

१ तैत्तिरीय-श्रुति में परमात्मा से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाँच भूतों की उत्पत्ति का क्रम से वर्णन किया है। छान्दोग्य-श्रुति में तो परमात्मा से तेज, जल, पृथ्वी इन तीनों ही भूतों की उत्पत्ति का वर्णन है। ऐसी दशा में इन दोनों श्रुतियों का विरोध है। विरोध होने पर एक श्रुति की प्रमाणता को स्वीकार करके उसके बल से अन्य श्रुति का बाध अवश्य कहना चाहिये। बाधित श्रुति का भी सर्वथा अप्रामाण्य नहीं, किन्तु अध्याहार से अथवा लक्षणा से कथञ्चित् संगमन करना चाहिये। प्रकृत में किस श्रुति से किसका बाध हो, यह संशय है। क्या छान्दोग्य-श्रुति में प्रथम तेज की उत्पत्ति के वर्णन से उससे पूर्व परमात्मा ने किसीकी उत्पत्ति नहीं की, इसलिए आकाश और वायु नित्य ही हैं, यह निश्चय करके तैत्तिरीय-श्रुति में वर्णित उत्पत्तिवाले आकाश और वायु का बाध करना चाहिये? 'सम्भूत' शब्द का लक्षणा से अभिव्यक्त अर्थ करके कथञ्चित् संगमन करना चाहिये अथवा तैत्तिरीय-श्रुति के अनुरोध से तेज से पूर्व आकाश और वायु की उत्पत्ति का निश्चय करके 'तत्तेजोऽसृजत्'

सृष्टिश्रवणोऽपि द्वयोरुपसंहारः। तेजःप्राथम्यपदार्थधर्मापेक्षया आकाशवायु-पदार्थयोर्बलीयस्त्वात्। छान्दोग्ये चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिपादनात् आकाशवाय्वोरचेतनयोर्ब्रह्मकार्यत्वस्यावश्यवाच्यत्वात्। तत्र पञ्चानामेव सृष्टानां मेलनेऽप्यवयुत्याऽनुवादेन त्रिवृत्करणश्रुतेरुपपत्तिः। त्रिवृतमेवेति' तु तत्कल्पनायां वाक्यभेदप्रसङ्गः।

इस छान्दोग्य-श्रुति में उत्पत्ति-क्रम में प्रतीयमान तेज के प्राथम्य धर्म का बाध करना चाहिये ? 'आकाशं वायुञ्च सृष्ट्वा' का अध्याहार करके श्रुति के अर्थ का संगमन करना चाहिये ? ऐसा संशय होने पर द्वितीय पक्ष ही ग्राह्य है, क्योंकि छान्दोग्य-श्रुति के अनुरोध से निश्चय करने पर तैत्तिरीय-श्रुति में वर्णित उत्पत्तिवाले आकाश और वायुरूप धर्मीभूत पदार्थ के ही बाध की कल्पना करनी होगी। तैत्तिरीय-श्रुति के अनुरोध से निश्चय करने पर तो छान्दोग्य-श्रुति में वर्णित उत्पत्तिवाले तेजरूप धर्मीभूत पदार्थ का बाध नहीं होता, क्योंकि तेज की उत्पत्ति तैत्तिरीय-श्रुति में भी वर्णित है। किन्तु उत्पद्यमान तेजोरूप पदार्थ में प्रतीयमान प्राथम्य-धर्म का ही बाध करना होगा। बाध अगतिक गति है, इसलिए दुर्बल-प्राथम्य-धर्म के ही बाध की कल्पना करनी चाहिये। प्रबल आकाश, वायुरूप धर्मी पदार्थ के बाध की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

किञ्च, 'येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इस श्रुति में एक परमात्मा के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा की है। आकाश और वायु के नित्य होने पर तो वह परमात्मा के कार्य नहीं हो सकते। इसलिए परमात्मा के ज्ञान से आकाश और वायु का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि मृत्तिका के ज्ञान से उसके कार्य घट का यथार्थ ज्ञान हुआ करता है, पट का नहीं। इसलिए इस प्रतिज्ञा की हानि होगी। तथा च आकाश और वायु की परमात्मा से उत्पत्ति सिद्ध होती है, यह वियदधिकरण में सिद्ध किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुरोध से 'तत्तेजोऽसृजत' इस छान्दोग्य-श्रुति का 'उस ब्रह्म ने आकाश और वायु की रचना करके तेज की रचना की' यह अर्थ पर्यवसन्न होता है। इस श्रुति में पाँचों भूतों की उत्पत्ति कहकर उसके अनन्तर यह पढ़ा गया है—'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।३)। पूर्व में पाँच भूतों का प्रकरण है। उनमें से आकाश और वायु के त्याग में कोई कारण नहीं है। इसलिए 'त्रि'शब्द अधिक संख्या के व्यवच्छेद के लिए नहीं कहा गया है, किन्तु पूर्व तेज, अप्, अन्न, साक्षात् श्रुत हैं और तीनों रूपवान् हैं, इसलिए प्रधानता की विवक्षा से 'त्रि'शब्द का उच्चारण है। अतः पञ्चभूतों में से तीन भूतों का पृथक्कार करके अनुवादमात्र श्रुति ने किया है। अन्य की निवृत्ति में श्रुति का तात्पर्य नहीं है। इस प्रकार पञ्चीकरण श्रुतिविरुद्ध नहीं है।

१ त्रिवृत्करण-श्रुति का तेज, अप्, अन्न इन तीनों के मेलन के प्रतिपादन में तात्पर्य समझकर विधिमुख से प्रवृत्ति का स्वीकार करना चाहिये, अथवा आकाश और वायु इन दोनों के मेलन के निषेध में तात्पर्य समझकर निषेधमुख से प्रवृत्ति का स्वीकार करना चाहिये, अथवा

यहाँ 'त्रिवृतं त्रि०' इस श्रुति से तथा 'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' इस सूत्र से भी तीनों के ही मेलन की प्रतीति होने से कोई त्रिवृत्करण ही मानते हैं। उनका निराकरण वियदधिकरण-न्याय से किया गया है। देखिये—तैत्तिरीय उपनिषद् में 'तस्माद्वा' इस श्रुति से यद्यपि छान्दोग्योपनिषद् में तेज, जल और अन्न इन तीनों की सृष्टि का श्रवण है, तो भी दो का उपसंहार होता है। तेज के प्राथम्यरूप पदार्थ-धर्म की अपेक्षा आकाश और वायुरूप पदार्थों के बलवान् होने से एवं छान्दोग्य में 'एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है' ऐसी प्रतिज्ञा करने से अचेतन आकाश और वायु में ब्रह्मकार्यता अवश्य कहनी चाहिये। सृष्ट हुए पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों का मेलन होने पर भी समुदाय से एकदेश का पृथक् करके अनुवाद करने से त्रिवृत्करण-श्रुति की उपपत्ति हो जाती है। तीनों का ही मेलन होता है, ऐसी कल्पना करने पर तो वाक्यभेद-प्रसङ्ग हो जायगा।

'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' (ब्र० सू० २।४।२०) इति सूत्रं त्वनुवादत्वान्न पञ्चीकरणं न्यायसिद्धं बाधितुमुत्सहते। मेलनप्रतीतिश्च शरीरादौ पञ्चानामविशिष्टैव। पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानीति च भाष्यकार-वचनम्। तस्मादलमनेनानात्मचिन्तनेनेति दिक्।

'त्रिवृत्कुर्वत०'[1] यह सूत्र अनुवाद होने से न्यायसिद्ध पञ्चीकरण का बाध करने में असमर्थ हैं। शरीर आदि में पाँचों की मेलन-प्रतीति[2] समान ही है। पञ्चीकृत

दोनों में तात्पर्य समझकर दोनों प्रकार से प्रवृत्ति का स्वीकार करना चाहिये ? प्रथम पक्ष में तीनों के मेलन का कथन करने पर भी इतरों के निषेध के अभाव से पञ्चीकरण का निषेध नहीं होता है, क्योंकि 'देवदत्त यहाँ है' ऐसा कहने पर 'यज्ञदत्त नहीं है' यह निषेध प्रतीत नहीं होता। द्वितीय पक्ष तो सम्भव नहीं, क्योंकि अन्य प्रमाण से मेलन की प्राप्ति नहीं है। इसलिए प्रतियोगी के ज्ञान के विना निषेध की उपपत्ति नहीं है। तृतीय पक्ष में स्पष्ट वाक्यभेद है, यह भाव है।

१ 'संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु' इस सूत्र का त्रिवृत्करण के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं, किन्तु नामरूप-व्याकरण ईश्वरकर्तृक है—यह उस सूत्र का अर्थ है। वहाँपर 'त्रिवृत्कुर्वतः' शब्द से ईश्वर का निर्देश किया गया है, इसलिए त्रिवृत्कुर्वतः (परमेश्वर) से नामरूप की सृष्टि है, यह सूत्र का तात्पर्य है। इसलिए यह सूत्र त्रिवृत्करण में प्रमाण नहीं है।

२ यद्यपि मूर्त्तिमान् शरीरों में और आम्रफलादि में आकाश, वायु के नीरूप होने से प्रत्यक्ष के अभाव से उन दोनों का मेलन है अथवा नहीं—यह निश्चय नहीं हो सकता, तथापि

पञ्चमहाभूत यह भाष्यकार का वचन भी है। इसलिए इस अनात्मचिन्तन की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

तानि च पञ्चीकृतानि[1] पञ्चमहाभूतानि मूर्त्ताख्यानि मिलित्वैकं[2] कार्यमिन्द्रियाणामधिष्ठानं भोगायतनमुत्पादयन्ति। तदेव शरीरमित्युच्यते। तत्र सत्त्वप्रधानं देवशरीरम्। रजःप्रधानं मनुष्यशरीरम्। तमःप्रधानं तिर्यगादिस्थावरान्तशरीरम्। तस्य च शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वेऽपि चित्ररूपस्येव क्वचिन्न्यूनाधिकभावो भूतानां न विरुद्ध्यते। एवं विषया अपि पञ्चीकृतैकैकभूतजन्याश्चतुर्दशभुवनाख्या[3] ऊर्ध्वमध्याधोभावेन सत्त्वरजस्तमोंऽशप्रधाना घटादयश्च। एतच्च सर्वं ब्रह्माण्डाख्यं विराडिति मूर्त्तमिति चोच्यते। अयमौपनिषदः[4] सृष्टिक्रमः।

मूर्त्त नामक वे पाँच पञ्चीकृत महाभूत मिलकर इन्द्रियों के अधिष्ठान भोगों के आस्पद एक कार्य को उत्पन्न करते हैं। उसीको 'शरीर' कहते हैं। शरीरों में सत्त्वगुणप्रधान देवताओं का शरीर है, रजोगुणप्रधान मनुष्यों का शरीर है और पशु-पक्षियों से लेकर वृक्षपर्यन्तों का शरीर तमोगुणप्रधान है। वह शरीर यद्यपि पञ्चमहाभूत

मूर्तिमान् पदार्थों में स्पर्श और शब्द की उपलब्धि होने से शब्द और स्पर्श के द्वारा आकाश और वायु की प्रतीति होती ही है, यह भाव है।

१ 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थ में भाष्यकार ने यह कहा है।

२ यहाँ पञ्चीकरण में एक का अर्द्धांश और इतरों का अष्टमांश ऐसा कोई नियम नहीं, पञ्चभूतों की समता का भी निश्चय नहीं। किन्तु प्रतीति के अनुसार पञ्चीकृत पञ्चभूतों के भागों की कल्पना करनी चाहिये। भूलोकस्थ प्राणियों के शरीर में पृथ्वी-अंश अधिक है, अन्य अंश अल्प हैं। मत्स्यादि जलचर प्राणियों के शरीरों में भी पृथ्वी-अंश अधिक है। वरुणलोकस्थ प्राणियों के शरीरों में तो जल-अंश अधिक है, अन्य अंश स्वल्प हैं। इसी प्रकार आदित्य आदि लोकों में भी समझना चाहिये।

३ मध्य में भूलोक रजोंऽशप्रधान है, अधः सप्तपाताल तमोंऽशप्रधान हैं। ऊपर भुवः आदि छः लोक सत्त्वप्रधान हैं।

४ अव्याकृत से अमूर्त उत्पन्न होता है, उससे मूर्त। इस प्रकार सृष्टिक्रम श्रौत है, यह अर्थ है।

का बना है, तथापि चित्ररूप की तरह उसमें कहीं भूतों का न्यूनाधिकभाव हो जायं तो कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार सत्त्वगुणप्रधान होने से ऊर्ध्व-भाग में, रजोगुण-प्रधान होने से मध्यभाग में और तमोगुणप्रधान होने से अधोभाग में विद्यमान चौदह भुवन नामक विषय भी पञ्चीकृत एक-एक भूत से उत्पन्न हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड विराट् एवं मूर्त कहा जाता है। यह उपनिषदों में उक्त सृष्टि का क्रम है।

एतद्विपरीतो[1] लयक्रमः। मूर्तं पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मकं विराडाख्यं पृथिव्याद्येकैकभूतलयेनामूर्ते अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मके हिरण्यगर्भाख्ये स्वकारणे[2] लीयते। स एव च दैनन्दिनः प्रलयः। अमूर्तं चाव्याकृते परमेश्वरोपाधौ। अव्याकृतस्य त्वनादित्वेन कारणाभावान्न लयः। स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थानं लय इति तल्लक्षणात्। अयमेव प्राकृतः प्रलयः। ब्रह्मज्ञानादुच्छेदस्त्वात्यन्तिकः प्रलयः। स च कारणक्रमेणैव, कारणोच्छेदादेव कार्योच्छेदात्। सर्वं च सृष्टिप्रलयादिकं स्वप्नसृष्टिप्रलयवदपारमार्थिकमपि

---

१ लय=विनाश। उक्त लय दैनन्दिन, प्राकृत और आत्यन्तिक-भेद से तीन प्रकार का है। सकल मूर्त पदार्थों का विनाश दैनन्दिन प्रलय है, सकल अमूर्त पदार्थों का विनाश प्राकृत प्रलय है एवं अव्याकृतसहित सकल पदार्थों का विनाश आत्यन्तिक प्रलय है। मूर्त, अमूर्त और अव्याकृतरूपी अवस्थाविशेष के भेद से दृश्य जड-वर्ग तीन प्रकार का है, इसलिए उसका विनाश भी तीन प्रकार का है। लय का क्रम दो प्रकार का होता है। कार्य का किसी कारणान्तर से नाश होने पर उसका अपने कारण में लय देखा जाता है। जैसे दण्ड के आघात से घट का नाश होने पर घट का मृत्तिका में लय होता है। कहीं कारण के नाश से कार्य का नाश देखा जाता है। जैसे तन्तुओं के नाश से पट का नाश। तीन प्रकार के प्रलयों में से दैनन्दिन और प्राकृत प्रलय में आद्य क्रम है। आत्यन्तिक प्रलय में द्वितीय क्रम है—यह व्यवस्था है।

२ मूर्त-पदार्थों की अपने कारण अमूर्त हिरण्यगर्भ में सूक्ष्मरूप से स्थिति दैनन्दिन प्रलय है। यहाँ अमूर्तरूप ही सूक्ष्मरूप है। अमूर्त-पदार्थों की अपने कारण अव्याकृत में सूक्ष्मरूप से स्थिति प्राकृत प्रलय है। यहाँ अमूर्त-पदार्थों के प्रकृति में जो संस्कार हैं, वही उनका सूक्ष्मरूप है। आत्यन्तिक प्रलय का तो यह लक्षण नहीं, क्योंकि वहाँ पहले मूलकारण का ही नाश हो जाता है। इसलिए उससे उत्तरकाल में नष्ट होनेवाले कार्य की सूक्ष्मरूप से कारण में स्थिति कैसे हो सकती है? किञ्च, आत्यन्तिक प्रलय का यही आत्यन्तिकत्व है, जो उसमें विनश्यमान पदार्थों के स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सभी रूपों का नाश हो जाता है।

वासनादाढर्याद्[1] व्यवहारक्षममिति न मायिकत्वेऽपि तुच्छत्वप्रसङ्गः। यथा चैतत्तथा व्यक्तमाकरे।

इससे विपरीत लय-क्रम है। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उसका कार्यरूप विराट् नामक मूर्त पृथिवी आदि प्रत्येक भूत के लय से अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतरूप हिरण्यगर्भ नामक (अमूर्त) अपने कारण में लीन हो जाता हैं। यही दैनन्दिन प्रलय है। अमूर्त परमेश्वर की उपाधिरूप अव्याकृत में लीन हो जाता है। अव्याकृत अनादि है, उसका कोई कारण नहीं है, अतः उसका लय नहीं होता, क्योंकि लय का लक्षण है सूक्ष्मरूप से अपने कारण में रहना। जिसका कोई कारण ही नहीं, उसका लय कैसे? यह प्राकृत प्रलय है। ब्रह्म-ज्ञान से जो उच्छेद है, उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। वह प्रलय कारण-क्रम से होता है, कारण के नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है। यद्यपि ये सभी सृष्टि, प्रलय आदि स्वप्न की सृष्टि एवं स्वप्न के प्रलय के समान अपारमार्थिक हैं, तो भी वासना की दृढता के कारण व्यवहार में समर्थ हैं, इसलिए मायापरिणाम होने पर भी तुच्छ नहीं हैं, यह बात भाष्यादि में स्पष्ट कही गयी है।

एवं स्थिते जागरणादिव्यवस्थोच्यते। इन्द्रियवृत्तिकालीनोऽर्थोपलम्भो[2]

---

१ सत्यस्य वासनादार्ढ्य' से, यह अर्थ है। अपारमार्थिक पदार्थ दो प्रकार के हैं— तुच्छ और मायिक। शशविषाणादि असत् तुच्छ हैं। सत्-असत् से विलक्षण शुक्तिरजतादि मायिक हैं। तुच्छ से व्यवहारसिद्धि भले ही न हो, पर मायिक से व्यवहार होता ही है। यद्यपि मृगतृष्णाजल से स्नानावगाहनादि व्यवहार नहीं होते, तथापि पिपासा से उसमें प्रवृत्तिरूप व्यवहार तो होता ही है। सब पदार्थों से सब व्यवहार होते हैं, यह कोई नियम नहीं है, इसलिए अपारमार्थिक पदार्थों से भी व्यवहारसिद्धि होती ही है। अतः जाग्रदादि अवस्था-विशेषों की अनुपपत्ति नहीं है।

२ श्रोत्र आदि पाँच बाह्य इन्द्रियाँ एवं उनके वृत्तिरूपी व्यापार का, जो अपने-अपने स्वरूप के उद्घाटनरूप हैं, मन को विषयदेश के प्रति गमन करने के लिए मार्ग-प्रदान करना ही व्यापार है। वह व्यापार उनके स्वरूप के उद्घाटन होने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। जैसे द्वारपाल से द्वार का उद्घाटन करने पर ही उस मार्ग से जनों का सञ्चार होता है, वैसे ही इन्द्रियों के द्वारोद्घाटन करने पर ही मन का विषयदेश में सञ्चार होता है। तादृश इन्द्रियव्यापारकालीन अर्थोपलम्भ (प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि तत्तद्विषयाकार मनोवृत्ति) जाग्रत्-अवस्था है। प्रत्यक्ष में घटाद्याकारमनोवृत्ति इन्द्रिय-व्यापारकालीन और

जागरणम् । तत्र मूर्त्तं विराडाख्यं भोग्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्केन[1] व्यवह्रियमाणत्वाद् व्यावहारिकं विश्वाख्येन जीवेनोपभुज्यते । स च देहेन्द्रियादिषु प्रवेशाद् व्यापकत्वाद्वा विश्व इत्युच्यते । 'विश प्रवेशने, विष्लृ व्याप्ताविति' च स्मरणात् । अत्र[2] यद्यपि विश्वेन अमूर्त्तमव्याकृतं चानुमानादिनाऽनुभूयते, तथापि[3] व्यावहारिकं सर्वं विश्वेनैव ज्ञायत इति नियमात् स्थूल-

---

इन्द्रिय-व्यापार-जन्या भी होती है। अनुमिति आदि में तो अन्याकार-मनोवृत्ति इन्द्रिय-व्यापार-कालीना है ही, इन्द्रिय-व्यापार-जन्या न हो, यह विषय अन्य है। इसीलिए इन्द्रिय-व्यापार-जन्या नहीं कहा, किन्तु इन्द्रिय-व्यापार-कालीना कहा है। अनुमिति आदि में अन्यादि ज्ञान-क्षण में भी इन्द्रियाँ मन को मार्गप्रदान करने के लिए उन्मुख हैं ही। उस क्षण में उस मार्ग से मन नहीं जाता, यह विषय अन्य है। एतावता उस काल में इन्द्रिय-व्यापार नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रियों का स्वरूपोद्घाटन है ही। जैसे जन-सञ्चरण-मार्ग और रेल का मार्ग जहाँ एक होता है, वहाँ जनसञ्चरण-मार्ग के द्वार को बन्द करने के लिए नियुक्त पुरुष रेल के आगमन के समय द्वार बन्द करके रेल के आगमन की प्रतीक्षा करता है। रेल तो क्षणमात्र में निकल जाती है, एतावता पुरुष का व्यापार क्षणमात्र ही है, यह नहीं। वैसे ही अनुमित्यादि स्थल में मन विषयप्रदेश में न जाय, यह विषय अन्य है। इन्द्रियों ने तो द्वारोद्घाटन कर ही दिया है। स्वप्न में इन्द्रियाँ मार्ग-प्रदान के उन्मुख नहीं रहतीं, उस समय मन स्वतन्त्रता से विचरता है।

१ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—ये छः प्रमाण हैं। इनका स्वरूप और उदाहरण 'वेदान्त-परिभाषा' में देखना चाहिये।

२ स्थूल पदार्थों को देखकर उनके कारणरूप अव्याकृत सूक्ष्म-पदार्थ और उनके कारण अव्याकृत-पदार्थ जाग्रत्-अवस्था में विश्वसंज्ञक जीव से अनुमान और शब्दप्रमाण द्वारा जाने जा सकते हैं। वे ही पदार्थ स्वप्नावस्था और सुषुप्ति-अवस्था में विद्यमान हैं, इसलिए उन अवस्थाओं में भी तादृश पदार्थ-साक्षात्कर्तृस्वरूप से विश्व का सम्बन्ध है, वैसे ही जाग्रत्-अवस्था में अधिक कञ्चुक का प्रवेश होने पर भी अन्तर्गत कञ्चुक का त्याग नहीं है, अतः सूक्ष्म उपाधि और अव्याकृत उपाधि भी जाग्रत्-अवस्था में विद्यमान ही हैं। इसलिए जाग्रत्-अवस्था में भी जीव को तैजसत्व और प्राज्ञत्व है ही। अतः तैजस और प्राज्ञ को भी जाग्रत्-अवस्था में व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान भी होता है। इस दशा में विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों में से प्रत्येक की अवस्थात्रयव्यापकता प्राप्त होती है, यह प्रश्नकर्त्ता का आशय है। समाधान करते हैं—'तथापि' इस ग्रन्थ से।

३ स्थूलोपाध्यभिमानिस्वरूप से व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान होता है, यह अर्थ है। इस प्रकार जाग्रत्-अवस्था में जीव को सूक्ष्म उपाधि के होने से यद्यपि तैजसत्व है, परन्तु तैजसस्वरूप से वह प्रमाता नहीं है; वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में अव्याकृत उपाधि के होने से

शरीरोपाध्यभिमानित्वाच्च न तस्यावस्थान्तरव्यापकत्वम् । शुक्तिरजतादिज्ञानानामप्रामाणिकत्वात् तद्विषयस्याव्यावहारिकत्वेऽपीन्द्रियव्यापारकालीनत्वात् जागरणत्वोपपत्तिः । ज्ञानोत्पत्त्यादिप्रक्रिया चाधस्तादुक्तैव ।

ऐसी स्थिति होने पर जागरणादि व्यवस्था कही जाती है । इन्द्रियों की वृत्ति के समय हुए पदार्थ-ज्ञान को जागरण कहते हैं । जागरण में विराट् नामक मूर्त भोग्य का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणषट्क से व्यवहार किया जाता है, इसलिए वह व्यावहारिक है और विश्व नामक जीव से वह भोगा जाता है । देह-इन्द्रियादि में प्रवेश करने से अथवा व्याप्त करने से वह 'विश्व' कहलाता है, क्योंकि 'विश प्रवेशने, विष्लृ व्याप्तौ' यह स्मृति है । यद्यपि विश्व अनुमान आदि से अमूर्त और अव्याकृत का भी अनुभव करता है, तो भी व्यावहारिक सारे जगत् को विश्व ही जानता है, इस नियम से और स्थूल शरीररूप उपाधि का अभिमानी होने से उसे स्वप्न-सुषुप्तिरूप अन्य अवस्थाओं की व्यापकता नहीं है । शुक्ति में रजतज्ञान आदि अप्रामाणिक हैं, इसलिए उस ज्ञान का विषय शुक्ति और रजत यद्यपि अव्यावहारिक हैं, तथापि इन्द्रियों की वृत्ति के समय उत्पन्न होने से उसमें जागरणत्व की उपपत्ति हो जाती है । ज्ञान की उत्पत्ति-प्रक्रिया पहले कह चुके हैं ।

एवं जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वाप्नभोगजनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावाद्

जीव को यद्यपि प्राज्ञत्व है, तथापि वह प्राज्ञत्वरूप से प्रमाता नहीं, किन्तु विश्वरूप से प्रमाता है । इसी प्रकार स्वप्न-अवस्था में भी अव्याकृत उपाधि के होने से यद्यपि जीव को प्राज्ञत्व है, परन्तु प्राज्ञत्वरूप से वह ज्ञाता नहीं, किन्तु तैजसत्वरूप से ही ज्ञाता है । सुषुप्ति-अवस्था में तो सूक्ष्म उपाधि के त्याग से जीव को तैजसत्व है ही नहीं, इसलिए तैजसत्वरूप से ज्ञातृत्व की शङ्का ही नहीं है । सुषुप्ति और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में भी स्थूल उपाधि के त्याग से जीव को विश्वत्व ही नहीं है, इसलिए विश्वत्वरूप से ज्ञातृत्व की शङ्का नहीं है । भाव यह है कि जाग्रत्-अवस्था में जीव को यद्यपि विश्वत्व की तरह तैजसत्व और प्राज्ञत्व है, तथापि उनका अस्तित्वमात्र है, उस रूप से प्रमातृत्व नहीं है, वैसे ही स्वप्न में जीव को तैजसत्व की तरह प्राज्ञत्व भी है, किन्तु उसका अस्तित्वमात्र है, प्राज्ञत्वरूप से ज्ञातृत्व नहीं है । विश्वत्व का तो स्वप्न में अस्तित्वमात्र भी नहीं है, सुषुप्ति-अवस्था में तो प्राज्ञत्व का ही अस्तित्व है और उसी रूप से जीव को सुषुप्ति में प्रमातृत्व है ।

निर्व्यापारतया लीनेषु विश्वोऽपि लीन इत्युच्यते, तदा च स्वप्नावस्था। तत्रान्तःकरणगतवासनानिमित्त इन्द्रियवृत्त्यभावकालीनोऽर्थोपलम्भः स्वप्नः।

इस प्रकार जाग्रदवस्था में भोग उत्पन्न करानेवाले कर्मों[1] का क्षय होने पर स्वप्नावस्था में भोग करानेवाले कर्मों का उदय होने पर निद्रा-नामक तामसी वृत्ति से स्थूल देहाभिमान दूर होने पर तत्-तत् इन्द्रियों के देवताओं[2] का अनुग्रह न होने से इन्द्रियों के निर्व्यापार होकर लीन हो जाने पर विश्व भी लीन हो जाता है—यह कहा जाता है; तब स्वप्नावस्था होती है। अन्तःकरणगत वासनाएँ ही जिसकी निमित्त हैं और इन्द्रियों की वृत्ति के अभावकाल में होनेवाला जो विषयों का ज्ञान है, उसे स्वप्न कहते हैं।

तत्र[3] मन एव गजतुरगाद्याकारेण विवर्तते अविद्यावृत्त्या च ज्ञायत इति केचित्। अविद्यैव शुक्तिरजतादिवत् स्वप्नाद्यर्थाकारेण परिणमते ज्ञायते

---

१ कर्मपद कर्मजन्य अदृष्टपरक है, क्योंकि कर्म अदृष्ट को उत्पन्न करके उसके द्वारा इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में भोग देता है। अदृष्ट का भी स्वप्नकाल में सर्वथा क्षय नहीं होता, क्योंकि स्वप्न के अनन्तर फिर जाग्रत् होने पर भोग देखा जाता है, किन्तु पहरेदार की तरह कुछ समय तक अपने व्यापार से विराम होता है। इसीको 'अदृष्टक्षय' कहते हैं।

२ आदित्य आदि देवता जीवों के सुख-दुःख के भोग के लिए शरीरस्थ इन्द्रियों को सहायता देते हैं। स्वप्न-अवस्था में स्थूल देह का अभिमान नष्ट हो जाने से देवता इन्द्रियों को सहायता नहीं देते। इस अवस्था में इन्द्रियाँ तो रहती हैं, पर केवल रथ से वियुक्त किये हुए अश्वों की तरह निर्व्यापार होती हैं। इसलिए 'लीन' कही जाती हैं। जीव भी उस अवस्था में स्थूलदेहपर्यन्त प्रवेश और व्याप्ति के अभाव से 'विश्व' संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। इस अभिप्राय से स्वप्न में विश्व लीन हो जाता है, यह कहा जाता है। स्वाप्न-पदार्थों के स्वरूप का मतभेद से निरूपण करते हैं।

३ जाग्रत्-अवस्था में व्यावहारिक घटज्ञान-काल में मन घटाकार-सदृश आकार को ग्रहण करता है। 'इदं रजतम्' इस प्रातिभासिक रजत-ज्ञान-काल में तो अविद्या ही रजताकार के सदृश आकार को ग्रहण करती है, मन नहीं। उसी तरह स्वाप्न पदार्थाकार-सदृश आकार को अविद्या ही ग्रहण करती है, मन नहीं। इस अर्थ में तो विवाद नहीं है। किन्तु वे स्वाप्न पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न हुए? इस विषय में दो मत हैं—'अविद्या के सहकार से केवल मन ही ने स्वाप्न पदार्थों की कल्पना की है, स्वाप्न पदार्थ किसीके परिणाम नहीं हैं' यह एक पक्ष है। 'जागर्ति में जैसे शुक्तिरजत-स्थल में शुक्ति को अधिष्ठान करके अविद्या रजताकार से परिणत होती है, वैसे ही स्वप्न में चैतन्य को अधिष्ठान करके अविद्या ही गजादि विषयाकार से परिणत होती है' यह द्वितीय पक्ष है।

चाविद्यावृत्त्येत्यन्ये । कः पक्षः श्रेयान् ? उत्तरः । अविद्याया[1] एव सर्वत्राप्यर्थाध्यासज्ञानाध्यासोपादानत्वेन कल्पितत्वात् । मनोगतवासनानिमित्तत्वेन क्वचिन्मनःपरिणामत्वव्यपदेशात् ।

स्वप्न में मन ही गज, तुरग आदि के आकार में परिणत होता और अविद्या की वृत्ति से जाना जाता है, ऐसा कोई लोग कहते हैं। दूसरे कहते हैं, अविद्या ही शुक्ति-रजतादि के समान स्वप्न के पदार्थों के आकार में परिणत होती है। अविद्या की वृत्ति से ही वह अर्थ ज्ञात होता है। इन दोनों पक्षों में कौन पक्ष श्रेष्ठ है ? उत्तर—पदार्थाध्यास एवं ज्ञानाध्यास के उपादानरूप से सर्वत्र अविद्या ही क्लृप्त है। कहींपर मनोगत वासना

भाव यह है कि (१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक, (३) प्रातिभासिक, (४) बौद्ध — इस प्रकार पदार्थ चार प्रकार के हैं। उनमें से प्रथम परमात्मा है। वह न किसीका विवर्त है, न किसीका परिणाम। इसीलिए सत्य है, अन्य तीन अनृत हैं। द्वितीय भूतभौतिक प्रपञ्च है, यह आत्मा का विवर्त और मूलाविद्या का परिणाम है। तृतीय रज्जु-सर्प आदि हैं, ये रज्ज्वादि के विवर्त अथवा रज्ज्वादि के अन्तर्गत चेतन के विवर्त और तूलाविद्या के परिणाम हैं। चतुर्थ शशशृङ्ग आदि हैं। ये मन के विवर्त अथवा मन के अन्तर्गत चेतन के विवर्त हैं, किसीके भी परिणाम नहीं। प्रकृत में स्वाप्न गजादि पदार्थ उक्त चतुष्टय के मध्य चतुर्थ हैं —यह प्रथम पक्ष है। द्वितीय पक्ष में तो उक्त चतुष्टय के मध्य तृतीय हैं। यही पक्ष युक्त है, क्योंकि अद्वैत वेदान्तियों के दर्शन में जो-जो परिणाम होता है, वह किसीका विवर्त भी हुआ ही करता है। इस प्रकार परिणाम विवर्त का व्याप्य है। वैसे ही जो-जो विवंत होता है, वह मूलाविद्या अथवा तूलाविद्या का परिणाम होता है, इस प्रकार विवर्त परिणाम का व्याप्य है—यह नियम है, क्योंकि परिणामत्व और विवर्तत्व दोनों धर्म समनियत हैं। इसलिए स्वाप्न गजादि पदार्थ किसीके परिणाम नहीं, यह मत युक्त नहीं है।

१ शुक्ति में मिथ्याभूत रजत का अध्यास 'अर्थाध्यास' है। यह रजत शुक्ति में अधिष्ठित है और अविद्या का परिणाम है। इसलिए रजत व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि रजत वहाँ है ही नहीं। अर्थ (रजतादि) के अध्यास (आरोप) को 'अर्थाध्यास' कहते हैं। वहींपर मिथ्याभूत रजत-ज्ञान का अन्तःकरण में अध्यास 'ज्ञानाध्यास' कहा जाता है। यह ज्ञान अविद्या का परिणाम है और अन्तःकरण इसका अधिष्ठान है। यह ज्ञान व्यावहारिक अन्तःकरण का परिणामरूप नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक रजत वहाँ है ही नहीं। इसलिए रजताकारसदृश आकारवाली व्यावहारिक मनोवृत्ति का वहाँ असम्भव है। ज्ञान (विषयाकार-सदृशाकाररूप वृत्ति) का अध्यास (आरोप) 'ज्ञानाध्यास' कहा जाता है। इस प्रकार अध्यासमात्र के प्रति अविद्या उपादान कारण सिद्ध होती है। इसलिए स्वप्न में भी ज्ञानाध्यास की तरह अर्थाध्यास भी अविद्या का ही परिणाम है, यह सिद्ध होता है।

स्वाप्न पदार्थों की निमित्त है। इसलिए स्वाप्न पदार्थों को कहींपर मन का परिणाम कहा गया है।

ननु[1] मनसस्तदा दृश्याकारपरिणामानभ्युपगमे द्रष्टृत्वसम्भवेन आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वासिद्धिरिति चेत्, न; बहिरिन्द्रियवृत्त्यभावेन[2] तदानीं मनसोऽग्राहकत्वात्। तत्सहकारेणैव तस्य ग्राहकत्वनियमात्। सवृत्तिकान्तःकरणावच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य प्रमातृत्वनियमात् तदाऽन्तःकरणसत्त्वेऽपि प्रमात्रभावः[3]।

---

१ भाव यह है कि जाग्रत्-अवस्था में घटादि-ज्ञानकाल में मन की सहायता से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इसलिए जाग्रत्-अवस्था में आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्व से प्रकाशमान होना ही स्वयंज्योतिष्ट्व है। शुक्ति-रजतादि-ज्ञान में भी स्वयंज्योतिष्ट्व की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि स्वप्न-अवस्था में यद्यपि मनोवृत्ति का अभाव है, तथापि अविद्या-वृत्ति का वहाँ अङ्गीकार है। वह अविद्या की वृत्ति मन के संस्कारों की सहायता से अथवा इदमाकार मनोवृत्ति की सहायता से उत्पन्न होती है। इसलिए भ्रमस्थल में भी मन में ज्ञान की करणता है। स्वप्नावस्था में तो 'अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।६) इस श्रुति से स्वप्नकाल में आत्मा स्वयंज्योति कहा गया है। स्वप्न में मन ही गज, तुरग आदि के आकार में परिणत होता है। अतः मन का दृश्यकोटि में प्रवेश होने से दृश्यत्वरूप से ही उपयोग है, दृशिकरणतारूप से उपयोग नहीं। इसलिए आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व सिद्ध होता है। इसीलिए स्वप्न के गज, अश्व आदि विषय साक्षिभास्य कहे जाते हैं। परन्तु अविद्या ही शुक्ति-रजतादिरूप में और स्वाप्न गजादिरूप में परिणत होती है, इस द्वितीय मत में मन का दृश्यकोटि में प्रवेश नहीं है, इसलिए शुक्ति-रजतादि-ज्ञान की तरह स्वप्न-अवस्था में भी मन का उपयोग मानना होगा। अतः इस मत में स्वप्न-अवस्था में आत्मा स्वयंज्योति सिद्ध नहीं होता।

२ वृत्ति के अभाव से उस समय मन में प्रमातृत्व का सम्भव नहीं है, इसलिए स्वाप्न प्रपञ्च प्रमातृत्वभास्य नहीं, किन्तु अविद्यावृत्ति के सहकार से साक्षिभास्य है। 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थल में रजतांश भी अविद्यावृत्ति के सहकार से साक्षिभास्य ही है। इदमंश में मनोवृत्ति की अपेक्षा है, अतः इदमंश प्रमातृभास्य है।

३ प्रमातृत्व का अर्थ है—ग्राहकत्व। अन्तःकरणावच्छिन्न जीव अथवा अन्तःकरण-रूपोपाधिसहित चैतन्य उस समय ग्राहक नहीं है, किन्तु अन्तःकरण के सन्निहित केवल चिन्मात्र साक्षी ही ग्राहक है। भाव यह है कि इस प्रकार स्वाप्न पदार्थों का परिणामी उपादान कारण अविद्या ही है, यह निश्चय करके अब उनके विवर्तोपादान-कारण का प्रश्न-पूर्वक निरूपण करते हैं।

शङ्का—यदि मन स्वप्न में दृश्य पदार्थों के आकार में परिणत नहीं होता, ऐसा स्वीकार करो, तो स्वप्न में मन के द्रष्टा होने से आत्मा में स्वयंज्योतिष्ट्व की असिद्धि हो जायगी।

समाधान—यह बात नहीं है। बाह्य-इन्द्रियों की वृत्तियों के अभाव से मन की ग्राहकता (द्रष्टृता) नहीं हो सकती, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों की सहायता से ही मन ग्राहक होता है, ऐसा नियम है। वृत्तिसहित अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता होता है, यह भी नियम है। अतएव यद्यपि स्वप्नावस्था में अन्तःकरण विद्यमान है, तथापि वृत्ति के अभाव से उसमें प्रमातृत्व का अभाव है।

किमधिष्ठानं[1] स्वप्नाध्यासस्य। मनोऽवच्छिन्नं जीवचैतन्यमित्येके। मूलाज्ञानावच्छिन्नं[2] ब्रह्मचैतन्यमित्यपरे। किं श्रेयः? मतभेदेनोभयमपि। तथा हि—जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमनिवृत्त्यभ्युपगमादधिष्ठानज्ञानादेव च भ्रमनिवृत्तेर्ब्रह्मचैतन्यस्य चाधिष्ठानत्वे संसारदशायां तज्ज्ञानाभावाद् ज्ञाने वा सर्वद्वैतनिवृत्तेर्न जाग्रद्बोधात्स्वप्ननिवृत्तिः स्यात्। 'स हि कर्त्ता' (बृ० ४।३।१०)

---

१ मन में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीवचैतन्य है, वही स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान है। जैसे जाग्रत्-अवस्था में जीव, शुक्तिरूप अधिष्ठान में अविद्या के परिणामभूत रजत की कल्पना करता है, वैसे ही स्वप्न में जीव स्व (जीव) में ही अविद्या-परिणामभूत स्वाप्न पदार्थों की कल्पना करता है। जिस जीव ने जिन पदार्थों की कल्पना की है, उसीको उन पदार्थों का ज्ञान होता है; अन्य जीवों को उनका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अन्य जीवों ने उनकी कल्पना नहीं की है। इसलिए स्वाप्न पदार्थ सर्वजीवसाधारण नहीं होते,। जैसे शुक्ति में रजत भ्रान्त पुरुष ही को दीखता है, अन्य पुरुषों को नहीं दीखता, इसलिए शुक्ति में रजतज्ञान असाधारण है, वैसे ही स्वाप्न पदार्थ भी असाधारण ही होते हैं।

२ यद्यपि शुद्ध ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान नहीं हो सकता, तथापि अनादि अध्यासरूप मूलाज्ञान से अवच्छिन्न होकर अशुद्ध की तरह होता हुआ स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान हो सकता है। अब द्वितीय पक्ष में दूषण का उद्भावन करके प्रथम पक्ष का उपपादन करते हैं—'तथाहि' इत्यादि 'न कोपि दोषः' एतत्पर्यन्त ग्रन्थ से।

जाग्रत्-अवस्था में जायमान ज्ञान से स्वाप्न पदार्थाध्यास निवृत्त होता है—यह सब पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है। अध्यास की निवृत्ति अधिष्ठान के विशेषरूप से जायमान यथार्थ ज्ञान से हुआ करती है। जैसे रजताध्यास के अधिष्ठानभूत शुक्ति के शुक्तित्वविशेषरूप से यथार्थ ज्ञान होने पर रजताध्यास की निवृत्ति होती है। ऐसी दशा में मूलाज्ञानावच्छिन्न

इति जीवकर्तृत्वश्रुतेराकाशादिप्रपञ्चवत्सर्वसाधारणत्वापत्तेश्च[1] न मूलाज्ञानावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमधिष्ठानम्।

ब्रह्मचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानोगे, तो जाग्रत्-अवस्था में उस ब्रह्मरूप अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान अवश्य मानना चाहिये। वह यथार्थ ज्ञान जबतक संसार है, तबतक बद्ध जीव को हो नहीं सकता, इसलिए जीव को प्रतिदिन जो स्वप्नभ्रम की निवृत्ति का अनुभव होता है, वह अनुपपन्न होगा। यदि स्वप्नभ्रम की निवृत्ति ही से जाग्रत् अवस्था में ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान की सत्ता स्वीकार करो, तो सकल द्वैत की निवृत्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि जाग्रत्-अवस्था में अनुभूयमान समस्त ही द्वैत अध्यासमूलक है। उस अनुभूयमान द्वैत की उपपत्ति के लिए जाग्रत्-अवस्था में मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं होता—यह स्वीकार करना चाहिये। इसलिए जाग्रदवस्था में व्यावहारिक प्रपञ्च-भ्रम की अनिवृत्ति की तरह स्वप्नभ्रम की भी अनिवृत्ति का प्रसङ्ग है, अतः मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है—यह अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। उस अधिष्ठान जीव का जाग्रत्-अवस्था के प्रारम्भ क्षण में ही 'अहमस्मि' (मैं हूँ) इत्याकारक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। उससे स्वप्नभ्रम की निवृत्ति होती है। 'स हि कर्त्ता' इस श्रुति में भी 'स' शब्द से प्रकरणस्थ जीव का ग्रहण है। स्वप्न में जाग्रत् के सदृश रथ, अश्व आदि नहीं होते, तथापि वासनामय उन पदार्थों को जीव उस काल में भी उत्पन्न करता है, क्योंकि जीव उनका कर्त्ता है, यह उस श्रुति का अर्थ है।

शङ्का—इस श्रुति से जीव में कर्तृत्वमात्र प्रतीत होता है, अधिष्ठानत्व प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठान होने पर भी इस श्रुति का विरोध नहीं है।

उत्तर—मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठान होने पर उसके अज्ञानी जीव में कर्तृत्व का सम्भव नहीं, क्योंकि मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ही ईश्वर है। यद्यपि अनुमान और शब्द से ईश्वर का ज्ञान जीव को हो सकता है, तथापि वह परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं। साथ ही भ्रम-प्रत्यक्ष में अधिष्ठान के प्रत्यक्ष की अपेक्षा है। ऐसी दशा में मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ईश्वर ही यदि स्वप्न का अधिष्ठान हो, तो स्वप्न-पदार्थकर्तृत्व ईश्वर में ही मानना होगा, इसलिए जीवकर्तृत्व-प्रतिपादक श्रुति का विरोध है। जीव को अधिष्ठान मानने पर तो स्व को स्व प्रत्यक्ष है ही, इसलिए जीव के कर्तृत्व की उपपत्ति होती है। जैसे शुक्ति-रजत-भ्रम-काल में शुक्ति का सामान्यरूप (इदंत्व अथवा चाकचिक्य) से ज्ञान होता है, भ्रमनिवृत्तिकाल में तो विशेषरूप शुक्तित्व से शुक्ति का ज्ञान होता है, वैसे ही जीव को स्वप्न-अवस्था में स्व का सामान्य ज्ञान होता है, जाग्रत्काल में तो विशेषरूप (मनोवच्छिन्नत्व) से ज्ञान होता है।

१ जैसे आकाशादि-प्रपञ्च ईश्वराधिष्ठानक और ईश्वरकर्तृक हैं, इसलिए वह एक ही सकलजीवसाधारणक है। अतः 'जो ही घट देवदत्त ने देखा वही मैंने भी' यह प्रत्यभिज्ञा

स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान कौन है? कोई कहते हैं—अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान है। दूसरे लोग कहते हैं – मूलाज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य स्वप्न का अधिष्ठान है। इनमें कौन पक्ष श्रेष्ठ है? मतभेद से दोनों ही श्रेष्ठ हैं। जाग्रत्-ज्ञान से स्वप्न के भ्रम की निवृत्ति का अङ्गीकार है। अधिष्ठान ज्ञात होने पर ही भ्रम की निवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में यदि ब्रह्म-चैतन्य को ही अधिष्ठान मानो, तो संसार-दशा में उसके ज्ञान का अभाव होने से जाग्रत्काल में स्वप्न की निवृत्ति न होगी। यदि कहो कि ब्रह्मचैतन्य का ज्ञान हो जाता है, तो सारे द्वैतप्रपञ्च की निवृत्ति हो जायगी। जाग्रत्-ज्ञान से स्वप्न की निवृत्ति नहीं हो सकेगी, 'स हि कर्त्ता०' इस जीवकर्तृत्व-प्रतिपादक श्रुति से मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य ही स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान है और ब्रह्म को स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान मानने पर आकाश आदि प्रपञ्च के समान स्वप्नादि पदार्थ भी सर्वसाधारण हो जायँगे। इसलिए मूलाज्ञाना-वच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य स्वप्न के पदार्थों का अधिष्ठान नहीं है।

ननु जीवचैतन्यस्यानावृतत्वेन सर्वदा भासमानत्वात् कथमधिष्ठान-त्वम्? सत्यम्; तत्रापि स्वप्नाध्यासानुकूलव्यावहारिकसंघातभानविरोध्यवस्था-ज्ञानाभ्युपगमात्। स्वप्नदशायां चाहं मनुष्य इत्यादिप्रातीतिकसंघातान्तर-भानाभ्युपगमात्। शय्यायां स्वपिमि इति शय्यान्तरभानवत्। भानसामग्र्य-भावश्च तुल्य एव।

शङ्का[1]—अनावृत होने से जीवचैतन्य सर्वदा भासमान है, अतः वह अधिष्ठान कैसे हो सकता है?

भी सङ्गत होती है। वैसे ही स्वाप्न पदार्थ यदि ईश्वराधिष्ठानक और ईश्वरकर्तृक हों, तो वे भी सकलजीवसाधारण होंगे, परन्तु प्रत्यभिज्ञा वैसी नहीं होती, प्रत्युत जो गज स्वप्न में तूने देखा है, मैंने वह नहीं देखा, किन्तु अन्य ही देखा है—ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए प्रतीति के अनुरोध से स्वप्न के पदार्थ जीवाधिष्ठानक और जीवकर्तृक हैं, ऐसा अङ्गीकार करना चाहिये।

१ अध्यासस्थल में अधिष्ठान का किसी अंश से प्रकाश और किसी अंश से अप्रकाश इन दोनों की अपेक्षा होती है। भ्रान्ति-समय में जिस अंश से अधिष्ठान का अप्रकाश उपयोगी है, उसी अंश से अधिष्ठान का प्रकाश भ्रान्ति की निवृत्ति के समय उपयोगी है। वहाँ मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठान होने पर मूलाज्ञान द्वारा आवरण होने से उसका अंश से अप्रकाश तो हो सकता है, परन्तु जाग्रत्-अवस्था में उस अंश से प्रकाश

समाधान—ठीक है। वहाँ[१] पर भी स्वप्न-अध्यास के अनुकूल व्यावहारिक देह के ज्ञान के विरोधी अज्ञान के अवस्थाऽज्ञान का स्वीकार है। 'मैं शय्या पर सो

नहीं हो सकता, क्योंकि मूलाज्ञान मोक्षपर्यन्त बना रहता है। मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य के अधिष्ठान होने पर तो इसके विपरीत है। वहाँ अधिष्ठान का प्रकाश तो हो सकता है, परन्तु अप्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं ही स्व से अप्रकाशित नहीं हुआ करता, कारण वह स्व-दृष्टि से आवृत नहीं है, यह आशय है।

१ अवस्था-अज्ञान अज्ञान का अवस्थाविशेष है और वह अवस्था-अज्ञान स्वप्न में गज, रथ आदि के अध्यास का जनक है। किञ्च, व्यावहारिक देहेन्द्रिय-संघात का भान—'मैं मनुष्य हूँ, मैं चक्षुष्मान् हूँ, ये मेरे स्त्री-पुत्र आदि हैं, यह घट है' आदि सर्वविध प्रतीति—उसका विरोधी है। ऐसा अवस्था-अज्ञान जाग्रदवस्था के अज्ञान से भिन्न है, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा जाग्रत् और स्वप्न में जो विशेष प्रतीत होता है, वह उपपन्न नहीं हो सकता; क्योंकि जाग्रत्काल में जैसे जगत् और जीव प्रसिद्ध हैं, वैसे स्वप्नकाल में उपलब्ध नहीं होते। जाग्रत्-अवस्था में उपलभ्यमान जगत् का किसी भी अवस्था में बाध नहीं होता। स्वप्न और सुषुप्ति में यद्यपि जाग्रत् के जगत् की उपलब्धि नहीं होती, तथापि जाग्रत् में उपलभ्यमान जगत् मिथ्या है, यह अनुसन्धान स्वप्न में नहीं होता और न सुषुप्ति में बाधित ही होता है। स्वप्नावस्था में उपलभ्यमान जगत् का तो जाग्रत्-अवस्था में बाध होता है। वह बाध भी केवल अप्रतीतिरूप नहीं, किन्तु 'स्वप्न में उपलभ्यमान जगत् मिथ्या है' इस प्रकार जाग्रत् में अनुसन्धान भी होता है। इस प्रकार जीवात्मा को अपने स्वरूप की उपलब्धि जाग्रत् और स्वप्न में समान नहीं होती, क्योंकि जीवात्मा का स्वरूप अन्तःकरणरूपी उपाधि से युक्त है।

वह अन्तःकरण तीन प्रकार से उपाधि होता है—सवासन सवृत्तिक अन्तःकरण जाग्रत्-अवस्था में उपाधि है। वृत्तिरहित सवासन अन्तःकरण स्वप्न में उपाधि है। सुषुप्ति में तो वृत्ति-सहित अथवा वृत्तिरहित अन्तःकरण स्वरूप से उपाधि नहीं है, किन्तु वासनामात्ररूप से अवतिष्ठमान अन्तःकरण उपाधि है। इस दशा में तत्तदवस्थावाले अन्तःकरणरूप उपाधि के अनुसार अवस्थात्रयविशिष्ट स्व-स्वरूप का जीव अनुभव करता है। जाग्रत्-अवस्था में 'मैं जाग्रत हूँ' इस प्रकार जाग्रत्-अवस्था के वैशिष्ट्य से अपने स्वरूप का अनुभव करता है। और अवस्थान्तर में अनुभूत अपने स्वरूप का स्मरण भी करता है, सुषुप्तिकाल में 'मैं अज्ञानी था', स्वप्न-अवस्था में 'मैं ऐसा था' आदि। स्वप्न में तो ऐसा नहीं 'मैं स्वप्न-अवस्था में हूँ' इस प्रकार स्वप्न-अवस्था के वैशिष्ट्य से अपने स्वरूप का अनुभव नहीं होता और अवस्थान्तर्गत अपने स्वरूप का 'मैं ऐसा था' इस प्रकार स्वप्न में अनुसन्धान भी नहीं होता। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न में जगत् की उपलब्धि और जीव की उपलब्धि समान नहीं होती। इस विषमता का कारण जाग्रत्-अवस्था के अज्ञान से भिन्न अवस्था-अज्ञान स्वप्न-अवस्था में सिद्ध होता है। उस अवस्था-अज्ञान से जाग्रत्-अवस्था में प्रतीयमान 'मैं मनुष्य हूँ' यह स्वरूप स्वप्न-अवस्था

रहा हूँ' इत्यादि स्वरूप स्वप्न दूसरी शय्या के भान के समान स्वप्न-दशा[२] में 'अहं मनुष्यः' इत्यादि जो ज्ञान है, वह प्रातिभासिक और देहान्तर का ज्ञान है ऐसा स्वीकार किया गया है। व्यावहारिक विषयों के यथार्थज्ञान के कारण इन्द्रियरूप[१] सामग्री का अभाव तुल्य ही है।

नन्वहं मनुष्य इत्यादिव्यावहारिकसंघातज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वात् कथमज्ञाननिवर्तकता? अवस्थान्तरान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पने सुषुप्तावपि स्वप्न-बाधकज्ञानमास्थीयेत। तच्चानिष्टम्, जाग्रत्त्वापत्तेरिति चेत्;

में आवृत हो जाता है। यही स्वप्न में जीव-स्वरूप का अंश से अप्रकाश है, इसलिए स्वाप्न प्रपञ्च का अधिष्ठान जीव ही सिद्ध होता है।

१ शङ्का—इस प्रकार स्वप्न-अवस्था में भी जाग्रत्-अवस्था की तरह जीव को 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार जो उपलब्धि होती है, वह नहीं हो सकती।

उत्तर—जाग्रत्-अवस्था में जो मनुष्य-देह प्रतीत होती है, स्वप्न की उपलब्धि तादृश देहमूलक नहीं है। किन्तु जैसे अवस्था-अज्ञान से कल्पित गज, अश्व आदि पदार्थ स्वप्न में अन्य ही प्रतीत होते हैं और स्वप्न की शय्या जाग्रदवस्था की शय्या से भिन्न ही अवस्था-अज्ञान से कल्पित होती है, वैसे ही स्वप्न-अवस्था की देह भी पाञ्चभौतिक व्यावहारिक देह से अन्य ही अवस्था-अज्ञान से कल्पित होती है। स्वप्न की 'अहं मनुष्यः' यह उपलब्धि उसी स्वाप्न देहमूलक है।

शङ्का—जैसे जाग्रत्-अवस्था में शुक्ति-रजतस्थल में तूलाविद्या के परिणाम प्रातिभासिक रजत का अङ्गीकार है, वैसे रक्तस्फटिक-प्रतीतिस्थल में स्फटिक में रहनेवाली रक्तिमा तूलाविद्या का परिणाम है, यह अङ्गीकार नहीं किया जाता। किन्तु सन्निहित जपाकुसुमगत रक्तिमा केवल तूलाविद्या से स्फटिकसम्बद्धत्वेन प्रतीत होती है, ऐसा अङ्गीकार किया जाता है; क्योंकि सन्निहित व्यावहारिक रक्तिमा से ही प्रतीति की उपपत्ति होने पर रक्तिमान्तर की कल्पना गौरवग्रस्त है। इसीलिए 'वेदान्त-परिभाषा' में कहा है कि जहाँ आरोप्य असन्निकृष्ट हो, वहीं-पर प्रतिभासिक वस्तु की उत्पत्ति का अङ्गीकार है। वैसे ही स्वप्न में मन्दिर के अन्दर सोये हुए पुरुष के समीप गज, अश्व आदि न हों, वहाँपर अवस्था-ज्ञान से कल्पित गज, अश्व आदि का स्वीकार हो और जहाँ पर शय्या भी समीपवर्त्तिनी शय्या से अन्यादृशी प्रतीत होती हो, वहाँ वह शय्या अवस्था-अज्ञान से कल्पित है, यह स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु जहाँ पर शय्या अथवा देह सन्निकृष्ट स्वरूप की अपेक्षा अन्यादृश प्रतीत नहीं होते, वहाँ शय्यान्तर और देहान्तर की कल्पना गौरवग्रस्त है। इसपर उत्तर देते हैं—'भानसामग्री' इत्यादि से।

१ रक्त स्फटिक की प्रतीति जाग्रत्काल में होती है। उस समय इन्द्रियाँ सव्यापार हैं और मन सवृत्तिक। इसलिए जपाकुसुमगत रक्तिमा की स्फटिक में प्रतीति हो सकती

शङ्का[२]—'अहं मनुष्यः' इत्यादि व्यावहारिक संघात-ज्ञान किसी प्रमाण से नहीं होता, अतः उसमें अज्ञान को हटाने की सामर्थ्य कैसे ? दूसरी अवस्था[१] की अन्यथानुपपत्ति से 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान में अज्ञान-निवर्तकता अङ्गीकार करो, तो सुषुप्ति में भी स्वप्न के बाधक ज्ञान का अङ्गीकार करना होगा। ऐसा मानना इष्ट नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में भी जागरणत्वापत्ति हो जायगी।

है। किन्तु स्वप्न में तो मन वृत्तिरहित है और इन्द्रियाँ लीन हो चुकी हैं। इसलिए ज्ञान की सामग्री के अभाव से सन्निकृष्ट देहादि की प्रतीति नहीं हो सकती, यह भाव है।

२ क्योंकि प्रमाणजन्य अधिष्ठान-ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। जैसे समीपवर्त्ती पदार्थ के 'इयं शुक्तिः' इस प्रमाणजन्य शुक्तिज्ञान से शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति होती है, वैसे ही यहाँ स्वप्नावस्थागत अवस्था-अज्ञान का निवर्तक अधिष्ठानभूत मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य का प्रमाणजन्य ज्ञान ही होगा और वह 'अहं मनुष्यः' इत्याकारक व्यावहारिक देहेन्द्रियादि संघातज्ञान है, यह कहना होगा। परन्तु 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान प्रमाणजन्य नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण का विषयपर्यन्त दण्डायमान जो भाग है, तदवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण है, यह पूर्व में कहा गया है। 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान में तो अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य स्वयं ही स्व का विषय है। इसलिए 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान में अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा नहीं है, किन्तु अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य साक्षिभास्य ही है। ऐसी दशा में प्रमाण से अजन्य 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान स्वप्न के अवस्था-अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता, यह शङ्का करनेवाले का आशय है। शङ्का करनेवाला ही अपनी बुद्धि से सिद्धान्ती के किसी आशय की कल्पना करके उसका अनुवाद करके 'अवस्थान्तर' इस वाक्य से दूषण देता है।

१ शङ्का करनेवाले से कल्पित सिद्धान्ती का यह आशय है—स्वप्नावस्था का परित्याग करके ही जाग्रदवस्था की प्राप्ति होती है, ऐसा सर्वप्राणियों का अनुभव है। ऐसी दशा में 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्याय के अनुसार अवस्थान्तर की प्राप्ति में यत्न करना चाहिये। उक्त यत्न 'ज्ञान प्रमाणजन्य होता हुआ भी स्वाप्न अज्ञान का निवर्तक है' इत्यादि कल्पनारूप है। परन्तु यदि ऐसी कल्पना की जाय, तो तुल्यन्याय से स्वप्न-अवस्था-परित्यागपूर्वक सुषुप्ति-अवस्था की प्रतिपत्ति के समय भी स्वाप्न अज्ञान की निवृत्ति के लिए उक्त ज्ञान का स्वीकार करना चाहिये। यदि स्वीकार करो, तो जाग्रत्-अवस्था और सुषुप्ति-अवस्था में कोई विशेष नहीं रह जाता। ऐसी दशा में स्वप्नाध्यास का जीवचैतन्य अधिष्ठान है, यह पक्ष दुर्घट ही है। अब सिद्धान्ती अपने आशय की कल्पना करनेवाले शङ्कक की पहले प्रशंसा करता है।

साध्ववोचः। स्वप्नावस्थाज्ञानस्यैवान्तःकरणलयसहितस्य सुषुप्तिरूपत्वान्न तत्र तद्बाधः। जागरणे तु मिथ्यैव स्वप्नोऽभादित्यनुभवादहमिति ज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वेऽपि यथार्थत्वाच्छरीरादिज्ञानस्य च प्रमाणजन्यत्वादवस्थाज्ञानविरोधित्वमनुभवसिद्धम्। विशेषाज्ञानं तु न प्रमाणजन्यवृत्तिमन्तरेण निवर्तते। साक्षिणश्चाविद्यानिवर्तकत्वाभावोऽविद्यासाधकत्वेनैव धर्मिग्राहकमानसिद्ध इति न किञ्चिदवद्यम्।

समाधान ठीक कहते हो[1]। अन्तःकरण के लय से युक्त स्वप्नावस्था का जनक अज्ञान ही सुषुप्तिरूप है, इसलिए सुषुप्ति में स्वप्नावस्था का बाध नहीं हुआ। जागरण में तो 'मिथ्या ही स्वप्न प्रतीत हुआ' इस ज्ञान से 'अहं मनुष्यः' इत्याकारक ज्ञान यद्यपि प्रमाण से जन्य नहीं है, तथापि 'अहं मनुष्यः' इत्याकारक ज्ञान यथार्थ[2]

१ स्वप्नावस्था से अवस्थान्तर (जाग्रत्रूप) की प्राप्ति जो प्रसिद्ध है, उसकी उपपत्ति के लिए प्रमाणाजन्य भी ज्ञान स्वाप्न अज्ञान का निवर्तक है—शङ्का करनेवाले की इस प्रकार की कल्पना समीचीन है, यह प्रशंसा का बीज है। किन्तु उसका यह जो उत्तर कहा गया है कि सुषुप्ति में भी ऐसे ज्ञान का स्वीकार करना पड़ेगा, वह वस्तुस्थिति के अज्ञानमूलक है, क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी है कि जब जीव स्वप्न-अवस्था से सुषुप्ति-अवस्था को प्राप्त होता है, तब स्वाप्न अज्ञान निवृत्त नहीं होता। ऐसा यदि कहें, तो स्वप्न और सुषुप्ति में विशेष क्या रहेगा? उत्तर देते हैं—स्वप्न-अवस्था, जाग्रत्-अवस्था और सुषुप्ति-अवस्था की मध्यगत सन्धि-अवस्था है। जैसे दिन और रात्रि की सन्धि में सामान्य अन्धकार देखा जाता है। प्रातः और सायङ्काल के भेद से सन्धिकाल दो प्रकार का होता है। वहाँपर प्रातःकाल का सामान्य अन्धकार तो निवृत्त हो जाता है और सायंकालिक सामान्यान्धकार निवृत्त नहीं होता, प्रत्युत गाढ़ हो जाता है। वैसे ही जाग्रदवस्था और सुषुप्ति-अवस्था इन दोनों की सन्धि में स्वाप्निकावस्था-अज्ञान है और वह भोगप्रद कर्म के अनुसार कभी निवृत्त होता है तो कभी दृढ हो जाता है। जब निवृत्त होता है, तब जाग्रत्-अवस्था होती है और जब दृढ होता है, तब सुषुप्ति-अवस्था होती है। वैसे ही जैसे दिन में आम्रत्वादि विशेषरूप से वृक्ष की प्रतीति होती है, जब सामान्य अन्धकार से उस विशेषरूप का आवरण हो जाता है, तब 'वृक्ष है' ऐसी प्रतीति होती है, गाढ अन्धकार में तो वृक्ष का स्वरूप भी आवृत हो जाता है; वैसे ही स्वाप्निक अज्ञान से अन्तःकरण की वृत्तियों की तिरोभाव (कार्यरूप को त्यागकर कारणरूप से स्थिति) हो जाता है। गाढ अज्ञान में तो अन्तःकरण के स्वरूप का भी तिरोभाव हो जाता है। सुषुप्ति-अवस्था में तो वासनामात्ररूप से ही अन्तःकरण जीव की उपाधि है, यह भाव है।

२ अहमंशविषयक ज्ञानकाल में अन्तःकरण दण्डायमान नहीं होता, इसलिए अहमंशविषयक ज्ञान प्रमाणाजन्य है, क्योंकि दण्डायमान अन्तःकरणभागावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण

तो है और शरीरादि-ज्ञान प्रमाणजन्य है। उसमें अवस्थाऽज्ञान-विरोधिता अनुभव से सिद्ध है। विशेष[१] अज्ञान तो प्रमाणजन्य वृत्ति के बिना निवृत्त नहीं होता। साक्षी अविद्या का साधक है, इसलिए वह अविद्या का निवर्तक नहीं है। यह धर्मिग्राहक मान से सिद्ध है। इस प्रकार कोई दोष नहीं।

है। तथापि अहमंशज्ञान अयथार्थ नहीं है, क्योंकि विषय का बाध नहीं होता। अहङ्कार-रूपापन्न अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही वहाँ विषय है और वह साक्षिभास्य है, यह विषय अन्य है। ऐसी दशा में ज्ञान को जो अज्ञान का बाधक कहा जाता है, वह प्रमाणजन्यत्वरूप से नहीं, किन्तु यथार्थस्वरूप से ही बाधक है। किञ्च, 'अहं मनुष्यः' यहाँपर जो मनुष्य-अंश का प्रत्यक्ष है, वह तो शरीरविशेष का ही प्रत्यक्ष है, क्योंकि शरीरविशेषवान् ही मनुष्य होता है। शरीरप्रत्यक्ष घटप्रत्यक्ष की तरह चक्षु आदि द्वारा अन्तःकरण की दण्डायमान वृत्ति की अपेक्षा करता है। इसलिए वह प्रमाणजन्य ही है, अतः स्वाप्निक अवस्था-अज्ञान का बोध हो ही सकता है।

प्रश्न—साक्षिभास्य अयमंश-ज्ञान प्रमाण से अजन्य होता हुआ भी यदि स्वाप्न अज्ञान का निवर्तक है, तो उसी अयमंश-ज्ञान से व्यावहारिक घटविषयक विशेषाज्ञान की भी निवृत्ति होनी चाहिये। क्योंकि स्वप्न का अवस्था-अज्ञान व्यावहारिक सब पदार्थों का आवरक (आवरण करनेवाला) है, इसलिए उसका निवर्तक अयमंश का ज्ञान भी व्यावहारिक एक-एक पदार्थ के आवरक विशेषाज्ञान का निवर्तक है, यह कथन युक्ति से विरुद्ध नहीं है। इस दशा में घटज्ञानकाल में घटावरणभंग के लिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। उत्तर देते हैं—'विशेषाज्ञानं तु' इस ग्रन्थ से।

१ भाव यह है कि आवृत का प्रकाश होने पर अज्ञान की निवृत्ति होती है, यह युक्तियुक्त है। व्यावहारिक सकल पदार्थों का आवरक जो स्वप्न-अवस्था का सामान्य अज्ञान है, उससे पहले अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य ही आवृत होता है। उसके आवृत होने पर प्रमाता के अभाव से सकल व्यावहारिक पदार्थ आवृत की तरह हो जाते हैं। उसके अनन्तर जब अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य का 'अहम्' इत्याकारक प्रकाश होता है, तो उस प्रकाश से आवरण का नाश होने पर अर्थात् ही तादृश आवरणमूलक सकलपदार्थगत सामान्य-आवरण का नाश हो जाता है। इस प्रकार घटावरक विशेष अज्ञान की घट में प्राप्त हुई अन्तःकरण की वृत्ति से ही निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। जैसे नेत्र के खुले रहने पर भी घट के स्वरूप के आवरक अन्धकार के नाश के लिए दीप की अपेक्षा होती है, वैसे ही घटावरक आवरण के नाश के लिए अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा है।

प्रश्न—जाग्रत्-अवस्था के आरम्भ में साक्षी स्वयं प्रकाशित होकर अहमंश का प्रकाश करता है। ऐसी दशा में उस साक्षिरूप प्रकाश से व्यावहारिक घट, पट आदि तत्तद्व्यक्ति-विशेषावरक विशेषाज्ञान की और मूलाज्ञान की निवृत्ति क्यों नहीं होती? उत्तर देते हैं—'साक्षिणः' इस ग्रन्थ से।

१'यावन्ति' ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति चाभ्युपगमाच्छुक्तिज्ञानेनेव व्यावहारिकसंघातज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावपि पुनरपि कदाचिद्रजतभ्रमवन्न स्वाप्ना-ध्यासानुपपत्तिरिति जीवचैतन्यमेवाधिष्ठानमिति पक्षे न कोऽपि दोषः।

'अहमज्ञः (मैं अज्ञानी हूँ) इस प्रत्यक्ष प्रमाण से अज्ञान की सिद्धि होती है। अज्ञान साक्षिभास्य है, घटादि की तरह अन्तःकरण की वृत्ति से भास्य नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण की वृत्ति बहिरिन्द्रियों के अधीन होती है। अज्ञान शब्द, स्पर्श आदि से विलक्षण है। उसका किसी बहिरिन्द्रिय के साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है, इसलिए तादृश अज्ञान का भी ग्राहक साक्षी है। अतः साक्षिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अज्ञान की सिद्धि होती है। अज्ञान और साक्षी के ग्राह्य-ग्राहकभाव का अवलम्बन करनेवाले 'अहमज्ञः' इत्याकारक साक्षिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि साक्षी अज्ञान का निवर्तक नहीं और अज्ञान साक्षिस्वरूप प्रकाश से निवर्त्य नहीं है। ऐसी दशा में अज्ञानरूप धर्मी और साक्षी का ग्राहक जो प्रमाण है, वही उनमें रहनेवाले उक्त दोनों धर्मों का ग्राहक होता है।

१ ननु 'अहं मनुष्यः' इस व्यावहारिक ज्ञान से स्वाप्न सामान्याज्ञान की निवृत्ति होने पर दूसरे दिन फिर स्वप्न-अवस्था की प्राप्ति कैसे होती है? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—'यावन्ति ज्ञानानि' से। जैसे एक काल में शुक्तिज्ञान से शुक्ति के एक अज्ञान के नष्ट होने पर भी फिर कालान्तर में शुक्ति के अज्ञान से रजतभ्रम उत्पन्न होता है, वैसे ही एक 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान से एक स्वाप्न सामान्याज्ञान के निवृत्त होने पर भी फिर अन्य स्वाप्न-सामान्याज्ञान से स्वाप्न भ्रम की उपपत्ति अविरुद्ध है, यह भाव है। इस प्रकार मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य स्वप्न-अध्यास का अधिष्ठान है, इस प्रथम पक्ष का उपपादन करके मूलाज्ञाना-वच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है, इस द्वितीय पक्ष का उपपादन करते हैं—'यदा पुनः' इस ग्रन्थ से।

इस पक्ष में अधिष्ठानभूत ब्रह्म-चैतन्य का जाग्रत्-अवस्था में यथार्थ ज्ञान न होने से स्वाप्न सामान्याज्ञान का विनाश नहीं हो सकता, यद्यपि यह कहा जा सकता है, तथापि जाग्रत्-काल के 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान से स्वाप्निक सामान्याध्यास का तिरोभाव तो हो ही सकता है। प्रश्न—ब्रह्मचैतन्य स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान है, इस पक्ष में 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान नहीं है, तथापि अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान ही भ्रम का विनाशक है, इस नियम की तरह अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान ही भ्रम का तिरोभावक है, इस नियम में कोई बीज नहीं है। जैसे रज्जु में उत्पन्न हुए सर्प-भ्रम का उसके उत्तरकाल में उत्पन्न होनेवाले अयथार्थ भी दण्ड-भ्रम से तिरोभाव होता है, वैसे ही जाग्रत्-अवस्था के 'अहं मनुष्यः' इस अयथार्थ ज्ञान से भी स्वप्न-अध्यास का तिरोभाव हो जाता है। जैसे रज्जुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से सर्प-भ्रम का विनाश होता है, वैसे दण्ड-भ्रम से सर्प-भ्रम का विनाश नहीं होता; क्योंकि दण्ड-भ्रम के उत्तरकाल में भी फिर कदाचित् क्षणमात्र में सर्प-भ्रम का सम्भव है। पूर्वप्रतीयमान सर्प से अन्य ही सर्प

जैसे शुक्ति के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर फिर भी कभी रजतभ्रम हो जाता है, इसलिए मानना चाहिये कि जितने ज्ञान हैं, उतने अज्ञान भी हैं। इसलिए स्वाप्नाध्यास की अनुपपत्ति नहीं होती। अतः जीवचैतन्य ही स्वप्न का अधिष्ठान है—इस पक्ष में कोई भी दोष नहीं है।

यदा पुनर्ब्रह्मज्ञानादेवाज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमस्तदा रज्ज्वां दण्डभ्रमेण सर्पभ्रमतिरोधानवदधिष्ठानज्ञानाभावेऽपि जाग्रद्भ्रमेण स्वप्नभ्रमतिरोभावोपपत्तेर्ब्रह्मचैतन्यमेव स्वप्नाधिष्ठानमिति पक्षेऽपि न कश्चिद् दोषः। प्रतिजीवं स्वप्नाध्यासासाधारण्यं तु मनोगतवासनानामसाधारण्यादेव।

यदि ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति का अङ्गीकार है, उस पक्ष में रज्जु में दण्डभ्रम से सर्प के तिरोधान की तरह अधिष्ठान (ब्रह्म) के ज्ञान के न होने पर भी जाग्रत्-भ्रम से स्वप्न-भ्रम के तिरोभाव की उपपत्ति होने से ब्रह्मचैतन्य ही स्वप्नाध्यास

फिर प्रतीत होता है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि कदाचित् अन्य का सम्भव होने पर भी उसका भी सम्भव है। पूर्वप्रतीयमान सर्प की फिर कभी प्रतीति नहीं होती—इस नियम में कोई बीज नहीं है।

प्रश्न—स्वप्नभ्रम का जाग्रत्-अवस्था में केवल तिरोभाव ही होता है, विनाश नहीं होता, ऐसा अङ्गीकार करने पर उसका फिर उत्थान होना चाहिये।

उत्तर—तिरोभूत का उत्थान होता ही है, यह नियम नहीं है। एक दिन जिस स्वप्न का अनुभव हुआ है, उसका फिर कभी उत्थान नहीं होता, यह नियम देखा जाता है। इसका कारण स्वप्न-भ्रम का विनाश ही है, स्वप्न-भ्रम का तिरोभाव इसका कारण नहीं, यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि उक्त नियम का व्यभिचार है। कभी ऐसा भी अनुभव होता है कि स्वप्न-भ्रम में प्रवृत्त हुए पुरुष को मध्य में क्षणमात्र जागर्ति होने पर फिर सद्यः स्वप्नदर्शन में पूर्व स्वप्नदृष्ट पदार्थों की अनुवृत्ति देखी जाती है।

प्रश्न—मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य स्वप्न-अध्यास का अधिष्ठान है, इस प्रथम पक्ष में जाग्रत्काल में 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान से स्वप्न-भ्रम का विनाश ही होगा, इसलिए पूर्वदृष्ट स्वाप्न पदार्थों की अनुवृत्ति नहीं हो सकती।

उत्तर—इष्टापत्ति ही है। पूर्व स्वप्नदृष्ट पदार्थों के सदृश ही पदार्थ फिर दूसरे स्वप्न में देखे जाते हैं, वे ही नहीं देखे जाते—इस पक्ष में ऐसा अङ्गीकार है।

प्रश्न—मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हो, तो उसमें कल्पित गज, अश्व आदि सर्वजीवसाधारण होने चाहिये। जैसे जागर्ति में एक ही गज अनेक देवदत्त, यज्ञदत्त आदि से देखा जाता है, वैसे ही स्वप्न में भी होना चाहिये। उत्तर देते हैं—'प्रतिजीवम्' इस ग्रन्थ से।

का अधिष्ठान है, इस पक्ष में भी कोई दोष नहीं है। मनोगत[1] वासनाओं के असाधारण्य से ही प्रत्येक जीव का स्वप्नाध्यास भी असाधारण होता है।

मनोवच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेव वाऽधिष्ठानम्। एतस्मिन् पक्षेऽवस्थाऽज्ञानस्यैवावरकत्वाङ्गीकारान्न काऽप्यनुपपत्तिः। अत एव शास्त्रेषु क्वचित् क्वचित्तथा व्यपदेशः।

अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न[2] ब्रह्मचैतन्य ही अधिष्ठान है। इस पक्ष[3] में भी अवस्था-अज्ञान ही आवरणकारक हुआ करता है, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसीलिए शास्त्र में कहीं-कहीं जीवचैतन्य स्वप्न का अधिष्ठान है ऐसा व्यपदेश है।

ननु मनोवच्छिन्नचैतन्यस्याधिष्ठानत्वे 'अहं गजः' इत्याद्यहङ्कारसामानाधिकरण्येनैव गजप्रतीतिः स्यात्, इदं रजतमिति शुक्तिसामानाधिकरण्येन रजतप्रतीतिवत्; न त्वयं गज इति। ब्रह्मचैतन्यस्याधिष्ठानत्वपक्षेऽपि गज इत्याकारैव प्रतीतिः स्यान्न त्वयं गज इति, तत्रापीदंकारास्पदीभूतबाह्यार्थाभावस्य समानत्वादिति चेत्,

---

१ जैसे शुक्तिरजतावभासस्थल में जहाँ एक काल में अनेक पुरुष भ्रान्त होते हैं, वहाँ सब पुरुषों को एक रजत का अवभास नहीं होता, किन्तु प्रत्येक जीव की वासनाओं के भेद से जितने भ्रान्त पुरुष हैं, उतने ही वहाँ आविद्यिक रजत उत्पन्न होते हैं। प्रतीति प्रत्येक को एक की ही होती है, वैसे ही स्वप्न के विषय में समझना चाहिये। इस प्रकार मन में प्रतिबिम्बित जीवचैतन्य अथवा मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है। इन दोनों पक्षों का उपपादन करके तृतीय पक्ष दिखाते हैं—'मनोवच्छिन्नम्' इस ग्रन्थ से।

२ प्रतिबिम्बितस्वरूप जीव से अन्य बिम्बभूत जो ब्रह्मचैतन्य वही मनोवच्छिन्न होकर स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान है, यह अर्थ है। अवच्छेदवादी जीव का यही स्वरूप मानते हैं। इसलिए प्रतिबिम्बवाद के अभिप्राय से प्रथम पक्ष और अवच्छेदवाद के अभिप्राय से तृतीय पक्ष है।

प्रश्न—ब्रह्मचैतन्य मूलाज्ञानावच्छिन्न होने से यद्यपि आवृत है, तथापि मनोवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य सदा ही अनावृत है। वह कैसे अधिष्ठान हो सकता है? उत्तर में कहते हैं—'एतस्मिन्नपि' इस ग्रन्थ से।

३ 'अपि' शब्द से प्रथम पक्ष का समुच्चय होता है। जैसे मनोवच्छिन्न जीवचैतन्य अधिष्ठान है, इस प्रथम पक्ष में अवस्थाऽज्ञान आवरक माना गया है, वैसे ही तृतीय पक्ष में

शङ्का[1]—यदि मनोवच्छिन्न चैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानो, तो जैसे 'यह रजत है' यहाँपर शुक्ति के सामानाधिकरण्य से रजत की प्रतीति होती है, वैसे ही 'अहं गजः' इस प्रकार अहङ्कार के सामानाधिकरण्य से ही गज की प्रतीति होनी चाहिये। 'अयं गजः' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठानत्व-पक्ष में भी केवल 'गजः' ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिये। 'अयं गजः' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचैतन्य के अधिष्ठानत्व-पक्ष में भी इदङ्कार के विषय बाह्य पदार्थों का अभाव समान है।

न; आद्ये पक्षेऽहङ्कारस्य शुक्तिवदधिष्ठानावच्छेदकत्वाच्छुक्तौ रजतमितिवदहं गज इति न भ्रमाकारप्रसंगः। अहमिति ज्ञानस्येयं शुक्तिरिति ज्ञानस्येव भ्रमविरोधित्वात्। इदमंशस्य च भ्रमाविरोधिन एव तत्र भानाभ्युपगमात्। स्वप्ने तु गज इत्याकारवदयमित्याकारोऽपि कल्पित एव। उभयाकारबाधेऽप्यधिष्ठानभूतचैतन्यस्याबाधान्न शून्यवादप्रसंगः। जाग्रद्दशायामपि शुक्तीदङ्कारविलक्षणस्य प्रातीतिकस्यैव रजतेदङ्कारस्य भानाभ्युपगमाच्च। 'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु' (पं० शा० १ । ३६) इति न्यायात्। शुक्तीदमंशभानपक्षेऽपि नेदमंशसत्यत्वमध्यासे प्रयोजकम्, किन्त्वधिष्ठानसत्यत्वम्। अधिष्ठानं च तत्राज्ञातं शुक्तिचैतन्यमिवात्रापि साक्षिचैतन्यं विद्यत एवेत्युपपादितम्। तस्मान्न पक्षद्वयेऽपि काप्यनुपपत्तिः। अत्र च स्वाप्निकपदार्थ-

---

भी समझना चाहिये, यह भाव है। पक्षत्रय में भी प्राचीन ग्रन्थकारों की सम्मति दिखाते हैं—'अत एव' इस ग्रन्थ से।

१ उक्त तीनों पक्षों में से प्रथम पक्ष और तृतीय पक्ष में मनोवच्छिन्न चैतन्य स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान है। वह जीवरूप अधिष्ठान 'अहम्' इत्याकारक प्रतीति का विषय होकर भासता है। ऐसी दशा में जैसे इदंता से प्रतिभासमान शुक्तिरूप अधिष्ठान में तादात्म्य से अध्यस्त रजत भी 'इदं रजतम्' इस प्रकार इदन्ता से भासता है, वैसे ही अहंता से भासमान जीवचैतन्यरूप अधिष्ठान में तादात्म्य से अध्यस्त स्वाप्निक गज आदि अहंता से ही भासमान होने चाहिये, अर्थात् 'अहं गजः' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, 'अयं गजः' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। पर होती है इसके विपरीत। 'मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है' इस द्वितीय पक्ष में तो अधिष्ठान का अहंता से प्रतिभास ही नहीं होता। इसलिए यद्यपि 'अहं गजः' इस प्रतीति का प्रसङ्ग नहीं है, तथापि मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यरूप अधिष्ठान का इदंतारूप से प्रतिभास नहीं होता। इसलिए 'अयं गजः' यह

भोक्ता तैजस इत्युच्यते, पित्ताख्यतेजःप्रधानत्वात्। आदित्यादिज्योतिरन्तरेणापि भासकत्वादिति वा।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। प्रथम[1] पक्ष में अहङ्कार शुक्ति के समान अधिष्ठान का अवच्छेदक है, इसलिए जैसे 'शुक्ती रजतम्' ऐसा भ्रम का आकार नहीं होता, उसी प्रकार 'अहं गजः' ऐसा भ्रम का आकार नहीं होता। 'शुक्तिः' इत्याकारक ज्ञान के समान 'अहम्' इत्याकारक ज्ञान भ्रम का विरोधी है। शुक्तिरजतस्थल में भ्रम के अविरोधी इदमंश का ही भ्रम में भान माना जाता है।

प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। ऐसी दशा में जीवचैतन्य अधिष्ठान हो अथवा ब्रह्मचैतन्य अधिष्ठान हो, इदंरूप से प्रतीयमान बाह्य अर्थ ही अधिष्ठान नहीं है। इसलिए स्वाप्न गजादि की 'अयं गजः' इस रीति से इदंता से प्रतीति नहीं होनी चाहिये, यह आशय है।

१ जैसे संयोग-सम्बन्ध से घट का भूतल अधिष्ठान है, वैसे अध्यास का अधिष्ठान संयोगादि सम्बन्ध से नहीं हो सकता। किन्तु जैसे घर का मध्यभाग आवृत होकर अन्धकार का अधिष्ठान होता है, वैसे ही अध्यास का अधिष्ठान भी आवृत होकर ही हो सकता है। ऐसी दशा में अध्यासस्थल में अध्यास का अधिष्ठान जिस स्वरूप से आवृत होता है, वही स्वरूप अधिष्ठान का अवच्छेदक होता है। जैसे शुक्ति में रजताध्यासस्थल में शुक्तित्व अधिष्ठान का अवच्छेदक है। रजत-संस्कार से सहकृता अविद्या रजत के विरोधी अधिष्ठानगत शुक्ति-अंश का आवरण करती है, रजत के अविरुद्ध अधिष्ठानगत इदमंश का आवरण नहीं करती। वह अधिष्ठानावच्छेदक शुक्तित्व अध्यासकाल में आवृत है, इसलिए जबतक अध्यास है तबतक शुक्तित्व की प्रतीति नहीं होती। वैसे ही जहाँ 'जीवचैतन्य अधिष्ठान है' इस पक्ष में अहंत्व अधिष्ठान का अवच्छेदक है, इसलिए अहंत्व की अप्रतीति युक्त ही है, क्योंकि अधिष्ठानभूत जीवचैतन्यगत 'अहमंश' गजादि संस्कार का विरोधी है और अविद्या अपने सहकारीभूत संस्कारों के अविरोधी जो अधिष्ठानगत अंश हैं, उनके वैशिष्ट्य से अधिष्ठान के स्वरूप का आवरण नहीं करती। इसीलिए रजतभ्रम में अधिष्ठानभूत शुक्तिगत इदमंश रजतसंस्कार का विरोधी नहीं है। अतएव 'इदं रजतम्' इस प्रकार इदमंश की प्रतीति होती ही है।

प्रश्न—उक्त रीति से अधिष्ठानभूत जीवचैतन्यगत अहमंश गजादि-संस्कार का विरोधी है, इसलिए अहमंश की प्रतीति भले ही न हो, परन्तु 'अयं गजः' इस प्रकार अध्यस्त गज के सामानाधिकरण्य से इदमंश की जो प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकती; क्योंकि मतभेद से स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान जीवचैतन्य अथवा ब्रह्मचैतन्य हो, दोनों ही पक्षों में अधिष्ठानभूत चैतन्य में इदमंश का अभाव है। उत्तर में कहते हैं—'स्वप्ने तु' इस ग्रन्थ से।

स्वप्न[1] में तो 'गजः' इत्याकारक ज्ञान के समान 'अयम्' इत्याकारक ज्ञान भी कल्पित ही है। 'अयम्' और 'गजः' इन दोनों[2] आकारों के बाधित हो जाने पर भी अधिष्ठानभूत चैतन्य के बाधित न होने से शून्यवाद का प्रसङ्ग नहीं हुआ। 'जाग्रद्-दशा[3] में भी अध्यस्त का ही भ्रम में भान होता है' इस न्याय से शुक्ति के इदंकार से भिन्न प्रातिभासिक रजत के इदङ्कार के भान का ही स्वीकार है। शुक्ति के इदमंश का भान होता है, इस पक्ष में भी इदमंश की सत्यता अध्यास में प्रयोजक नहीं है। किन्तु अधिष्ठान-सत्यत्व ही प्रयोजक है। भ्रम-स्थल में जैसे अज्ञात शुक्तिचैतन्य अधिष्ठान है, उसी प्रकार यहाँ अज्ञात साक्षिचैतन्य अधिष्ठान विद्यमान ही है, यह सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए[4] दोनों पक्षों में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। स्वप्नावस्था में स्वप्न के पदार्थों का

---

१ जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रातिभासिक रजतप्रतीतिस्थल में रजतांशमात्र अध्यस्त है, इदमंश तो अधिष्ठानभूत शुक्तिगत ही भासता है। स्वप्न में 'अयं गजः' इस प्रतीति में ऐसा नहीं। यहां गजांश और इदमंश ये दोनों ही अध्यस्त हैं, इसलिए अनुपपत्ति नहीं है।

प्रश्न—इस प्रकार इदमंश और गजांश दोनों के कल्पित होने से असत्य होने पर दोनों का ही बाध होगा। उस दशा में कुछ शेष नहीं रहेगा, इसलिए शून्यवाद का प्रसङ्ग है? उत्तर देते हैं—'उभयाकार' इत्यादि से।

२ भ्रान्त को जो प्रतीति होती है, उसीमें से कोई अंश भ्रम की निवृत्ति के उत्तरकाल में अवशिष्ट रहता है, इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है, यह भाव है।

प्रश्न—इस रीति से जाग्रद्-अवस्था के 'इदं रजतम्' इस भ्रम में और स्वप्न के 'अयं गजः' इस भ्रम में उक्त रीति से वैलक्षण्य का अङ्गीकार करने पर भ्रम के दो रूप हो जायँगे।

उत्तर - हां, कोई हानि नहीं है। यदि सर्वत्र एक प्रकार का ही भ्रम होता है यह आग्रह हो, तो जागर्ति में भी स्वप्न की तरह अंशद्वय के अध्यास का अङ्गीकार करना चाहिये, इसमें कोई हानि नहीं है। यही कहते हैं—'जाग्रद्दशायामपि' इत्यादि ग्रन्थ से।

३ प्रश्न—इस प्रकार इदमंश के असत्य होने पर अध्यास ही सिद्ध नहीं होता?

उत्तर—यह भ्रम है। वास्तव में अधिष्ठान की सत्यता अध्यास में प्रयोजक है, न कि भ्रमावस्था में प्रतीयमान अधिष्ठानगत किसी अंश की सत्यता अध्यास में प्रयोजक है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। इसी बात की पुष्टि करते हैं—'शुक्तीदमंश' इत्यादि ग्रन्थ से।

४ यद्यपि अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य स्वाप्नाध्यासका अधिष्ठान है, यह प्रथम पक्ष है, मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य अधिष्ठान है, यह द्वितीय और अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य यह तृतीय पक्ष है। ये तीनों पक्ष पहले दिखाये गये हैं, तथापि द्वितीय और तृतीय पक्ष में

भोक्ता जीव पित्तनामक तेजःप्रधान होने के कारण अथवा सूर्यादि ज्योति के बिना ही भासक होने के कारण 'तैजस' कहलाता है।

एवं जाग्रत्स्वप्नभोगद्वयेन श्रान्तस्य जीवस्य तदुभयकारणकर्मक्षये ज्ञानशक्त्यवच्छिन्नस्य सवासनान्तःकरणस्य कारणात्मनाऽवस्थाने सति विश्रामस्थानं सुपुप्त्यवस्था। 'न किञ्चिदवेदिषमि'ति कारणमात्रोपलम्भः सुषुप्तिः। तत्र जाग्रत्स्वप्नभोग्यपदार्थज्ञानाभावेऽपि साक्ष्याकारं सुखाकारमवस्थाऽज्ञानाकारं चाविद्याया वृत्तित्रयमभ्युपेयते।

इस प्रकार जाग्रदवस्था[1] एवं स्वप्नावस्था के भोग से परिश्रान्त हुए जीव के उक्त दोनों अवस्थाओं के कारणरूप कर्मों के नष्ट होने पर ज्ञानशक्ति से अवच्छिन्न सवासन अन्तःकरण की कारणरूप से[2] स्थिति होने पर जीव का विश्राम-स्थान सुषुप्ति-अवस्था है। इस प्रकार 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्याकारक कारणरूप[3] अज्ञानमात्र की उपलब्धि

अवच्छेदक का भेद होने पर भी अवच्छेद्य का भेद नहीं है, इसलिए उन दोनों पक्षों के ऐक्य को लेकर दो पक्षों का कथन उपपन्न हो सकता है। अथवा तृतीय पक्ष और प्रथम पक्ष में अवच्छेद्य का बिम्ब-प्रतिबिम्बभेद से भेद होने पर भी अवच्छेदक अन्तःकरण की एकता से उन दोनों पक्षों की एकता को लेकर दो पक्षों की उपपत्ति समझनी चाहिये। इस प्रकार प्रसङ्ग से स्वाप्निक पदार्थों के उपादान-कारण और स्वाप्नाध्यास के अधिष्ठान का निरूपण करके स्वप्नावस्था में भोक्ता के स्वरूप को दिखाते हैं—'अत्र च' इत्यादि ग्रन्थ से।

१ क्रमप्राप्त सुषुप्ति-अवस्था का निरूपण करते हैं—'एवं जाग्रत्' इत्यादि से।

२ कारणीभूत अज्ञानगत संस्काररूप से, यह अर्थ है।

३ 'कारणमात्र से अवस्थान सुषुप्ति है' ऐसा लक्षण करने पर प्रलय में अतिव्याप्ति होती है, इसलिए प्रलय का वारण करने के लिए 'उपलम्भ' पद दिया है। भाव यह है कि प्रलयकाल में अविद्या मूलस्वरूप से ही स्थित होती है। उस समय उसकी कोई वृत्ति नहीं होती। सृष्टिकाल में तो अविद्या की अज्ञानाकार प्राथमिक वृत्ति होती है। यह अज्ञानाकार वृत्ति जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में बनी रहती है, क्योंकि अवस्थात्रय में भी 'मैं मूलब्रह्मस्वरूप को नहीं जानता' ऐसी प्रतीति होती है। यह प्राथमिक अविद्यावृत्ति व्यावहारिक शब्दादि-ज्ञान के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसके होते हुए ही जागरण में शब्दादि पदार्थों का ज्ञान देखा जाता है। इसलिए केवल प्राथमिक अविद्यावृत्ति से सुषुप्ति-अवस्था का उपपादन नहीं हो सकता। किन्तु व्यावहारिक शब्दादिज्ञान का निरोध करनेवाली अवस्थाविशेषभूत अज्ञानाकार अविद्या की अन्य वृत्ति सुषुप्ति-अवस्था में अवश्य माननी चाहिये, इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में साक्ष्याकार और सुखाकार अविद्या की अन्य वृत्ति अवश्य होती

सुषुप्ति है। सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्न के भोग्य पदार्थों का ज्ञान न होने पर भी अविद्या की साक्ष्याकार, सुखाकार तथा अज्ञानाकार तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं।

अहङ्काराभावाच्च[1] नैका विशिष्टवृत्तिः, सुषुप्त्यभावप्रसङ्गाच्च।

है, यह कल्पना करनी चाहिये। इसीलिए जाग्रदवस्था में 'सुखमहमस्वाप्सम्, 'न किञ्चिद्-वेदिषम्' यह अनुसन्धान बन सकता है। उक्त अनुसन्धान सुषुप्तिस्थ अनुभव से जन्य है, इसलिए उक्त अनुसन्धान के अनुसार सुषुप्तिकाल के अनुभव में चार अंशों की कल्पना करनी चाहिये—सुख-अंश, अहमंश, स्वापांश और अज्ञानांश। इनमें से अहमंश की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में वृत्तिसहित अन्तःकरण का लय हो चुका है और अहमंश अन्तकरण की वृत्तिविशेषमूलक है। जाग्रत्काल के 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस अनुसन्धान में अहमंश का प्रवेश तो इतर तीन अंशों की तरह अनुसन्धान का विषय होकर नहीं, किन्तु अनुसन्धान का आश्रय होकर है और वह आश्रयरूप अहङ्कार जाग्रद्-अवस्था में अनुसन्धानकाल में है ही, इसलिए 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्याकारक अनुसन्धान की अनुपपत्ति नहीं है। अवशिष्ट जो तीन अंश हैं, तदाकार से अविद्या की तीन वृत्तियाँ होती हैं—सुख, स्वाप और अज्ञान-वृत्ति।

प्रश्न—उक्त अनुसन्धान के अनुरोध से स्वापाकार-वृत्ति का भी निर्देश करना चाहिये था, उसका निर्देश न करके केवल साक्ष्याकार-वृत्ति का निर्देश किया है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिस स्वापाकार-वृत्ति का निर्देश करना चाहिये, वह वृत्ति साक्षिरूप ही है, इसलिए साक्षिरूप से उसका निर्देश हो गया, क्योंकि कारणमात्रोपलम्भ सुषुप्ति है, यह स्वाप-पद का अर्थ है। सुषुप्ति-अवस्था में कारण-अज्ञान का जो उपलम्भ है, वह साक्षिरूप ही है। जाग्रत्-काल का उपलम्भ मनोवृत्तिरूप है। स्वप्नकाल का उपलम्भ तो अविद्या-कल्पित मनोवृत्तिरूप है। इसी प्रकार प्रातिभासिक रजत का उपलब्ध भी अविद्याकल्पित मनो-वृत्तिरूप ही है। सुषुप्ति-काल का उपलम्भ तो कथमपि मनोवृत्तिरूप नहीं, किन्तु साक्षिरूप ही है।

१ विशिष्ट एक वृत्ति की उपेक्षा करके सुषुप्ति-अवस्था में वृत्तित्रय का अङ्गीकार क्यों किया जाता है, ऐसी शङ्का करके समाधान करते हैं—'अहङ्काराभावात्' इस सन्दर्भ से। परस्पर सम्बद्ध हुए दो पदार्थों में से एक का अन्य के साथ वैशिष्ट्य हुआ करता है। असम्बद्धों का वैशिष्ट्य नहीं हुआ करता। उक्त तीन वृत्तियों के मध्य साक्षी तो असङ्ग चैतन्यमात्ररूप है, अतः उसका किसीके साथ सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो सकता। सुख और अज्ञान ये दोनों अहमर्थ के धर्म हैं। इस प्रकार जैसे आम के फल में द्रव्य के धर्मरूप और रस में एक का अन्य के साथ वैशिष्ट्य नहीं होता, वैसे ही सुख और अज्ञान का परस्पर वैशिष्ट्य नहीं हो सकता। जैसे रूप और रस के वैशिष्ट्य से आम्रफलरूप द्रव्य की प्रतीति हुआ करती है, वैसे ही यहाँ सुख और अज्ञान के वैशिष्ट्य से उनके आश्रय अहमर्थ की

अतएव[1] वृत्तिरूपस्योपलम्भस्याभावान्न प्रलयेऽतिव्याप्तिः, तत्र तत्कल्पनाबीजाभावात्। इह च सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषमिति सुप्तोत्थितस्य परामर्शात्[2]। अननुभवे परामर्शानुपपत्तेः। अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यत्वाभावाच्च[3] न तत्तोल्लेखाभावेऽपि स्मरणत्वानुपपत्तिः। स्मरणे[4] तत्तोल्लेखनियमाभावाच्च।

प्रतीति करनी चाहिये। उसका भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सुख और अज्ञान के आश्रयीभूत अहमर्थ की सुषुप्ति-अवस्था में अहंभाव से प्रतीति नहीं होती। अहंभाव से प्रतीति का अङ्गीकार करने पर तो सुषुप्ति का ही अभाव हो जायगा, यह आशय है।

१ 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' इस प्रतीति के अनुरोध से सुषुप्ति-अवस्था में अविद्यावृत्ति के अङ्गीकार से सुषुप्ति और प्रलय का वैलक्षण्य सिद्ध है, यह तात्पर्य है।

२ परामर्श स्मरण है। स्मरण अनुभवजन्य हुआ करता है, इसलिए स्मरणरूप कार्य से स्वकारणीभूत सुषुप्ति के अनुभव का अनुमान किया जाता है। अनुभव वृत्तिरूप है, इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में अविद्या की वृत्ति सिद्ध होती है।

प्रश्न—जाग्रत्-अवस्था में जायमान 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि ज्ञान स्मरणरूप नहीं है, जिससे वह स्वकारणीभूत अनुभव का अनुमान करवा सके। 'वह देवदत्त उस मन्दिर पर बैठकर ऐसा कह रहा था' इत्याकारक जो स्मरण होता है, उसमें देवदत्तादि का तत्ता (वह) से उल्लेख देखा जाता है। सुषुप्ति के सुख का तो जागर्ति में 'तत्सुखम्' इस प्रकार तत्ता से अनुसन्धान नहीं होता, इसलिए जाग्रदवस्था का 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह ज्ञान स्मरण ही नहीं है। उत्तर देते हैं—'अन्तःकरण' इत्यादि ग्रन्थ से।

३ उपराग = वृत्ति। स्मरणमात्र में तत्तोल्लेख का नियम हम नहीं मानते, क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। जाग्रत्-काल में जो अनुभव होता है, वह अन्तःकरण की वृत्ति के काल में होता है, इसलिए तादृश अनुभवजन्य स्मरण में तत्ता का उल्लेख हो। स्मरणमात्र में तत्ता का उल्लेख आवश्यक नहीं है। किञ्च, वैशेषिकादि भी स्मरण में तत्तोल्लेख के नियम का अङ्गीकार नहीं करते, यह दिखाते हैं—'स्मरणे' इत्यादि से।

४ तात्पर्य यह है कि अनुभव संस्कारद्वारा स्मरण में हेतु है, यह सर्वसम्मत है। संस्कार एकअनुभवजन्य होता हुआ भी एक प्रकार का नहीं होता। जैसे स्थूल, गौर और रक्त उष्णीषवान् देवदत्त कभी देखा गया। दूसरे दिन जैसा उसका स्मरण होता है, एक मास या वर्ष के अनन्तर वैसा स्मरण नहीं होता। अधिक काल होने पर तो कभी 'गौर है' ऐसा स्मरण होता है, 'स्थूल अथवा कृश' ऐसा स्मरण नहीं होता। कभी 'उष्णीषवान्' ऐसा स्मरण होता है, 'रक्त अथवा पीत' ऐसा स्मरण नहीं होता। इस प्रकार जाग्रत्-काल के अनुभव से जन्य स्मरण में संस्कारों के अनुसार कभी तत्ता का उल्लेख होता है, कभी नहीं भी होता। एतावता उसके

सुषुप्ति में अहङ्कार के अभाव से एक विशिष्ट वृत्ति नहीं होती, क्योंकि विशिष्ट वृत्ति होने से सुषुप्ति के अभाव की आपत्ति हो जायगी। इसलिए वृत्तिरूप ज्ञान का अभाव होने से प्रलय में अतिव्याप्ति नहीं हैं, क्योंकि प्रलयकाल में वृत्ति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। सुषुप्ति-अवस्था में तो सुप्तोत्थित पुरुष का 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद्-वेदिषम्' यह स्मरण प्रमाण है। सुषुप्तिकाल में यदि अज्ञान का अनुभव न होता तो सुप्तोत्थित पुरुष को उक्त स्मरण नहीं हो सकता। सुषुप्ति-अवस्था के अज्ञान के अनुभव-काल में अन्तःकरण का सम्बन्ध नहीं था, इसलिए अनुभव से उत्पन्न हुए पूर्वोक्त स्मरण में तत्ता का उल्लेख के न होने पर भी स्मरणत्व की अनुपपत्ति नहीं है। और स्मरण में तत्ता के उल्लेख का नियम भी नहीं है।

जाग्रद्दशायामस्वाप्समित्यनुभवानुपपत्तेश्च। लिङ्गाभावेनाश्रयासिद्ध्या चानुमानस्यासंभवात्। अहङ्कारस्तु उत्थानसमय एवानुभूयते। सुषुप्तौ लीनत्वेन तस्याननुभूतत्वात्स्मरणानुपपत्तेः। मुखप्रतिबिम्बाश्रये दर्पणे जपाकुसुमलौहित्या-ध्यासेन रक्तं मुखमिति प्रतीतिवदहङ्काराश्रयतया साक्षिचैतन्यस्य स्मरणाश्रय-त्वादहं सुखमस्वाप्समिति सामानाधिकरण्यप्रतीतिः। न पुनरहं सुखीतिवदा-श्रयतया, स्मृतिसंशयविपर्ययाणां साक्षिचैतन्याश्रयत्वनियमात्। अहङ्कारस्य च प्रमाणजन्यज्ञानाश्रयत्वनियमात् प्रमात्वेनैव तत्कार्यतावच्छेदात्। अप्रमा-त्वावच्छेदेन चाविद्याया एव कारणत्वात्। अत एव अनाप्तवाक्यादिजन्य-परोक्षविभ्रमोऽप्यविद्यावृत्तिरेवेत्यभ्युपगमो वेदान्तविदाम्। तत्रान्तःकरणवृत्ति-जनकसामग्रीसम्भवेऽपि प्रमात्वाभावावरोधेन अन्तःकरणस्यासामर्थ्यात्।

जाग्रद्-दशा[1] में पूर्वोक्त स्मरण का अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि उसका

स्मरणत्व की हानि नहीं होती। यदि कोई तत्ता के उल्लेख के नियम में हठ करके 'सुखमह-मस्वाप्सम्' यह ज्ञान स्मरण नहीं, किन्तु अनुभव ही है, ऐसा कहे, तो उसका समाधान करते हैं—'जाग्रद्दशायाम्' इत्यादि से।

१ क्योंकि अनुभव प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, इनमें से अन्यतम (कोई एक) होता है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह प्रत्यक्ष तो है नहीं, क्योंकि उस काल में स्वाप है नहीं, कारण प्रत्यक्ष का विषय विद्यमान हुआ करता है। जाग्रत्-काल में स्वाप विद्यमान नहीं है। सादृश्यज्ञान का अभाव होने से वह उपमिति नहीं है। शब्दज्ञानमूलक न

विषय—सुख और अज्ञान—उस समय में विद्यमान नहीं है। लिङ्ग[1] के अभाव एवं आश्रय की असिद्धि से यह ज्ञान अनुमान भी नहीं हो सकता। अहङ्कार का ज्ञान तो उत्थान के समय में ही होता है। सुषुप्ति में[2] लीन होने के कारण उसका अनुभव न होने

होने से वह अनुभव शाब्द भी नहीं है। अर्थापत्ति और अनुलब्धि का तो यहाँ सम्भव ही नहीं है यह स्पष्ट ही है। अब यह अनुमितिरूप भी नहीं है, इसका प्रतिपादन करते हैं—'लिङ्गाभावेन' इत्यादि सन्दर्भ से।

१ भूतकालिक स्वाप का ज्ञापक कोई चिह्न जागृति में नहीं देखा जाता। नेत्र-संकोचादिरूप स्वाप के कार्य का नियमपूर्वक ज्ञान नहीं होता। 'अहं स्वापवान्' यह अनुमिति का आकार कहना होगा, सो हो नहीं सकता; क्योंकि अहमर्थ और स्वाप इन दोनों का परस्पर विरोध है, इसलिए एककाल में दोनों हो नहीं सकते। अहंभाव तो स्वाप के नष्ट होने पर ही प्रकट होता है। सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण लीन होता है, इसलिए अन्तःकरण के वृत्तिविशेष अहङ्कार की सुषुप्ति में स्थिति नहीं हो सकती। इससे पर्वत में धूम को देखकर घर में आकर पर्वत का स्मरण करके जैसे कोई अग्नि का अनुमान करता है, वैसे ही जागृति में स्वापकालिक अहंभाव का स्मरण करने से अनुमिति होती है, इसका खण्डन हो गया। यही कहते हैं—'सुषुप्तौ' इस ग्रन्थ से।

२ प्रश्न—सुषुप्ति में यदि अहंभाव नहीं है, तो सुषुप्तिस्थ अनुभव से जन्य 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण में अहंभाव की प्रतीति कैसे होती है?

उत्तर—'सुखमहमस्वाप्सम्' यहाँपर स्वाप जैसे स्मरण का विषय होकर प्रतीत होता है, वैसे अहंभाव स्मरण का विषय होकर प्रतीत नहीं होता; किन्तु स्मरण का आश्रय होकर प्रतीत होता है, यह पहले कह चुके हैं।

प्रश्न—स्मरण की आश्रयता से भी अहङ्कार का प्रवेश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अहङ्कार स्मरण का आश्रय नहीं हो सकता। किन्तु साक्षिचैतन्य ही स्मरण का आश्रय हो सकता है, क्योंकि अनुभविता (अनुभव का आश्रय) ही स्मर्त्ता (स्मरण का आश्रय) हुआ करता है, यह नियम है। यहाँ अनुभविता साक्षिचैतन्य है, अहङ्कार नहीं; क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में अहङ्कार लीन हो जाता है।

प्रश्न—ज्ञान मनोवृत्ति को कहते हैं। स्मरण भी ज्ञानविशेष है, इसलिए स्मरण मनोवृत्तिरूप है, यह अवश्य वक्तव्य है। ऐसी दशा में जैसे 'अहं घटं जानामि' यहाँ चैतन्य में अध्यस्त अन्तःकरण पहले अहङ्काररूप से परिणाम को प्राप्त होकर पश्चात् चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा विषय-देश में जाकर विषयाकार हो जाता है, वैसे ही स्मरण-स्थल में भी चैतन्य में अध्यस्त अन्तःकरण पहले अहङ्काररूप में परिणत होकर पश्चात् पूर्वानुभूत विषयाकार से परिणत होता है। इस प्रकार वृत्तिरूप स्मरण का अहङ्कार ही आश्रय है। अनुभविता ही स्मर्ता हुआ करता है, इस नियम का तो अनुभविता साक्षिचैतन्य में अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से उपपादन करना चाहिये।

उत्तर—इस दृष्टान्त में विषमता है। घटादिविषयक प्रमाज्ञान में अहङ्कारात्मक मन की वृत्ति हो सकती है। अप्रमास्थल में ऐसा नहीं हो सकता। शुक्तिरजतज्ञान में प्रातिभासिक रजताकारा मनोवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि वास्तव में वहाँ रजत नहीं है। जैसे वास्तव में पञ्चकोणवाले खेत में किसी पुरुष को त्रिकोणत्व की भ्रान्ति होने पर भी उस खेत में प्रविष्ट जल पञ्चकोणाकार को ही ग्रहण करता है, कभी भी त्रिकोणाकार ग्रहण नहीं करता, वैसे ही व्यावहारिक सत्ता का आश्रय मन व्यावहारिक ही वस्तु के आकार को ग्रहण कर सकता है। प्रातिभासिक वस्तु के आकार को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य पदार्थ का अन्य पदार्थ के आकार के सदृश आकार ग्रहण करना उन दोनों पदार्थों के सम्बन्ध से हो सकता है और व्यावहारिक का व्यावहारिक के ही साथ सम्बन्ध हो सकता है, प्रातिभासिक के साथ नहीं ऐसी दशा में मन और उसकी वृत्ति के कार्य-कारण-भाव में कार्यतावच्छेदक प्रमात्व ही है (मन से प्रमावृत्ति ही उत्पन्न होती है)। मन और उसकी वृत्ति के कार्य-कारण-भाव में यदि ज्ञानत्व अवच्छेदक हो, तो प्रातिभासिक रजत में दोष होगा, क्योंकि शुक्ति-रजतप्रतिभास में रजताकार मानसी वृत्ति भी रजत की तरह अविद्यापरिणामभूत काल्पनिक ही है। इसीलिए अर्थाध्यास की अपेक्षा अतिरिक्तज्ञानाध्यास का अंगीकार है।

प्रश्न - शुक्ति-रजतज्ञान में यदि मनोवृत्ति काल्पनिक (आविद्यिक) है, तो उस वृत्ति से उत्पन्न होनेवाला संस्कार भी मन में काल्पनिक ही होगा, व्यावहारिक नहीं। फिर व्यावहारिक मन से उसका स्मरण कैसे होता है ?

उत्तर—व्यावहारिक मन के तादात्म्य ही से काल्पनिक (आविद्यिक) मन का अध्यास होता है, इसलिए काल्पनिक मनोवृत्ति से जायमान संस्कार काल्पनिक मनोध्यास के अधिष्ठान-भूत वास्तविक (व्यावहारिक) मन में ही उत्पन्न होता है। अतः व्यावहारिक मन से शुक्तिरजत का स्मरण हो सकता है। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में मूल साक्षी में तादात्म्य से अध्यस्त अविद्याकल्पित साक्षी सुख और अज्ञान का अनुभव करता है, इसलिए उससे जायमान संस्कार मन के कारण अज्ञानविशिष्ट मूलसाक्षी में ही उत्पन्न होता है। इससे जाग्रद-वस्था में कार्यभूत मनोविशिष्ट साक्षी से उसका स्मरण हो सकता है। जैसे सर्पभ्रम से किये हुए दण्डप्रहार से उत्पन्न हुई विशीर्णता रज्जु में ही होती है, वैसे ही यह समझना चाहिये। इस प्रकार शुक्ति-रजतज्ञान की तरह स्मरण भी प्रमा नहीं है, इसलिए स्मरण मन का परिणाम नहीं है। किन्तु स्मरण के विषयभूत सब पदार्थ साक्षिभास्य ही होते हैं। जाग्रत्-काल के अनुभव से जायमान स्मरण भी मन का परिणाम नहीं है; क्योंकि प्रमात्वाभाव इसमें भी तुल्य ही है। इस प्रकार अहंकार स्मरण का आश्रय नहीं है, अतः 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण में अहंभाव का स्मरण की आश्रयता से भी प्रवेश नहीं कहा जा सकता।

उत्तर—यद्यपि साक्षीचैतन्य ही सर्वत्र स्मरण का आश्रय है, तथापि अध्यस्ताहङ्कार (जिस साक्षी में अहङ्कार का अध्यास है) ही साक्षिचैतन्य स्मरण का आश्रय होता है। इसलिए स्मरण और अहङ्कार इन दोनों का एक ही साक्षिचैतन्य में सामानाधिकरण्य (दोनों का एक ही आश्रय) है। अतः अहङ्कार की स्मरणाश्रयता से प्रतीति होती है। इस प्रकार अहङ्कार के

से स्मरण नहीं हो सकता। मुख[1] के प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पण में समीपवर्ती जपा-पुष्प की लालिमा के अध्यास से 'रक्तं मुखं' ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही जाग्रत्-काल में स्मरण का आश्रय साक्षि-चैतन्य ही अहङ्कार का[2] आश्रय है। इसलिए अहङ्कार के साथ सामानाधिकरण्य की 'सुखमस्वाप्सम्' ऐसी प्रतीति होती है। 'अहं सुखी' इस ज्ञान के समान आश्रयतया प्रतीति नहीं होती। क्योंकि स्मृति[3], संशय और विपर्यय साक्षि-चैतन्य के आश्रित हैं—ऐसा नियम है। और अहङ्कार प्रमाणजन्य ज्ञान का आश्रय है—ऐसा भी नियम है। अहङ्कारजन्य ज्ञान प्रमा है, अविद्याजन्य ज्ञान अप्रमा है। प्रमारूप ज्ञान ही अहङ्कारजन्य है। इस नियम से[4] अनाप्त वाक्य[5] आदि से उत्पन्न हुआ परोक्ष-भ्रम भी

वास्तव में स्मरण का आश्रय न होने पर भी कोई क्षति नहीं है। यही 'मुखप्रतिबिम्बाश्रये' इस दृष्टान्त से उपपादन करते हैं।

१ जैसे अध्यस्त लौहित्य और प्रतिबिम्ब इन दोनों का आश्रय दर्पण है, प्रतिबिम्ब लौहित्यका आश्रय नहीं है; तथापि लौहित्य और प्रतिबिम्ब का एक दर्पण में सामानाधिकरण्य है। अतः लौहित्य की आश्रयता से मुख की 'रक्तं मुखम्' ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही यहाँपर स्मरण और अहंकार दोनों का आश्रय एक साक्षिचैतन्य है, इसलिए स्मरण और अहङ्कार का एक साक्षिचैतन्य में सामानाधिकरण्य होने से स्मरण की आश्रयता से अहङ्कार की प्रतीति होती है।

२ साक्षिचैतन्य सुषुप्ति में अनुभूत सुखादि का जाग्रत् में अहङ्काराश्रयत्वेन स्मरण करता है।

३ यथार्थानुभव को ही 'प्रमा' कहते हैं। स्मृति तो अनुभव ही नहीं है, इसलिए यथार्थ अथवा अयथार्थ कोई भी स्मृति प्रमा नहीं है। संशय और विपर्यय अनुभव तो हैं, परन्तु यथार्थ नहीं हैं। इसलिए वे भी प्रमा नहीं हैं। अप्रमाज्ञान मनोवृत्तिरूप नहीं होता, किन्तु अविद्यावृत्तिरूप होता है और उसका आश्रय साक्षी होता है। सारांश यह है कि ज्ञान वृत्तिरूप है, वृत्ति प्रमा और अप्रमा भेद से दो प्रकार की है। अन्तःकरणवृत्ति प्रमा है। अविद्यावृत्ति अप्रमा है। इस दशा में ज्ञान अहङ्कार का कार्य प्रमारूप से ही होता है और अविद्या का कार्य अप्रमारूप से। 'अविद्याकार्यता' यहाँ 'कार्यता' साक्षात् समझनी चाहिये, इससे प्रमाज्ञान के अन्तःकरण द्वारा अविद्या-कार्य होने पर भी साक्षात् उसमें अविद्याकार्यता नहीं है।

४ प्रमारूप ज्ञान के अहङ्कार का कार्य होने से।

५ अयथार्थ-वक्ता से उच्चरित जो शब्दभ्रमात्मक ज्ञान होता है, वह अविद्यारूप ही है ऐसा प्राचीन वेदान्तियों ने स्वीकार किया है। यद्यपि उस समय जाग्रत्-अवस्था में स्थित अन्तःकरण विषयाकार के सदृश आकार को ग्रहण करने योग्य है, तथापि विषय के आकार के सदृश आकार को ग्रहण नहीं कर सकता; क्योंकि वहाँपर प्रमात्व का अभाव प्रतिबन्धक है। इस

अविद्यावृत्ति' है (अप्रमा है), ऐसी वेदान्तियों की स्वीकृति है। अनाप्तवाक्यादि-स्थल में

प्रकार भ्रमात्मक समस्त ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति नहीं हैं, किन्तु अविद्या ही की साक्षात् वृत्ति हैं। इसी प्रकार संशय और स्मृतिरूप ज्ञान भी प्रमा न होने से भ्रमज्ञान की तरह अविद्या:-वृत्तिरूप ही हैं।

१ आशय यह है कि उक्त रीति से प्रत्यक्षभ्रम में विषय सत्य नहीं है, इसलिए विषय के साथ मन के सम्बन्ध का अभाव होने से भ्रम मनोवृत्तिरूप नहीं है। अनुमानादि-भ्रम में विषय के अस्तित्वाभाव से मन की वृत्ति नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमानादि परोक्ष ज्ञानों में सत् अनुमान में भी विषयप्रदेश में मन के गमन का अभाव होने से मनोवृत्ति के लिए विषयसम्बन्ध आवश्यक नहीं है। जिस कारण-सामग्री से अनुमानप्रमा में अपने स्थान में अवस्थित मन की अग्न्याकारा वृत्ति उत्पन्न होती है, वह कारण-सामग्री अनुमानभ्रम में भी है ही। इसलिए सदनुमान की तरह अनुमानभ्रम में भी मनोवृत्ति का सम्भव हो सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष-भ्रम में मनोवृत्ति का असम्भव पहले कह चुके हैं। अतः भ्रम के साजात्य से अनुमानादिभ्रम में भी अविद्या-वृत्ति ही उचित है। अन्यथा मन और मन की वृत्ति के कार्य-कारणभाव में ज्ञानत्व को कार्यता का अवच्छेदकत्व होने पर प्रत्यक्ष-भ्रम का संग्रह हो जायगा। प्रमात्व को कार्यतावच्छेदक मानेंगे, तो अनुमानादि भ्रम का असंग्रह होगा। इसलिए कार्यतावच्छेदक का अननुगम दुर्वार है। अतः प्रमात्व को ही अहङ्कार (मन) का कार्यतावच्छेदक कहना चाहिये। इसलिए अनुमानादि-भ्रम में प्रमात्वाभाव से अवरुद्ध हुआ मन अपनी वृत्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्रश्न—स्मृति अविद्यावृत्ति हो, परन्तु वह किस अविद्या की वृत्ति है? मूलाविद्या की अथवा तूलाविद्या की?

उत्तर—स्मरण मूलाविद्या की ही वृत्ति है, क्योंकि तूलाविद्या का व्यवहारकाल ही में बाध देखा जाता है। 'नायं सर्पः' इस प्रत्यक्ष से व्यवहारकाल ही में उसका अविद्यात्व सिद्ध हो जाता है। यदि स्मरण तूलाविद्या का परिणाम होता, तो उसका बाध होना चाहिये था। पर व्यवहारकाल में उसके बाध का अनुभव नहीं होता, इसलिए स्मरण मूलाविद्या की ही वृत्ति है।

प्रश्न—जैसे तूलाविद्या रज्जुस्वरूप का आश्रयण करके सर्पाकार होती है और रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य को आश्रय करके स्फुरणरूप से परिणत होती है, वैसे ही यह मूलाविद्या किसकी आश्रयता करके स्मृतिरूप में परिणत होती है, उसका आश्रय जीव है अथवा साक्षी? प्रथम पक्ष में आत्माश्रय-दोष की आपत्ति है, क्योंकि अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य को ही 'जीव' कहते हैं। अन्तःकरण अविद्या का कार्य है और अविद्या के आश्रित है। वही अन्तःकरण जीवस्वरूप के अन्तर्गत होकर अपनी आश्रयभूता अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है? क्योंकि कोई भी अपने कंधे पर स्वयं आरोहण नहीं कर सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि स्मरण के प्रयोजक संस्कार साक्षी में नहीं हैं। संस्कार अन्तःकरण ही में उत्पन्न हुआ करते हैं, क्योंकि वे

अन्तःकरण की वृत्ति को पैदा करनेवाली सामग्री यद्यपि वर्तमान है, तो भी प्रमात्व के

अनुभव से जन्य हैं। विपयाकार अन्तःकरण में चैतन्य के स्फुरण को 'अनुभव' कहते हैं। वह अनुभव अपने अधिकरण अन्तःकरण में ही संस्कारों को उत्पन्न कर सकता है, अन्यत्र नहीं।

उत्तर—स्मरणरूप अविद्यावृत्ति का साक्षी ही आश्रय है। साक्षी में संस्कारों के न होने पर भी कोई क्षति नहीं; क्योंकि संस्कार स्मरण के निमित्तकारण हैं, उपादान-कारण नहीं। निमित्त-कारण का कार्य के साथ किसी प्रकार से सम्बन्ध आवश्यक है, आश्रयता से ही नहीं। संस्कारों का स्मरण के साथ स्वाश्रयोपहितचिदाश्रितत्वरूप सम्बन्ध है ही। यहाँ स्व-शब्द का अर्थ संस्कार है, उसका आश्रय अन्तःकरण, तदुपहित तत्सन्निहित केवल चैतन्य है। यही 'साक्षी' शब्द का वाच्य है, उसकी आश्रितता स्मृतिरूप अविद्यावृत्ति में है ही।

प्रश्न—मिथ्याभूत शुक्तिरजतानुभव से जायमान संस्कार कहाँ उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—तूलाविद्या का परिणाम जो रजत है, तादृशरजतकारा तूलाविद्या में उसी अविद्या से परिकल्पित जो चित्स्फुरण है, वह मिथ्यानुभव है। वास्तव में चित्स्फुरण इदमाकार अन्तःकरण में होता है। उसी चित्स्फुरण (मिथ्यानुभव) की रजत के आकार को धारण करनेवाली अविद्या अपने में ही कल्पना कर लेती है। तज्जन्य संस्कार जो अविद्या में उत्पन्न हुए हैं, वे भी अन्तःकरण में पर्यवसन्न होते हैं, क्योंकि वहाँपर इदमाकार अन्तःकरण तादृशरजतकारा अविद्या का अधिष्ठान है। इस प्रकार प्रमाजन्य संस्कारों की तरह भ्रमजन्य भी संस्कार अन्तःकरणाश्रित होते हुए स्वाश्रयोपहितचिदाश्रितत्वरूप सम्बन्ध से साक्षी में स्मरणाकार अविद्यावृत्ति को उत्पन्न कर सकते हैं। किञ्च, यथार्थानुभवजन्य अन्तःकरण में उत्पद्यमान संस्कार अन्तःकरणोपादानकारणीभूत मूलाविद्या में उत्पन्न होते हुए अन्तःकरण में देखे जाते हैं। वैसे ही भ्रमस्थल में भी तूलाविद्या में उत्पद्यमान होते हुए संस्कार तूलाविद्या के उपादानकारणीभूत मूलाविद्या में उत्पन्न होते हुए ही तूलाविद्या में देखे जाते हैं। जैसे लाक्षासम्बन्ध से उत्पद्यमान पट की रक्तिमा पटोपादानकारण तन्तुओं में उत्पन्न होती हुई ही पट में देखी जाती है। अन्यथा पट के नाश के उत्तरकाल में तन्तुओं में रक्तिमा का उपलम्भ कैसे होता? ऐसी दशा में भ्रम-प्रमा दोनों प्रकार के अनुभवों से जन्य मूलाविद्या में उत्पद्यमान संस्कार उसी अविद्या की तत्तद्विषयाकार स्मरणरूप वृत्ति को उत्पन्न कर सकते हैं, यह अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। अन्यथा स्वप्नावस्था में अन्तःकरण के वृत्ति-शून्य होने पर अन्तःकरण में रहनेवाले संस्कार उस समय गजाश्वाकार अविद्यावृत्ति में कैसे उपयुक्त हो सकते हैं? स्वप्नकालीन गजाश्वादि-ज्ञान-जन्य संस्कार वृत्ति-शून्य अन्तःकरण में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? और किस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण के लीन होने पर कारणरूप से स्थित अन्तःकरण में सुषुप्तिकालीन सुखादिज्ञान-जन्य संस्कार उत्पन्न हो सकते हैं। संशयात्मक ज्ञान अविद्या की वृत्ति है। स्थाणु में स्थाणु-पुरुपात्मक कोटिद्वय का संशय होने पर वास्तव में वहाँ पुरुष नहीं है, इसलिए पुरुषाकार मनोवृत्ति नहीं हो सकती। दूरत्वादि दोष से उत्थापित तूलाविद्या (स्थाणु का ज्ञान) तो अपने से कल्पित पुरुष के आकार को जैसे ग्रहण कर सकती है, वैसे ही अपने से अकल्पित वहाँ विद्यमान स्थाणु के आकार को भी ग्रहण कर सकती है, क्योंकि कोई बाधक नहीं है। शुक्तिरजतादि

अभावरूपी अवरोध से अन्तःकरण में असमर्थता हो जाती है। क्योंकि अन्तःकरण प्रमाज्ञान का ही आश्रय हुआ करता है।

भ्रमात्मक प्रत्यक्षज्ञान तूलाविद्या (शुक्ति का अज्ञान) की साक्षात् वृत्ति है, यह कहा ही है। इसी प्रकार भ्रमात्मक परोक्षज्ञान भी तूलाविद्या की ही वृत्ति है, जैसे धूलि-कदम्ब में धूमभ्रम से जायमान अग्निरहित देश में अग्नि का ज्ञान, गोसादृश्यभ्रम से जायमान गवयभिन्न प्राणी में 'अयं गवयः' यह ज्ञान है, 'कृपण' शब्द के उच्चारण होने पर भी कृपाण-शब्द के भ्रम से जायमान खड्गज्ञान होता है, क्योंकि प्रातिभासिक रजत की तरह उक्त उदाहरणों में भी तत्तत् स्थल में अविद्यमान अग्नि, गवय और खड्ग के आकार को मन नहीं ग्रहण कर सकता। यद्यपि प्रमात्मक परोक्षज्ञान में विषयदेश में प्राप्त होने के बिना ही मन विषयाकार को ग्रहण कर लेता है, इसलिए विषय की सत्ता और असत्ता से विषयाकार-ग्रहण में कोई विशेष नहीं है; तथापि प्रमात्मक परोक्षज्ञानस्थल में देश अथवा काल से दूर विषय की स्थिति अवश्य है, इसलिए उस विषय का आकार ग्रहण करने के लिए मन समर्थ हो सकता है, क्योंकि वहाँ पर विषयाकार ग्रहण करने के लिए मन को प्रमाण की सहायता है। प्रमाण यथार्थव्याप्यज्ञान, सादृश्यज्ञान और शब्दज्ञान है ही। परोक्षभ्रम में यथार्थ प्रमाण नहीं है, इसलिए वहाँ पर मनोवृत्ति विषयाकार नहीं हो सकती। किन्तु अविद्या की ही वृत्ति होती है—यह सिद्ध हुआ।

यहाँ पर कोई ग्रन्थकार कहते हैं कि 'असुर, अधर्म, अज्ञान, अविद्या' आदि शब्दों में 'न' विरोधार्थक है। इसीलिए सुरविरोधीरूप किसी भावपदार्थ को 'असुर' शब्द कहता है, सुरत्वाभावमात्र से मनुष्य, पशु आदि सभी सुरभिन्नों का बोध नहीं कराता। इसी प्रकार अधर्मादि शब्दों में। वैसे ही अप्रमा-शब्द प्रमात्वाभावमात्र से प्रमाभिन्न सब ज्ञानों का बोध नहीं कराता, किन्तु प्रमाविरोधी कतिपय ज्ञानों का ही बोध कराता है। 'सिंहोऽयं माणवकः' (यह बालक सिंह है), 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः' (यह ब्राह्मण सूर्य है) इत्यादि आहार्यारोपस्थलीय ज्ञान प्रमाभिन्न होता हुआ भी 'अप्रमा'-शब्द से नहीं कहा जाता। यह ज्ञान प्रमा नहीं है, क्योंकि बालक में सिंहत्व का और ब्राह्मण में सूर्यत्व का वास्तव में अभाव है। भ्रम भी नहीं है, क्योंकि सिंहत्व के विरोधी अधिष्ठानगत बालकत्व का ज्ञान है, इसलिए यह ज्ञान भ्रम, प्रमा से विलक्षण ही है। नाम में ब्रह्मारोपस्थल में भी ऐसा ही समझना चाहिये। तर्क भी ऐसा ही है, व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप ही तर्क है। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होने पर यदि अग्नि न होती तो धूम भी न होता इत्यादि रूप। यहाँ पर अग्नि का ज्ञान अनावृत है, इसलिए भ्रम नहीं। और प्रमा भी नहीं है, क्योंकि वहाँ अग्नि का अभाव नहीं है। ऐसा भ्रम-प्रमाविलक्षण ज्ञान प्रमाज्ञान की तरह मन की ही वृत्ति है। अविद्या की साक्षात् वृत्ति नहीं है, क्योंकि जैसे प्रातिभासिक रजतादि ज्ञानस्थल में इन्द्रियदोषादि अविद्याविशेष के उत्थापक होते हैं, वैसा यहाँ कोई दोष है नहीं। जैसे मृत्तिका को घट और शराव के प्रति स्वातन्त्र्येण कारणत्व है, वैसे ही प्रमाज्ञान और भ्रम-प्रमाविलक्षण उक्त ज्ञान के प्रति मन में स्वातन्त्र्येण कार्यत्व-कारणत्व दोनों हैं। स्मरणात्मक ज्ञान तो प्रमा का विरोधी नहीं, किन्तु आहार्य आरोप की तरह भ्रमप्रमा से विलक्षण मनोवृत्ति को ही 'स्मृति' कहना

नामादिषु[1] ब्रह्माध्यासस्त्विच्छाधीनतया भ्रमप्रमाविलक्षणा मनोवृत्तिरेव कामादिवत्। तदुक्तम्[2]—'अत एव चोदनाजन्यत्वान्मानसी क्रियैवैषा न ज्ञानम्' इति। एतेन तर्कस्यापि मनोवृत्तित्वं व्याख्यातम्। व्याप्यारोपेण[3]

चाहिये—यह उनका कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि अप्रमाशब्द में 'नञ्' विरोधार्थक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। किञ्च, स्मृति संस्कारजन्या होती है और संस्कार मनोवृत्ति को उत्पन्न नहीं करा सकता, क्योंकि यह सामर्थ्य प्रमाणों में ही है। संस्कार में तादृश सामर्थ्य का अंगीकार करोगे तो अयथार्थ स्मृतिस्थल में भी मनोवृत्ति की कल्पना करनी पड़ेगी और प्रत्यक्ष भ्रमादि दोषों में भी तादृश सामर्थ्य की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिए प्रमा का विरोधी न होने पर भी स्मृति प्रमाणजन्य नहीं है, इसलिए वह प्रमा नहीं है, वहाँ पर मनोवृत्ति-ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से स्मृति अविद्या की ही वृत्ति है।

प्रश्न—स्मृति की तरह आहार्यारोपस्थलीय ज्ञान में भी प्रमात्व का अभाव होने से मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिये ?

उत्तर—आहार्यारोप ज्ञान ही नहीं, क्योंकि ज्ञान वही हुआ करता है, जिसकी न विधि हो सके न निषेध, क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्षादि साधन-सामग्री के अभाव में विधि होने पर भी ज्ञान नहीं हो सकता और सामग्री के सद्भाव में निषेध भी ज्ञान को रोक नहीं सकता। आहार्यारोप तो करने, न करने एवं विपरीत करने के योग्य है। इसलिए आहार्यारोप मानसी क्रिया ही है, वह ज्ञानरूप मनोवृत्ति नहीं। किन्तु काम-सुखादि की तरह संकल्पविशेषात्मक ज्ञान से अतिरिक्त मनोवृत्ति ही है, स्मृति तो संस्कार का उद्बोध न होने पर सैकड़ों विधियों के होने पर भी नहीं हो सकती और संस्कार का उद्बोध न होने पर तो सौ निषेध होने पर भी रुक नहीं सकती, इसलिए स्मृति ज्ञानरूप ही है। इस प्रकार प्रमात्व का आभास होने से और मनोवृत्ति-ग्राहक प्रमाण के अभाव से स्मृति अविद्यावृत्ति ही है, यह सिद्ध हुआ। यह सब अभिप्राय लेकर कहते हैं—'नामादिष्विति' से।

१ अभिप्राय यह है कि 'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७। १। ५) इस श्रुति में ब्रह्मभावना से नाम की उपासना का प्रतिपादन है। वहाँ पर बालक में सिंहाध्यास की तरह नाम में ब्रह्म का अध्यास न भ्रम है, न प्रमा; किन्तु कामादि की तरह स्वतन्त्र मनोवृत्ति है।

२ श्रीमच्छङ्कराचार्यजी का शारीरक भाष्य (ब्र० सू० भा० १। १। ४) में यह कथन है। 'चोदनाजन्यत्वात्' का अर्थ 'विध्यधीनेच्छाजन्यप्रयत्नसाध्यत्वात्' है।

३ यदि अग्नि न होती, तो धूम भी न होता, यह तर्क का आकार है। यहाँ पर धूमाभाव के व्याप्य अग्न्यभाव का पर्वत में आरोप है। वास्तव में वहाँ अग्नि का अभाव है ही नहीं। अग्नि के अभाव का आरोप करके उसके व्यापक धूमाभाव का आरोप भी धूम की सत्ता में ही किया जाता है। इसलिए यह तर्क विचाररूप स्वतन्त्र मनोवृत्ति है, विषयाकार अन्तःकरण का परिणामरूप ज्ञान नहीं है।

व्यापकप्रसञ्जनात्मकस्य तर्कस्येच्छाधीनतया भ्रमप्रमाविलक्षणत्वादिति । अत एव मनननिदिध्यासनसहिते श्रवणाख्ये वेदान्तवाक्यविचारे 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिविधिरुपपद्यते ।

नामादि में जो ब्रह्माध्यास है, वह तो इच्छाधीन है, अतः वह कामादि के समान भ्रम और प्रमा से विलक्षण मनोवृत्तिरूप ही है । कहा भी है —'चोदनाजन्य होने से यह मानसिक क्रिया ही है, ज्ञान नहीं है ।' भ्रम एवं प्रमा से विलक्षण होने के कारण तर्क भी मनोवृत्तिरूप ही है, क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोपरूप तर्क भी इच्छा के अधीन होने के कारण भ्रम तथा प्रमा से विलक्षण ही है । इसलिए[1] मनन-निदिध्यासन-सहित श्रवणरूप वेदान्त-विचार में ब्रह्म श्रोतव्य है, मन्तव्य है और ध्येय है, इत्यादि विधि उपपन्न होती है ।

तस्य चतुर्विधान्वयव्यतिरेकादितर्करूपत्वात् । दृग्दृश्यान्वयव्यतिरेकः[2] । साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेकः । आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेकः । दुःखिपरम-प्रेमास्पदान्वयव्यतिरेक इति । अनुवृत्तव्यावृत्तान्वयव्यतिरेकोऽपि पञ्चमः । एतच्च

---

१ ज्ञान विलक्षण स्वतन्त्र मनोवृत्तिविशेष तर्क है, ऐसा अङ्गीकार करने से—यह अर्थ है । क्योंकि ज्ञान की न विधि हो सकती है, न निषेध; क्योंकि वह इच्छा के अधीन नहीं और सामग्री होने पर उसे कोई रोक भी नहीं सकता । तर्क की तो विधि हो सकती है, क्योंकि वह ज्ञान से विलक्षण है । 'श्रोतव्यः' इस श्रुति में तर्कविशेष का ही विधान है, क्योंकि 'शब्द सुना है' ऐसी प्रतीति से सिद्ध श्रोत्रेन्द्रियजन्य श्रावणप्रत्यक्षरूप श्रवण यहाँ नहीं है, किन्तु तर्क-रूप है । मनन और निदिध्यासन भी तर्करूप ही हैं । उनमें से आत्मा की एकता की सम्भावना का उपपादक तर्क श्रवण है । इस श्रवण से असम्भावना और विपरीत भावनाकी निवृत्ति होती है । आत्मा की एकता के निश्चय का उपपादक तर्क मनन है । इस मनन से संशय निवृत्त होता है । आत्मा की एकता के प्रत्यक्ष का उपपादक तर्क निदिध्यासन है, इससे आत्मा की एकता के साक्षात्कार का निश्चय हो जाता है ।

२ दृक् और दृश्य, अन्वय और व्यतिरेक । दृक् और दृश्य के अन्वय और व्यतिरेक जिसमें हों, ऐसा विग्रह है । इसी प्रकार साक्षी और साक्ष्य इत्यादि में भी है । भाव यह है कि अन्वय और व्यतिरेक तर्क में बहुत उपकारक होते हैं, क्योंकि उनसे कार्य-कारणभाव का निश्चय होता है । अनुमान के उपजीव्य व्याप्ति का निश्चय भी अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है । और अन्वय-व्यतिरेक ही साहित्यशास्त्र में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के विभाग को सिद्ध करते हैं—यह काव्यप्रकाश के नवम, दशम उल्लास के अन्त में

सर्वेषां वेदान्तानुकूलतर्काणां चतुर्लक्षणमीमांसाप्रतिपादितानामुपलक्षणमित्यभियुक्ताः। विस्तरस्तु वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः।

कहा है। एकता और भेद का ज्ञान भी अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है। अन्वय नाम सम्बन्ध का है, व्यतिरेक नाम अभाव का। दो पदार्थों का सम्बन्ध तो भेद से होता है। एक ही पदार्थ का अपने ही अवस्थाविशेषविशिष्ट के साथ सम्बन्ध तादात्म्य से होता है। सम्बन्ध नियत हो, तो वह तर्क का उपजीव्य होता है। अनियत सम्बन्ध अकिञ्चित्कर है। जैसे—राजगृह में गौ की सत्ता होने पर अश्व की भी सत्ता होती है। दरिद्र के गृह में गौ का अभाव होने पर अश्व का भी अभाव होता है। परन्तु मध्यम अवस्थावाले गृहस्थ के गृह में गौ का अभाव होने पर भी अश्व का दर्शन और अश्व का अभाव होने पर भी गौ का दर्शन होता है। इसलिए गौ और अश्व का सम्बन्ध नियत नहीं है। उससे गौ और अश्व के कार्य-कारणभाव का निश्चय नहीं हो सकता। नियत सम्बन्ध कार्यकारी होता है। जैसे अग्नि की सत्ता में धूम की सत्ता और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव; अथवा जैसे दण्ड की सत्ता में घट की सत्ता और दण्ड के अभाव में घट का अभाव। यहाँ पर धूमोत्पत्तिकालिक अग्नि और धूम का जो सम्बन्ध है, वह नियत है। घट के उत्पत्तिकाल में दण्ड और घट का संवन्ध नियत है और सम्बन्ध का नियम अग्नि की सत्ता होने पर ही धूम की सत्ता होती है, इस प्रकार कारण-अंश में है। अग्नि की सत्ता होने पर धूम की सत्ता होती ही है, इस प्रकार कार्य-अंश में सम्बन्ध का नियम नहीं है, क्योंकि अयोगोलक में व्यभिचार देखा जाता है। व्यतिरेक में भी अग्न्यभाव के होने पर धूमाभाव होता ही है, इस प्रकार कार्याभावांश में नियम है, न कि धूमाभाव होने पर ही अग्न्यभाव होता है, इस प्रकार कारणाभाव-अंश में, क्योंकि अयोगोलक में ही व्यभिचार है। कारण-अंश में सम्बद्ध एवकार से बोधित नियम से कार्य का ही इस प्रकार नियम हुआ करता है कि 'धूम अमुक स्थल में ही है', क्योंकि जिसके साथ एवकार का सम्बन्ध हो, उससे अन्य पदार्थ में नियम होता है, यह न्याय है। इस प्रकार 'यत्सत्त्वे यत्सत्वम्' इस अन्वय का 'यत्सत्त्वे एव यत्सत्त्वम्' इस नियम में तात्पर्य है, वैसे ही यदभावे यदभावः' इस व्यतिरेक का 'यदभावे यदभाव एव' इस नियम में तात्पर्य समझना चाहिये। इन अन्वय-व्यतिरेकों से धूम और अग्नि के कार्य-कारण-भाव का निश्चय होता है, क्योंकि कारण के विना कार्य के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती, इस अर्थ को बालक भी जानते हैं।

इस प्रकार कार्य-कारणभाव का निश्चय होने पर उनके ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव का भी निश्चय हो जाता है। धूम की सत्ता होने पर अग्नि की सत्ता होती है, यह अन्वय है। धूम की सत्ता होने पर ही अग्नि की सत्ता होती ही है, इस ज्ञाप्य-अंश में अवधारण है। धूमाभाव के होने पर ही अग्न्यभाव होता है, यह व्यतिरेक है और यहाँ धूमाभाव के होने पर ही अग्न्यभाव होता है, इस प्रकार ज्ञापकाभाव-अंश में अवधारण होता है। दोनों स्थानों में अवधारण का विपर्यय होने पर अयोगोलक में व्यभिचार है। इन अन्वय-व्यतिरेकों से अग्नि और धूम के ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव का निश्चय होता है, क्योंकि ज्ञाप्य के

मनन-निदिध्यासन-सहित श्रवणरूप वेदान्त-विचार चार प्रकार का अन्वयं-व्यतिरेक आदि तर्करूप ही है। (१) दृग् और दृश्य का अन्वय-व्यतिरेक। (२)

बिना ज्ञापक के स्वरूप की ही सिद्धि नहीं होती। इस अर्थ को बालक भी जानते हैं। इसी प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का विभाग भी जाना जा सकता है, क्योंकि वहाँ पर भी 'यत्सत्वे यत्सत्वम्', 'यदभावे यदभावः' इस प्रकार उक्तरूप अन्वय-व्यतिरेक से ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का निश्चय होता है।

अब अवस्था-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक वस्तु की एकता के साधक होते हैं, यह कहा जाता है। उसमें दो कल्प हैं—कहीं पर दोनों की परस्पर के तादात्म्य से प्रतीति और कहीं पर दोनों में से एक की अन्य के तादात्म्य से प्रतीति और अपर की तादात्म्य से अप्रतीति। 'तादात्म्य से प्रतीति' इसका 'भेद से प्रतीति नहीं' यह अर्थ है। प्रथम कल्प का उदाहरण जाति-व्यक्ति है। घटत्व-जाति घट-व्यक्ति से पृथक् नहीं दिखायी जा सकती और घट-व्यक्ति भी घटत्व-जाति से पृथक् नहीं दिखायी जा सकती। यहाँ पर जाति और व्यक्ति की एकता ही है, उन दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। द्वितीय कल्प का उदाहरण है—सुवर्ण और अङ्गुलीयक। यहाँ पर अङ्गुलीयक सुवर्ण से पृथक् नहीं दिखाया जा सकता। सुवर्ण तो अङ्गुलीयक-अवस्था से पृथक् दिखाया जा सकता है, इसलिए यहाँ पर सुवर्ण से अङ्गुलीयक का पृथक् अस्तित्व नहीं है। सुवर्ण का तो पृथक् अस्तित्व है ही। सुवर्ण के ही अस्तित्व से अङ्गुलीयक में अस्तित्व की प्रतीति होती है। यहाँ पर सुवर्ण का अङ्गुलीयक में अन्वय और अङ्गुलीयक का सुवर्ण में व्यतिरेक है। मृद्घटादि विषय में भी इसी प्रकार मृदादिकों के अस्तित्व से घटादि के पृथक् अस्तित्व का निवारण करना चाहिये। एतादृश तर्क मानसक्रियारूप है, इसलिए इच्छा के अधीन होने से करने, न करने और विपरीत करने योग्य है। इसलिए 'श्रोतव्यः' इस श्रुति में तर्करूप श्रवण का विधान है, श्रावणज्ञानमात्र का विधान नहीं, क्योंकि पूर्वकथित रीति से ज्ञान विधेय नहीं हो सकता। ऐसी दशा में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० १।१) इस श्रुति में जो आत्मा की एकता कही है, उसीका 'द्रष्टव्यः' इस पद से साक्षात्कार कहा जाता है, क्योंकि आत्म-शब्द की प्रत्यभिज्ञा है। और साक्षात्कार की विधि नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रिय-प्रकाशादि साधन-सम्पत्ति की सत्ता में विधि न होने पर भी साक्षात्कार हो जाता है और साधन-सम्पत्ति के अभाव में विधि होने पर भी साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिए साक्षात्कार-विधि का साक्षात्कार के साधन में पर्यवसान है। कहा भी है—

'विधेयत्वेन निर्दिष्टे विधिः स्यात् कुण्ठितो यदि।
प्रयोक्तृतात्पर्यवशात् साधने पर्यवस्यति॥'

'विधेय में यदि विधि कुण्ठित हो जाय, तो प्रयोक्ता के तात्पर्य के वश से विधि का उसके साधन में पर्यवसान होता है।' जैसे 'घटं पश्येत्' (घट को देखे) ऐसा कहने पर विधि का पर्यवसान चक्षुःसन्निकर्ष में होता है।

प्रश्न—इस दशा में भी यहाँ पर विधि की अनुपपत्ति ही है, क्योंकि आत्मा की एकता के साक्षात्कार का कोई साधन नहीं। यदि कोई साधन हो, तो साध्य-साधनभेद के विद्यमान होने से आत्मा की एकता का साक्षात्कार ही नहीं हो सकता, क्योंकि वही आत्मसाक्षात्कार कहा जाता है, जिसमें साक्षात्कर्त्ता, साक्षात्कारविषय, साक्षात्कार और तत्साधन इस प्रकार का कोई भेद प्रतीत न होता हो।

उत्तर—आत्मा के साक्षात्कार का कोई साधन नहीं है, यह सत्य है। प्रतिबन्ध के निवारक में यहाँ साधनत्व का उपचार है। जैसे निघर्षण से दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। यहाँ पर निघर्षण प्रतिबिम्बका साधन है, क्योंकि यद्यपि दर्पण स्वभाव से ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, तो भी उसके प्रतिबन्धकरूप मल को दूर करने में निघर्षण का उपयोग है। 'आत्मा द्रष्टव्यः' यहाँ पर आत्मा से भिन्नत्वेन ज्ञायमान पदार्थ में जायमान प्रवृत्ति को दूर करना चाहिये—इसमें तात्पर्य है। विषयों में आसक्ति ही आत्मा की एकता के साक्षात्कार की प्रतिबन्धिका है। यही 'शारीरक' के 'समन्वयाधिकरण' के शेष में श्रीमदाचार्य शङ्कर ने कहा है—'किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वाक्यानि? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः' इति। यद्यपि इस प्रकार विषयदोपदर्शन से विषयासक्ति की निवृत्ति होने पर उदासीनता हो सकती है, तथापि उदासीनतामात्र से आत्मैक्यसाक्षात्कार नहीं होता, उसके लिए क्या करना चाहिये? इसपर श्रुति कहती है—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति। यहाँ पर श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन मानसक्रियारूप हैं। इसलिए इनका विधान हो सकता है।

प्रश्न—श्रवण की विधि कैसे? वह तो श्रावणप्रत्यक्षरूप ज्ञान ही है, मानसी क्रिया नहीं। इसका उत्तर कोई ऐसा करते हैं—श्रवण में विधि अनुपपन्न होती हुई श्रवण के साधन गुरूपसदनादि में पर्यवसन्न होती है। वास्तव में 'श्रोतव्यः' इसका श्रावणप्रत्यक्षमात्र में तात्पर्य नहीं, क्योंकि श्रवणेन्द्रियमात्रसाध्य श्रवण तो पशु-पक्ष्यादिसाधारण हैं। इसलिए 'श्रोतव्यः' इस श्रुति का अर्थभावना में भी तात्पर्य है। अर्थभावना मानसी क्रिया है, ज्ञानरूप नहीं। वह तर्कविशेषरूप है, यह पहले कह चुके हैं। साधक-बाधक युक्तियों के अनुसन्धानपूर्वक चिन्तन को 'मनन' कहते हैं। यदि वह चिन्तन अनवरत किया जाय, तो उसे 'निदिध्यासन' कहते हैं। ये श्रवण, मनन आदि तीनों तर्कविशेषरूप ही हैं, यह पहले कहा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यों का अर्थ जिस समय गुरु लोग कहें, उस समय आत्मा की एकता की भावना करनी चाहिए।

प्रश्न—आत्मा की एकता कैसे हो सकती है, क्योंकि उसकी एकता का कभी अनुभव भी नहीं हुआ, भावना तो दूर रही। प्रत्युत अनुभव के अनुसार आत्मा की एकता के विरुद्ध आत्मभेद की ही सम्भावना हो सकती है। ऐसी दशा में आत्मा की एकता की भावना कैसे?

उत्तर—उक्त असम्भावना और विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए श्रुति ने कृपापूर्वक 'श्रोतव्यः' कहा है। उसके अनन्तर संशय की निवृत्ति के लिए 'मन्तव्यः' और आत्मसाक्षात्कार

उसके अवधिरूप (मृत्तिका आदि) का अन्वय-व्यतिरेक। (४) दुःखी और परम

के निश्चय के लिए 'निदिध्यासितव्यः' कहा है। आत्मा की एकता के निश्चय के उपपादक तर्क-विशेष को मनन कहते हैं और आत्मा की एकता के साक्षात्कार के उपपादक तर्कविशेष को निदिध्यासन कहते हैं। वह तर्क दृश्यान्वय-व्यतिरेकादिरूप है। जैसे घट में मृत्तिका का अन्वय नियत है, मृत्तिका में घट का अन्वय नियत नहीं, क्योंकि मृत्तिका कभी भी घट से व्यभिचरित नहीं होती, घट तो मृत्तिका का व्यभिचारी है, इसलिए मृत्तिका अन्वयिनी और घट व्यतिरेकी है। इन अन्वय-व्यतिरेकों से जैसे मृत्तिका की अपेक्षा घट का पृथक् अस्तित्व नहीं है, वैसे ही दृशि की अपेक्षा दृश्य का पृथक् अस्तित्व नहीं है, क्योंकि दृश्यत्व-अवस्था को प्राप्त हुए दृश्य में दृशि का सम्बन्ध नियत है। दृशि में तो दृश्य का सम्बन्ध नियत नहीं है, क्योंकि दृशि स्वरूप से ही दृक्रूप है। दृश्य घट-पटादि तो स्वरूप से पृथिव्यादि विशेषरूप पार्थिव घट-पटादिरूप ही हैं। वे स्वरूप से दृश्य नहीं हैं, दृशि के सम्बन्ध से दृश्यता को प्राप्त होते हैं। ऐसी दशा में दृश्यत्व-अवस्था को प्राप्त हुए दृश्यों का दृशि की अपेक्षा पृथक् अस्तित्व नहीं है, अर्थात् दृश्यत्व मिथ्या है।

प्रश्न—घटादिगत दृश्यत्व के मिथ्या होने पर भी स्वरूप से घटादि सत्य हैं। ऐसी दशा में आत्मा की एकता की सिद्धि कैसे हो सकती है?

उत्तर—घटादि के सत्य होने पर भी आत्मा की एकता के साक्षात्कार में कोई बाधक नहीं है। घटादि के सत्य होने पर भी एकता के साक्षात्कार के विरोधी दृश्यत्व के मिथ्या होने से द्वैत की प्रतीति नहीं हो सकती। द्वैत-प्रतीति ही एकता के साक्षात्कार की विरोधिनी है, क्योंकि घटादि पदार्थ आत्मा की एकता के विरोधी हैं, आत्मा की एकता के साक्षात्कार के विरोधी नहीं। तादृश साक्षात्कार का विरोधी तो उनका दृश्यत्व अथवा साक्ष्यत्व है। दृश्यत्व और साक्ष्यत्वरूप से जब द्वितीय वस्तु नहीं है, तब आत्मा की एकता के साक्षात्कार में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वास्तव में तो घटादि पदार्थ स्वरूप से भी मिथ्या ही हैं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकानुगत तर्क से घटादि मिथ्या सिद्ध होते हैं। दृश्यत्व की तरह तुल्यन्याय से द्रष्टा का द्रष्टृत्व भी मिथ्या ही है। इस प्रकार अन्वयी साक्षी से साक्ष्यत्व-अवस्था को प्राप्त हुए साक्ष्य का पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात् साक्ष्यत्व मिथ्या है, साक्षी तो सत्य है। वह द्रष्टा नहीं, किन्तु दृक्रूप है। इसीलिए उसका साक्ष्य में नियत अन्वय है। इसी प्रकार आगमापायी (उत्पत्तिविनाशशाली) घटादि में उनकी अवधिभूत मृत्तिका का अन्वय नियत है, मृत्तिका में तो घट का अन्वय व्यभिचारी है। इसलिए मृत्तिका में घट का व्यतिरेक है। ऐसी दशा में आगमापायी घट का उसकी अवधिभूता मृत्तिका के अस्तित्व की अपेक्षा पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात् आगमापायी मृत्तिका का अवस्था-विशेषरूप यह घट नामवाला पदार्थ मिथ्या है, यह सिद्ध होता है। अवस्था-विशेष के मिथ्या होने पर उसका सहभावी 'घट' यह नाम भी मिथ्या सिद्ध होता है। इस प्रकार नाम-रूपात्मक सकल जगत् के मिथ्या होने पर आत्मा की एकता की सिद्धि में कोई बाधक नहीं है। इस प्रकार आत्मभिन्न सकल जड-जगत् का मिथ्यात्व और आत्मा की एकता का सत्यत्व तर्क से सिद्ध हो गया।

प्रश्न—एक भी आत्मा यदि स्वरूप और अवस्थाविशेषवत्त्व से सत्य है, तो दुःखित्व-अवस्थाविशिष्ट भी आत्मा सत्य होगा। ऐसी दशा में मोक्ष में दुःख की निवृत्ति कैसे? इसलिए आत्मसाक्षात्कार होने पर भी मोक्ष दुर्घट ही है।

उत्तर—आत्मा स्वरूप से ही सत्य है, अवस्थाविशेषवत्त्व से तो आत्मा भी मिथ्या ही है। यह दुःखित्व और परमप्रेमास्पदत्व के अन्वय-व्यतिरेक से सहकृत तर्क द्वारा सिद्ध होता है। जब-जब आत्मा की दुःखित्वावस्था होती है, तब-तब नियम से आत्मा परमप्रेमास्पद होता ही है। और परमप्रेमास्पदत्व का अनुसन्धान करने पर दुःख का दुःखत्व ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार आत्मस्वरूप परमप्रेमास्पद का सब अवस्थाओं में आत्मा में नियम से अन्वय है। दुःखित्व-अवस्था तो आत्मा के स्वरूप की व्यभिचारिणी है. क्योंकि दुःखित्वावस्था सदा नहीं रहती। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा दुःखी है, क्योंकि आत्मभिन्न किसी पदार्थ में दुःख का सम्भव नहीं है। परन्तु दुःखी होता हुआ भी आत्मा परमप्रेमास्पद ही है। 'पञ्चदशी' में कहा है—

'तत्प्रेमाऽऽत्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दताऽऽत्मनः ॥ १ ॥' (१ । ६)

'क्योंकि जो पुरुष जिस समय अपने आत्मा में दुःखित्व का अनुसन्धान करता है, उसी समय उसे आत्मा में परमप्रेमास्पदत्व का भी अनुसन्धान होता ही है। मूर्छावस्था में आत्मा के परमप्रेमास्पदत्व का अनुसन्धान नहीं है, परन्तु वहाँ पर दुःखित्व का भी अनुसन्धान नहीं है। आत्मा स्वरूप से ही परमप्रेमास्पद है, किसी धर्मान्तर से नहीं। ऐसी दशा में परमप्रेमास्पदत्व आत्मा का स्वरूप ही है। दुःखित्व-अवस्था में भी उसका अन्वय रहता है, इसलिए परमप्रेमास्पदत्व सत्य है और दुःखित्वावस्था मिथ्या है—यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार सुखित्व-अवस्था भी मिथ्या ही है। किंतु मुमुक्षु को स्वरूप से वह त्याज्य नहीं है, प्रत्युत दुःख के सम्बन्ध से त्याज्य होती है। इसलिए सुखित्व-अवस्था के मिथ्या होने पर भी उसका यहाँ पर निर्देश नहीं किया। मुख्यतया त्याज्य दुःख है और वह मिथ्या है, इसलिए उसका त्याग भी सुकर है। अतएव दुःखित्वावस्था का यहाँ प्रदर्शन किया है। उक्त चतुर्विध तर्कों और इसी प्रकार के अन्य सब तर्कों का मूलभूत सर्वोपजीव्य अनुवृत्त-व्यावृत्तान्वय-व्यतिरेकरूप तर्क है। दृश्य में दृशि अनुवृत्त है। दृशि में तो दृश्य व्यावृत्त है। साक्षी साक्ष्य में अनुवृत्त है, किंतु साक्ष्य साक्षी से व्यावृत्त है। आगमापायी में उसकी अवधि की अनुवृत्ति है और अवधि में आगमापायी की व्यावृत्ति है। दुःखी में परमप्रेमास्पद का सम्बन्ध है, लेकिन परमप्रेमास्पदस्वरूप में दुःखित्व का अभाव है।

अब और दूसरी योजना कहते हैं—दृक् और दृश्य का क्रम से अन्वय और व्यतिरेक में सम्बन्ध है, अर्थात् दृशि का अन्वय में और दृश्य का व्यतिरेक में सम्बन्ध है। 'अन्वय' शब्द का अर्थ सम्बन्ध और 'व्यतिरेक' शब्द का अर्थ अभाव है। इसी प्रकार साक्षी-साक्ष्यादि में क्रम से अन्वय समझना चाहिये। इस तर्क-चतुष्टय से मूल कारण में भावरूपत्व, चिद्रूपत्व, नित्यत्व

पाँचवाँ है। चतुर्लक्षणमीमांसा[1] में प्रतिपादित सभी वेदान्त के अनुकूल तर्कों का यह उपलक्षण है। इसका विस्तार 'वेदान्तकल्पलतिका' में देखना चाहिये।

और आनन्दरूपत्व सिद्ध होता है। दृशि का सब पदार्थों से सम्बन्ध है। इसलिए दृशि भाव-रूप है। दृश्य पदार्थ आदि और अन्त में अभावग्रस्त होने से मध्य में भी अभावरूप ही हैं। इससे शून्यवाद का निरास हो गया। तथाहि—कारण ही विशेष-अवस्था को पाकर कार्य बनता है। उन-उन अवस्था-विशेषों में कारण का स्वरूप से सम्बन्ध है। जैसे प्रातिभासिक रजत शुक्ति का ही अविद्याकृत अवस्थाविशेष है, वैसे ही सकल दृश्य पदार्थ दृशि के ही अविद्याकृत अवस्थाविशेष हैं। अतः दृक्रूप भाव-पदार्थ की कारणता सिद्ध होती है। इसलिए अर्थात् ही शून्यवाद का निरास हो गया। इसी प्रकार सकल साक्ष्य पदार्थ साक्षी के अवस्था-विशेष ही हैं। इसलिए मूल कारण साक्षीरूप सिद्ध होता है। साक्षी चैतन्यमात्रस्वरूप है, इससे प्रधान-परमाणवादि जडकारण-वादों का निरास हो गया। इसी प्रकार सकल अनित्य पदार्थ नित्य के अवस्थाविशेष हैं, इसलिए मूलकारण के नित्य सिद्ध होने पर क्षणिकवाद का निरास हो गया। इसी प्रकार दुःखित्व सकल परमप्रेमास्पद का अवस्था-विशेष है, इसलिए मूलकारण आनन्दमय है—यह सिद्ध होता है। इससे आत्मा के सुख-दुःख स्वाभाविक हैं, इस स्वभाववाद का निरास हो गया।

१ यहाँ 'लक्षण' शब्द अध्यायवाचक है। चतुर्लक्षणी = चतुरध्यायी। उक्त चतुर्विध तर्कों तथा तन्मूलक अन्य तर्कों का भी अवलम्बन करके श्रीमद्बादरायणाचार्य ने अध्याय-चतुष्टयात्मक ब्रह्ममीमांसा-शास्त्र की रचना की है। उनमें से दृग्दृश्यान्वय-व्यतिरेकरूप प्रथम तर्क का अनुसरण करके ब्रह्मसूत्रकार ने 'समन्वय'नामक प्रथम अध्याय में श्रुतियों का अद्वैत ब्रह्म में समन्वय दिखाया है। प्रधान (प्रकृति) दृश्य है और उक्त तर्क से दृश्य के मिथ्यात्व का निश्चय है, इसलिए प्रधान जगत् का मूलकारण है, इस प्रतिपादन में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है—इसका 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से आचार्य ने कथन किया है। इसी प्रकार 'अविरोध'नामक द्वितीय अध्याय में प्रधानता से द्वितीय तर्क का अनुसरण करके द्वैतदर्शनों का निराकरण किया है, क्योंकि सब द्वैतदर्शन भेदमूलक हैं और भेद स्वयंप्रकाश नहीं, किन्तु परप्रकाश है। इसलिए भेद का कोई साक्षी है—यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि भेद की सत्ता में साक्षी ही तो प्रमाण हो सकता है। अतः भेद साक्ष्य है और साक्ष्य पदार्थ उक्त तर्क से मिथ्या है, यह सिद्ध हो चुका है, इसलिए भेद मिथ्या है। वैसे ही 'साधन'नामक तृतीय अध्याय में प्रधानता से तृतीय तर्क का अनुसरण करके मोक्ष के साधनों का विचार किया है। अन्तरङ्ग-बहिरङ्गरूपी साधनों का उपयोग तभी हो सकता है, यदि वैराग्य हो। वैराग्य विषयों में दोषदर्शन से स्थिर होता है। सब दोषों में से मिथ्यात्व मुख्य दोष है। शब्द-स्पर्शादि आगमापायी सकल पदार्थों के मिथ्यात्व का निश्चय उक्त तर्क से होता है। जब मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है, तब विषयों में आसक्ति शिथिल हो जाती है। उस समय श्रवणादि साधनों का उपयोग होता है। इसी प्रकार 'फल'नामक चतुर्थ अध्याय में प्रधानता से चतुर्थ तर्क का अनुसरण करके मोक्षावस्था में सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप की

तदेवं सुषुप्त्यवस्थायामस्त्यानन्दभोगः। तद्भोक्ता च सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञ इत्युच्यते ; प्रकर्षेण अज्ञत्वात्, तदानीं विशेषावच्छेदाभावेन प्रकृष्टज्ञत्वद्वा। तदा चाऽन्तःकरणस्य लयेऽपि तत्संस्कारेणावच्छेदान्न जीवाभावप्रसङ्गः। न वा सर्वज्ञत्वापत्तिः।

इस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में आनन्द का उपभोग[1] है। उक्त आनन्द का उपभोग करनेवाला[2] सुषुप्ति-अवस्था का अभिमानी जीव अत्यन्त[3] अज्ञ होने के कारण या सुषुप्ति में सुखाकार, ज्ञानाकार आदि तीन वृत्तियों से अन्य विषयविशेष का अवच्छेद न होने से प्रकृष्ट ज्ञानवान् होने के कारण प्राज्ञ[4] कहलाता है। उस समय

सम्पत्ति फल बतलाया है। चतुर्थ तर्क से जब दुःखित्वावस्था मिथ्या निश्चित हो जाती है, तब परमप्रेमास्पद आत्मस्वरूप की सम्पत्ति होती है—यह समझना चाहिये। इस प्रकार क्रमप्राप्त सुषुप्ति का लक्षण और सुषुप्ति-अवस्था में परस्पर से असम्बद्ध अविद्या की तीन वृत्तियों का उपपादन करके और उसके प्रसङ्ग से प्रमाज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति है और प्रमाभिन्न सब ज्ञान अविद्या की वृत्ति हैं, यह उपपादन करके अब सुषुप्ति-अवस्था के अभिमानी जीवात्मा के स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं—'तदेवम्' इत्यादि ग्रन्थ से।

१ आनन्द-भोग = सुख-दुःखाकारवृत्ति।

२ उसका आश्रय।

३ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में क्रम से अज्ञान की वृद्धि होती है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है। पक्षान्तर कहते हैं—'तदानीं' इस ग्रन्थ से।

४ 'प्रज्ञ' को ही 'प्राज्ञ' कहते हैं। यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय है। रज्जु में रज्जु के स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले सर्पाभास की अपेक्षा केवल रज्जु के स्वरूप का अज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे भय, स्वेद और कम्प नहीं होते। साथ ही जिस पुरुष को केवल रज्जु के स्वरूप का अज्ञान ही है, उसको यदि कोई दूसरा पुरुष कह दे कि यह रज्जु है, तब उसी समय रज्जु के स्वरूप का अज्ञान अनायास नष्ट हो जाता है। किन्तु जिसको रज्जु में सर्प का भ्रम है, उस पुरुष को रज्जु के स्वरूप का ज्ञान करवाने के लिए उसका भ्रम भी दूर करना पड़ता है, क्योंकि रज्जु का स्वरूप सर्परूप अविद्या के परिणामविशेष से ढका हुआ है। वस्त्रधारी पुरुष की अपेक्षा दिगम्बर पुरुष शीघ्र स्त्री का वेष धारण कर सकता है। ऐसी दशा में सुषुप्ति-अवस्थावाला प्रत्यक् आत्मा आत्मस्वरूप के ज्ञान में जाग्रत् जीव की अपेक्षा बहुत निकटवर्त्ती है, यह भाव है। किञ्च, सुषुप्ति-अवस्था में यद्यपि त्रिपुटी होती है, क्योंकि सुख साक्षिभास्य है, तथापि उस त्रिपुटी का त्रिपुटीस्वरूप से भान नहीं होता। क्योंकि साक्षी की सुखवृत्तियों का सम्बन्ध उस समय विद्यमान होता हुआ भी अकिञ्चित्कर है। कारण संबन्ध करानेवाला अहङ्कार सुषुप्ति-अवस्था में लीन हो चुका है—यह पहले

अन्तःकरण[1] के लीन हो जाने पर भी अन्तःकरण के संस्कार का सम्बन्ध होने से जीव के अभाव का प्रसङ्ग नहीं होता और सर्वज्ञत्वापत्ति भी नहीं होती।

ईशाभेदप्रतिपादनं च शरीरेन्द्रियाद्यभिमानरहितत्वेनोपचारात्। तत्संस्कारस्य च निमित्तकारणत्वेन साद्याश्रितकार्योपादानकोटावप्रवेशान्न तद्भेदेन साक्षिभेदः।

सुषुप्ति में 'सता सोम्य ! सम्पन्नो भवति' इस श्रुति द्वारा ईश्वर का[2] अभेद प्रति-

---

कह चुके हैं। इसलिए ऐसी त्रिपुटी का, जो पहले ही त्रिपुटीरूप से प्रतीत नहीं होती, उच्छेद करना सहज है। जैसे कन्या की जीवित-अवस्था में मूर्ख भी जामाता छोड़ा नहीं जा सकता, कन्या के मर जाने पर उसका छोड़ना कुछ भी कठिन नहीं होता!

प्रश्न—जीव को जीवत्व देनेवाली उपाधि अविद्या अथवा अन्तःकरण है, ये दो पक्ष पहले कहे जा चुके हैं। अविद्या जीव की उपाधि है, इस पक्ष में सुषुप्ति-अवस्था में भी अविद्या का विलय न होने से मोक्षपर्यन्त जीवभाव बना रहता है। अन्तःकरण जीव का उपाधि है, इस पक्ष में तो सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण का विलय होने से जीवभाव नहीं रहता, प्रत्युत जैसे प्रतिबिम्बवाद में दर्पणरूपी उपाधि का नाश होने पर प्रतिबिम्बभाव से रहित होकर मुख केवल बिम्बरूप ही रहता है, वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण के विलीन होने पर, प्रतिबिम्बभाव से रहित होने पर, चैतन्य केवल बिम्बभूत ईश्वरस्वरूप ही है। इसलिए उस समय जीव में सर्वज्ञता होनी चाहिये। अवच्छेदवाद में भी जैसे मठान्तर्वर्त्ती घटाकाश घट का नाश होने पर मठाकाशस्वरूप हो हो जाता है, वैसे ही अविद्यापरिणामभूत अन्तःकरण से अवच्छिन्न चेतन अन्तःकरण का नाश होने पर अविद्यावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप ही है। अवच्छेदवाद में वही ईश्वर है, इसलिए उसका जीवभाव न रहने से सुषुप्ति-अवस्था में सर्वज्ञता होनी चाहिये, यह दोष अवच्छेदवाद में भी तदवस्थ है। उत्तर देते हैं—'तदा च' इत्यादि ग्रन्थ से।

१ यद्यपि सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण नहीं है, तथापि अन्तःकरण के संस्कार अविद्या में विद्यमान हैं। उन संस्कारों से अवच्छिन्ना ही अविद्या सुषुप्ति-अवस्था में जीव की उपाधि है। जैसे दग्ध रज्जु बन्धन में असमर्थ होती हुई भी सम्वलन (ऐंठन) के संस्कार का त्याग नहीं करती, वैसी ही स्थिति सुषुप्ति में अविद्या की है, यह भाव है।

प्रश्न—इस प्रकार सुषुप्ति में जीवभाव के स्थिर होने पर 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इस श्रुति में सुषुप्ति-अवस्था में जीव का ईश्वर से जो अभेद-प्रतिपादन किया है, वह असङ्गत होगा? इसपर उत्तर देते हैं—'ईशाभेद०' इस ग्रन्थ से।

२ सुषुप्ति-अवस्था में उक्त रीति से जीवत्वप्रापक अविद्यारूपी उपाधि के विद्यमान होने से उस काल में वस्तुतः जीव का ईश्वर के साथ अभेद नहीं होता, किन्तु उस समय

पादित हुआ है, वह शरीर, इन्द्रिय आदि के अभिमान न रहने के कारण औपचारिक है। अन्तःकरण के संस्कार[1] स्मृति में निमित्तकारण हैं। साक्षिमात्र के आश्रित होने के कारण स्मृतिरूप कार्य के उपादान-कोटि में प्रवेश न होने से संस्कारों के भेद से भी साक्षी का भेद नहीं हुआ।

केवल ईश्वर की तरह जीव में शरीर के अभिमान का अभाव होता है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में श्रुतियों में प्रतिपादित जीव-ईश्वर का अभेद गौण है। जैसे अधिक सम्पत्ति होने पर, 'यह पुरोहित राजा बन गया है' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में जीव और ईश्वर की एकता भी समझनी चाहिये। जाग्रदवस्था में भी अन्तःकरणरूपी उपाधियों के भेद से ही जीव-ईश्वर का भेद है, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरण की तरह उन अन्तःकरणों के अविद्यागत नाना संस्कार विद्यमान हैं। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में भी औपाधिक भेद विद्यमान है। जीवत्वप्रापक उपाधि अविद्या है, इस पक्ष में तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जीवेश्वर का अभेद अभीष्ट ही है।

प्रश्न—सुषुप्ति-अवस्था में संस्कारों की सत्ता के स्वीकार करने पर तादृश संस्कारों के अनुरूप ही 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह स्मृति होती है, यह अङ्गीकार करना होगा, क्योंकि स्मरण आदि संस्कार के अनुरूप हुआ करते हैं—यह प्रसिद्ध ही है और स्मृति, संशय, विपर्यय इनका आश्रय साक्षी है, यह पहले कह चुके हैं। ऐसी दशा में जैसे प्रातिभासिक रजत अपने आश्रयीभूत शुक्ति के स्वरूप के अन्तर्गत जो शुक्ति का आकार है, उसके अनुरूप ही देखा जाता है, वैसे ही यहाँ पर स्मृति आदि स्वाश्रयीभूत साक्षी के स्वरूप के अन्तर्गत संस्कारों के अनुरूप ही हैं, यह कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संस्कार यदि साक्षी के स्वरूप के अन्तर्गत हों, तो संस्कारों के नानात्व से साक्षी के भेद का प्रसङ्ग होगा। साक्षी का भेद तो इष्ट नहीं है, क्योंकि साक्षी एकविध ही है, यह पहले कह चुके हैं। ऐसी दशा में 'यहाँ व्यवस्था कैसे होगी?' ऐसी शङ्का करने पर उत्तर देते हैं—'तत्संस्कारस्य च' इत्यादि ग्रन्थ से।

१ साक्षी के आश्रित जो स्मरणादि कार्य हैं, उनके उपादान-कारणस्वरूप, यह अर्थ है। भाव यह है कि संस्कारादि उपाधि के सन्निहित भी साक्षी चिन्मात्ररूप ही है, उपाधिविशिष्ट नहीं। स्मरण का उपादान-कारण साक्षिमात्र है, यह वार्तिककार का मत है। दूसरे आचार्य यह मानते हैं कि साक्षी चिन्मात्र ही है, स्मरण तो साक्षी और अन्तःकरण-संस्कार इन दोनों के आश्रित रहता है। अन्य आचार्य कहते हैं कि स्मरण तो साक्षीमात्र में ही रहता है। साक्षी का स्वरूप अन्तःकरणसंस्कारविशिष्ट चैतन्य है। इनमें से वार्तिककार ही का मत समीचीन है। इतर दोनों मतों में अन्तःकरण के संस्कार स्मरण के आश्रय कहे हैं, यह सम्भव नहीं, क्योंकि स्मरण मूलाविद्या का वृत्तिविशेष है और मूलाविद्या के परिणामभूत अन्तःकरण-संस्कार उसके आश्रय हैं, ऐसा कहने पर आत्माश्रय-दोष होता है। किञ्च, अन्य मत में संस्कारों का साक्षी के स्वरूप में प्रवेश ही नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कार साश्रय हैं। अन्य मत भी

जागरणे त्वन्तःकरणस्य प्रमात्राश्रितकार्योपादानकोटौ प्रवेशात्तद्भेदेन प्रमातृभेद एव । साक्षिण एव चाधिकोपाधिविशिष्टस्य प्रमातृत्वान्नानुसन्धानानुपपत्तिरिति ।

'मातृमानप्रभेदेऽपि प्रतिदेहं न भिद्यते ।
साक्षी वाह्यार्थवद् यस्मात्स आत्मेत्युच्यते ततः ॥
व्यभिचारो मिथो यद्वत्प्रमात्रादेः ससाक्षिकः ।
सर्वमात्राद्यभावस्य साक्षित्वान्न तथाऽऽत्मनः ॥'

(बृ० वा० ३।४।५४, ५५)

युक्त नहीं है, क्योंकि स्मरण वृत्तिविशेषविशिष्ट अविद्या में चैतन्य के स्फुरण को कहते हैं। स्फुरण का आश्रय चैतन्यमात्र है। क्योंकि जड़वस्तु मूर्त हो अथवा अमूर्त, धर्म हो अथवा धर्मी, किसी भी अवस्था में स्वयं स्फुरित नहीं होती। एक ही चैतन्य का सर्वत्र तत्तद् घटादिरूप से स्फुरण होता है। स्मरणावस्था में संस्कारों का प्रकाश कभी नहीं होता। संस्कार तो केवल अविद्या की वृत्ति के ग्रहण में कारणमात्र हैं, एतावता संस्कार कथमपि स्फुरण के आश्रय नहीं हो सकते। इतने प्रबन्ध से स्मरणरूप 'कार्यभूत' अविद्यावृत्ति का उपादान-कारणरूप आश्रय केवल साक्षी ही है। इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में जीवभेद होने पर भी साक्षी का भेद नहीं है, यह सिद्ध हो गया।

प्रश्न—संस्कार स्मृति के निमित्तकारण हैं, ऐसा मानने पर स्मरणरूपी कार्य संस्कारों के स्वरूप के अनुसार कैसे हो सकता है? क्योंकि घट अपने निमित्तकारणभूत दण्ड में रहनेवाली स्थूलता अथवा कृशता का अनुसरण नहीं करता। स्मरण तो संस्कारों के अनुरूप हुआ करता है, संस्कारों को निमित्त मानने में वह उनके अनुरूप नहीं हो सकता।

उत्तर—स्मरणरूप अविद्या-वृत्ति का उपादान-कारण विवर्त्तोपादान और परिणामी उपादान के भेद से दो प्रकार का है। प्रथम साक्षीमात्र है और द्वितीय अविद्या है। संस्कार अन्तःकरण में उत्पन्न होते हुए भी तादृश अन्तःकरण की मूलकारणीभूत अविद्या में पर्यवसन्न होते हैं, यह कहा है। ऐसी दशा में परिणामी उपादानकारणीभूत अविद्यागत संस्कारों के स्वरूप का अनुसरण स्मरणरूपी कार्य के लिए युक्त ही है।

प्रश्न—इस दशा में 'संस्कारों का कार्य की उपादानकोटि में प्रवेश नहीं है' मूलकार की यह उक्ति असङ्गत होगी।

उत्तर—यहाँपर कतिपय ग्रन्थकार कहते हैं कि मूलकार को उपादानपद से विवर्त्तोपादान विवक्षित है। दूसरे लोग कहते हैं कि संस्कारों के परिणामी उपादानकारणीभूत अविद्यागत होने पर भी संस्कार उपादानकारण के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं हैं, क्योंकि वार्तिककार के मत में भी घटोपादानकारणीभूत मृत्तिका में वर्तमान मृत्तिकात्वजाति उपादानकारण के स्वरूप में अन्तर्गत नहीं है, प्रत्युत अन्यथासिद्ध होने से मृत्तिकात्वजाति घट का निमित्त-

इति वार्तिककारपादैर्व्यवहारदशायामपि साक्षिभेदनिराकरणात् सुषुप्तौ तद्भेदकल्पनं केचिन्मन्यन्ते; तन्महामोह एवेत्यवधेयम् ।

जागरण[1] में तो अन्तःकरण का प्रमाता में रहनेवाले स्मरणरूपी कार्य के उपादानकोटि में प्रवेश है, इसलिए अन्तःकरण के भेद से प्रमाताओं का भेद ही है। मनःस्वरूप उपाधि से विशिष्ट साक्षी[2] ही प्रमाता है। अतः स्मरण की कोई अनुपपत्ति नहीं हुई।

'प्रत्येक देह में प्रमाता[3] एवं प्रमाण के भेद होने पर भी बाह्य घटादि के समान साक्षी का भेद नहीं होता, वह साक्षी आत्मा कहा जाता है। जैसे प्रमाता, प्रमाण

कारण भी नहीं है। प्रकृत में स्मरण के निमित्तकारणीभूत संस्कार उपादानकारण में रहते हुए अपने स्वरूप के अनुसार ही कार्य को उत्पन्न करते हैं।

१ इन्द्रियवृत्तिकालीन अर्थोपलम्भ को 'जागरण' कहते हैं, वहाँपर घटादि पदार्थों का जो उपलम्भ है, वही प्रमाता में रहनेवाला कार्य है। वह उपलम्भ अन्तःकरण की वृत्ति के अधीन है। इसलिए प्रमाता के उपाधिभूत अन्तःकरण का प्रमाज्ञान के उपादानभूत प्रमाता के स्वरूप में प्रवेश आवश्यक ही है। ऐसी दशा में अर्थात् ही अन्तःकरण के भेद से प्रमाता का भेद सिद्ध होता है।

प्रश्न—सर्वानुसन्धाता साक्षी तो एक है, प्रमाता जीव तो प्रत्येक शरीर में अन्तःकरण के भेद से भिन्न ही है। इस प्रकार प्रमाता और साक्षी का भेद सिद्ध है, तब प्रमाता से अनुभूत पदार्थ का साक्षी को स्मरण कैसे होता है? क्योंकि अन्य से अनुभूत पदार्थ का अन्य को स्मरण नहीं हुआ करता। उत्तर देते हैं—'साक्षिण एव' इस ग्रन्थ से।

२ अधिक उपाधि है वृत्तिसहित मन; इसलिए साक्षी और प्रमाता का सर्वथा भेद नहीं, किंतु चिन्मात्र साक्षी ही अधिक कञ्चुक में प्रवेश करने से प्रमाता बन गया है। उक्त अर्थ में वार्तिककार की सम्मति दिखाते हैं—'मातृमान०' इत्यादि ग्रन्थ से।

३ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि देहभेद से और उनमें भी देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहभेद से प्रमाता और प्रमाण का भेद होने पर भी जैसे बाह्य घटादि पदार्थ का भेद नहीं हुआ करता, वैसे ही साक्षी का भी भेद नहीं होता। इस कारण साक्षी ही आत्मा कहा जाता है। 'अतति सर्वं व्याप्नोति' (सब में व्याप्त है)—यह आत्म-शब्द का निर्वचन है। जैसे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इनका परस्पर भेद ससाक्षिक (साक्षिभास्य) अथवा अज्ञानावच्छिन्न साक्षिभास्य है, वैसे आत्मा और साक्षी का भेद ससाक्षिक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण, प्रमाता आदि का और उनके अभावों का वह स्वयं साक्षी है, तो उसके भेद का साक्षी और कौन होगा?, यह अर्थ है। प्रमाता और साक्षी के भेद का यदि कोई साक्षी हो तो

और प्रमेय का परस्पर व्यभिचार ससाक्षिक है, वैसे ही आत्मा का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि आत्मा प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता के अभाव का साक्षी है।'

इस प्रकार वार्तिककार महोदय ने व्यवहार-दशा में भी साक्षिभेद का निराकरण किया है, अतः सुषुप्ति में भी साक्षी के भेद की जो कल्पना करते हैं, यह उनका महामोह ही समझना चाहिये।

ननु[1] दुःखमहमस्वाप्समिति कस्यचित्कदाचित्परामर्शात् सुषुप्तौ दुःखा-नुभवोऽप्यस्तु। न; तदानीं[2] दुःखसामग्रीविरहेण तदभावात्। सुखस्य चात्म-

---

उसका भी और साक्षी होना चाहिये। ऐसी दशा में अनवस्था दोष है। यदि कोई साक्षी नहीं है, तो साक्षी के भेद की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार जाग्रत्-अवस्था में भी साक्षी का भेद नहीं है, तो सुषुप्ति में साक्षी का भेद नहीं इसमें कहना ही क्या है। इस प्रकार जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहों का भेद होने पर भी साक्षी का भेद नहीं है, वैसे ही जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद होने पर भी साक्षी का भेद नहीं है। किन्तु सर्वत्र सर्वज्ञ चिन्मात्ररूप एक ही साक्षी है, यह सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ-सन्दर्भ से सिद्ध हुआ कि 'वेदान्त-परिभाषा' में जो साक्ष्यभेद माना है, वह समीचीन नहीं है।

१ जैसे जाग्रत्-अवस्था में जायमान 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण के अनुरोध से सुषुप्ति में सुखाकार अविद्यावृत्ति का अङ्गीकार करते हैं, वैसे ही कदाचित् जाग्रत्काल में जाय-मान 'दुःखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण के अनुरोध से सुषुप्ति में दुःखाकार अविद्यावृत्ति की भी कल्पना करनी चाहिये, यह आशय है।

२ सुषुप्ति-काल में देह का अभिमान नहीं है और मन का विलय हो चुका है, इसलिए बाह्य वैषयिक दुःख के अनुभव की सामग्री ही नहीं। यद्यपि इसी प्रकार बाह्य वैषयिक सुख के अनुभव की भी सामग्री सुषुप्ति-अवस्था में नहीं है; तथापि 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।६।२८) 'आनन्द आत्मा' (तै० २।५।१) इत्यादि श्रुतियों में आत्मा नित्य सुखस्वरूप कहा गया है और सुषुप्ति-अवस्था में कारण-देह से आन्तर सुख का भोग भी होता ही है। आत्मा नित्य सुखस्वरूप है, इसमें सुषुप्तिस्थ अनुभव भी प्रमाण है, यह बात वार्तिक में कही गयी है।

'स्वानन्दाभिमुखः स्वापे बोद्ध्यमानोऽत एव च।
पीड्यते स्त्र्यादिसंपर्कसुखविच्छेदतो तथा॥'

(बृ० सम्बन्धवा०, श्लो० १०२१)

श्लोक का आशय यह है—'सुषुप्ति-अवस्था में जीवात्मा स्वरूपानन्द के अभिमुख होता है, इसीलिए जगाने से पीडित होता है।'

स्वरूपत्वेन नित्यत्वात् । शय्यादेरसमीचीनत्वेन[1] च दुःखमित्युपचाराद् दुःखमहमस्वाप्समिति प्रत्ययोपपत्तिः ।

शङ्का—कदाचित् किसीको 'दुःखमहमस्वाप्सम्' ऐसा स्मरण होने से सुषुप्ति में दुःख का अनुभव भी होता है ।

समाधान—नहीं, सुषुप्ति में दुःख की सामग्री है ही नहीं । इसलिए दुःख का अनुभव नहीं होता । सुख आत्मस्वरूप होने से नित्य है, अतः उसका अनुभव होता है । शय्या आदि के असमीचीन होने से दुःख होता है, अतः उपचार से 'दुःखमहमस्वाप्सम्' यह प्रतीति होती है ।

अथवा[2] अवस्थात्रयस्यापि त्रैविध्याङ्गीकारात् सुषुप्तावपि दुःखमुपपद्यते । तथाहि—प्रमाज्ञानं[3] जाग्रज्जाग्रत् । शुक्तिरजतादिविभ्रमो जाग्रत्स्वप्नः । भ्रमा-

---

प्रश्न—इस प्रकार कदाचित् जायमान 'दुःखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण की क्या गति होगी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—'शय्यादेरिति' इस ग्रन्थ से ।

१ सुषुप्ति के पूर्व जाग्रत्-अवस्था के अन्त में शय्या की कठोरता से जो हस्त-पादादि अवयवों का सन्निवेशविशेष होता है, उससे जिस दुःख का अनुभव होता है, सुषुप्ति-अवस्था में उस दुःखानुभव की अनुवृत्ति का आरोप करके उक्त स्मरण का उपपादन करना चाहिये । वास्तविक दुःख की तो सुषुप्तिकाल में गन्ध भी नहीं है । अब बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ज्योतिर्ब्राह्मण में वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने जो कहा है, उसके अनुसार पक्षान्तर कहते हैं—'अथवा' इत्यादि से ।

२ इन्द्रियवृत्तिकालीन अर्थोपलम्भ जागरण है, इन्द्रियवृत्ति के अभावकाल में वासनामात्र से पैदा हुआ पदार्थ का ज्ञान स्वप्न है और कारणमात्र से अर्थोपलम्भ सुषुप्ति है । ये तीनों अवस्थाएँ पदार्थों के त्रैविध्य से फिर प्रत्येक जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति के भेद से त्रिविध हैं, क्योंकि व्यावहारिक, प्रातिभासिक और अज्ञानमय इस प्रकार पदार्थ भी त्रिविध हैं । इस प्रकार संकलन (जोड़) से नौ अवस्थाएँ होती हैं—(१) जाग्रत्-जाग्रत्, (२) जाग्रत्-स्वप्न, (३) जाग्रत्-सुषुप्ति, (४) स्वप्न-जाग्रत्, (५) स्वप्न-स्वप्न, (६) स्वप्न-सुषुप्ति, (७) सुषुप्ति-जाग्रत्, (८) सुषुप्ति-स्वप्न और (९) सुषुप्ति-सुषुप्ति ।

३ प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान, यह अर्थ है ।

दिना स्तब्धीभावो[1] जाग्रत्सुषुप्तिः। एवं स्वप्ने मन्त्रादिप्राप्तिः[2] स्वप्नजाग्रत्। स्वप्नेऽपि[3] स्वप्नो मया दृष्ट इति बुद्धिः स्वप्नस्वप्नः। जाग्रद्दशायां[4] कथयितुं न शक्यते, स्वप्नावस्थायां च यत् किञ्चिदनुभूयते तत्स्वप्नसुषुप्तिः। एवं सुषुप्त्यवस्थायामपि सात्त्विकी या सुखाकारा[5] वृत्तिः सा सुषुप्तिजाग्रत्। तदनन्तरं सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शः। तत्रैव[6] या राजसी वृत्तिः सा सुषुप्तिस्वप्नः। तदनन्तरमेव दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शोत्पत्तिः। तत्रैव या तामसी वृत्तिः सा सुषुप्तिसुषुप्तिः। तदनन्तरं गाढं मूढोऽहमिति परामर्शः, यथा चैतत् तथा वाशिष्ठवार्तिकामृतादौ स्पष्टम्।

---

१ जिस अवस्था में अहमाकार-वृत्ति से भिन्न कोई वृत्ति नहीं होती, किन्तु अज्ञानविशेष की उपलब्धि होती है, वैसी अवस्था, यह अर्थ है।

२ यह मन्त्र व्यावहारिक सत्य होता है, जिसका जाग्रत् में भी उपयोग देखा जाता है। कोई सिद्ध पुरुष अथवा देवता स्वप्न में उपदेश करते हैं। जाग्रत् में भी उसका स्मरण बना रहता है।

३ जहाँ एक स्वप्न में अवान्तर स्वप्न का दर्शन होता है, वहाँ पर स्वप्नद्रष्टा को ऐसा प्रतीत होता है कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, वही स्वप्न-स्वप्न है।

४ जैसे तूने वहाँ कौन-सा सुवर्ण का अलङ्कार देखा था? देवदत्त के ऐसा प्रश्न करने पर यज्ञदत्त कहता है—मैंने सुवर्ण देखा था ऐसा तो स्मरण है, अमुक अलङ्कार था ऐसा स्मरण अब नहीं होता। यद्यपि सुवर्ण-दर्शन के समय अलङ्कार-दर्शन आवश्यक ही है, तथापि अलङ्कार का दर्शन सामान्य हुआ था, निरीक्षण नहीं हुआ था। इसलिए उससे संस्कार उत्पन्न न होने से संस्कारजन्य स्मृति नहीं होती। वैसे संस्कार का अजनक जो स्वप्न में अर्थोपलम्भ है, वह स्वप्न-सुषुप्ति है।

५ सुख आत्मस्वरूप है, इसलिए वह सत्य है। अतः आत्मस्वरूप सुख का जो उपलम्भ है, वह सुषुप्ति-जाग्रत् है।

६ राजसी वृत्ति से प्रातिभासिक दुःख का उपलम्भ सुषुप्ति-स्वप्न है। शय्यादि के असमीचीन होने से होनेवाले दुःख का सुषुप्ति में उपचार है, इस प्रथम पक्ष में और 'अथवा' इत्यादि से उपपादित इस द्वितीय पक्ष में सुषुप्ति-अवस्था में वस्तुतः दुःख नहीं है, यह तो समान ही है। विशेष इतना है कि प्रथम पक्ष में सुषुप्ति-अवस्था से पूर्व विद्यमान दुःख के संसर्ग की सुषुप्ति में केवल कल्पना होती है और द्वितीय पक्ष में सुषुप्त्यवस्था में अपूर्व दुःख की कल्पना होती है। 'एवमस्मिन्मते' यहाँसे आरम्भ करके 'स्पष्टम्' एतदन्त प्रबन्ध से 'न जाग्रत्' इत्यादि अष्टम पद्य के अर्थ के प्रदर्शन के लिए पद्यघटक 'जाग्रत्' आदि पदार्थों का विवेचन हो गया। और वे सब पदार्थ अविद्यात्मक हैं, इसका भी उपपादन हो गया।

अथवा तीनों अवस्थाओं को तीन-तीन प्रकार की मानने से सुषुप्ति में भी दुःख उपपन्न हो सकता है। प्रत्येक के तीन-तीन भेद ये हैं—प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान जाग्रत् में जाग्रत् है। शुक्ति में रजत-भ्रम आदि जाग्रत् में स्वप्न है। परिश्रम आदि से शरीर का स्तब्ध हो जाना जाग्रत् में सुषुप्ति है। ऐसे ही स्वप्न में मन्त्र आदि की प्राप्ति स्वप्न में जाग्रत् है। स्वप्न में भी मैंने स्वप्न देखा, ऐसी बुद्धि स्वप्न में स्वप्न है। स्वप्नावस्था में जो कुछ अनुभव हुआ, यदि वह जाग्रत्-अवस्था में न कहा जाय, तो वह स्वप्न में सुषुप्ति है। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में भी जो सात्विकी सुखाकारा वृत्ति है, उसे सुषुप्ति में जाग्रत् कहते हैं। तदनन्तर 'सुखमहमस्वाप्सम्' ऐसा स्मरण होता है। वहाँपर जो राजसी वृत्ति होती है, वह सुषुप्ति में स्वप्न है। तदनन्तर ही 'दुःखमहमस्वाप्सम्' ऐसे स्मरण की उत्पत्ति होती है। वहाँपर जो तामसी वृत्ति है, वह सुषुप्ति में सुषुप्ति है। उसके पश्चात् 'गाढं मूढोऽहम्' ऐसा स्मरण होता है। जिस प्रकार यह प्रक्रिया है, वह 'वासिष्ठवार्तिकामृत' में स्पष्ट है।

एवमध्यात्मं[1] विश्वः। अधिभूतं विराट्। अधिदैवं विष्णुः। अध्यात्मं जाग्रत्। अधिदैवं पालनम्। अधिभूतं सत्वगुणः।

अब प्रसङ्गवश अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत इनकी एकता के भावनापूर्वक उपासना का प्रकार दिखाते हैं—'एवमध्यात्मम्' इत्यादि से।

१ एक दृक्पदार्थ आत्मा ही पारमार्थिक है, उस आत्मा में अविद्या से कल्पित सब दृश्य पदार्थ प्रातीतिक एवं मिथ्याभूत हैं। ऐसी दशा में दृश्य के अवान्तर-भेद अव्याकृत आदि और उन उपाधियोंवाले ईश्वर आदि दृशि के भेद और सत्त्वादि गुणों के भेद से विष्णु, ब्रह्मा, रुद्ररूप भेद और उनके कार्य अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूप भेद और जाग्रत् आदि अवस्थाभेद—ये सब कल्पनामात्र शरीरवाले मिथ्याभूत ही हैं। इस प्रकार एकता की भावना करने से हिरण्यगर्भ-लोक की प्राप्ति होती है और अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा क्रम-मुक्ति होती है। उपाधि के विलय से एकता का साक्षात्कार होने पर तो साक्षात् सद्यः (उसी काल में) ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है—'अध्यात्मम्' यहाँपर आत्म-शब्द शरीरवाची है। शरीर यानी स्थूलशरीर, लिङ्गशरीर और कारणशरीर, इन सबमें अधिकार करके स्थित शरीर आत्मा और उसकी सब अवस्थाएँ भी 'अध्यात्म-शब्द' से कही जाती हैं। भूत यानी स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर इन सब भूतों में अधिकार करके स्थित अव्याकृत आदि पदार्थ और उनके सत्त्वादि गुण 'अधिभूत'-शब्द से कहे जाते हैं। दैव यानी सत्त्व, रज, तमोमय गुणवर्गका अधिकार करके स्थित

एवमध्यात्मं तैजसः। अधिभूतं हिरण्यगर्भः। अधिदैवं ब्रह्मा। अध्यात्मं स्वप्नः। अधिदैवं सृष्टिः। अधिभूतं रजोगुणः। एवमध्यात्मं प्राज्ञः। अधिभूतमव्याकृतम्। अधिदैवं रुद्रः। अध्यात्मं सुषुप्तिः। अधिदैवं प्रलयः। अधिभूतं तमोगुणः। एवमध्यात्माधिभूताधिदैवानामेकत्वात् प्रणवावयवत्रयसहितानामुपहिताना-

---

देवता और उनके कार्य 'अधिदैव'-शब्द से कहे जाते हैं। उनमें उद्भूत सत्त्वगुण, स्थूल जड समष्टि विराट्, सत्त्वप्रधान जाग्रदवस्था, सत्त्वप्रधान स्थूल-जड-व्यष्ट्यभिमानी विश्वरूप जीव और सात्त्विक-कार्य-पालनकर्तृ विष्णुदेवता यह एक समूह है। उद्भूत रजोगुण सूक्ष्म-जड-समष्टि हिरण्यगर्भ रजःप्रधान स्वप्नावस्था, रजःप्रधान सूक्ष्म-जड-व्यष्ट्यभिमानी तैजस नामवाला जीव और राजस-कार्य-सृष्टिकर्तृ ब्रह्मदेवता यह द्वितीय समूह है। उद्भूत तमोगुण सूक्ष्मतर अव्याकृत नामक जड-समष्टि, तमःप्रधान सुषुप्त्यवस्था, तमःप्रधान सूक्ष्मतर जड-व्यष्ट्यभिमानी 'प्राज्ञ' नामवाला जीव और तामसकार्य-प्रलयकर्तृ रुद्रदेवता यह तृतीय समूह है। ॐकार के अवयव अकार, उकार और मकार ये तीन वर्ण हैं। ये तीनों वर्ण क्रम से इन तीनों समूहों के वाचक हैं।

इनकी एकता की भावना इस प्रकार करनी चाहिये—अकार वाचक और उसका वाच्य प्रथम समूह वाच्य और वाचक का अभेद होने से वाच्य की अपेक्षा वाचक अकार के भेद से भावना का त्याग करना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय समूह के वाचक उकार के वाच्य द्वितीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना त्यागनी चाहिये। इसी प्रकार मकार की भी तृतीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना का त्याग करना चाहिये। उसके अनन्तर प्रथम समूह की अपने कारणीभूत द्वितीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना का त्याग करना चाहिये; क्योंकि कार्य और कारण की एकता हुआ करती है। उसी प्रकार द्वितीय समूह की स्वकारणीभूत तृतीय समूह की अपेक्षा भेद से भावना न करनी चाहिये और समूह में भी समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की भेद-भावना का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर आत्मा की एकता की भावना के अभ्यास से उत्तरोत्तर क्रम से मूर्त्त, अमूर्त्त और अव्याकृत इन सबके मिथ्यात्व का निश्चय होकर जब आत्मा की एकता का निश्चय दृढ हो जाता है, उस समय इस पुरुष के सब दोष दूर हो जाते हैं। तब सत्यलोक में जाकर शुद्धान्तःकरण प्रलय के समय में मूर्त्त, अमूर्त्त पदार्थों के विलय को जब प्रत्यक्ष देख लेता है, उस समय मिथ्यात्व का संस्कार अत्यन्त दृढ हो जाता है। उस समय निर्विकल्प अखण्ड ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार करके अव्याकृत में सर्वथा अभिमान का नाश हो जाने से प्राणी बन्ध से मुक्त हो जाता है। जैसे कोई कार्यार्थी पुरुष जाता हुआ मार्ग में रज्जु-सर्प को देखकर भय से लौटकर चलना बन्द कर देता है। जब कोई आप्त पुरुष कहता है कि 'सर्प नहीं है', उस समय आगे चलता तो है, परन्तु जबतक दूरत्वादि दोष बना हुआ है, तबतक धीरे-ही-धीरे चलता है। दूरत्वादि दोष के दूर हो जाने पर तो जब सर्प का विलय हो जाता है, तब रज्जु-साक्षात्कार से अभय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह समझना चाहिये। यह क्रम मुक्ति है। जिसको पूर्वपुण्यों के पुञ्जों के समूह के परिपाक

मेतेषामैक्योपासनया हिरण्यगर्भलोकप्राप्तिः, अन्तःकरणशुद्धिद्वारा क्रममुक्तिश्च। एतत्सर्वोपाधिनिराकरणेन साक्षिचैतन्यमात्रज्ञानेन तु साक्षादेव[1] मोक्ष इति।

इस प्रकार विश्व अध्यात्म है। विराट् अधिभूत है। विष्णु अधिदैव है। अध्यात्म विश्व से अनुभूयमान जाग्रदवस्था अध्यात्म है। पालन अधिदैव है, सत्त्वगुण अधिभूत है। तैजस अध्यात्म है। हिरण्यगर्भ अधिभूत है। ब्रह्मा अधिदैव है। स्वप्न अध्यात्म है। सृष्टि अधिदैव है। रजोगुण अधिभूत है। इसी प्रकार प्राज्ञ अध्यात्म है। अव्याकृत अधिभूत है। रुद्र अधिदैव है। सुषुप्ति अध्यात्म है। प्रलय अधिदैव है। तमोगुण अधिभूत है। इस प्रकार ॐकार के अकार, उकार और मकाररूप अवयवों के सहित एकत्व से ज्ञात अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव की एकता की उपासना से हिरण्यगर्भलोक की प्राप्ति होती है। अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा क्रममुक्ति होती है। उपास्य-उपासकरूप उपाधि के त्यागपूर्वक साक्षिचैतन्यमात्र के ज्ञान से तो साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति होती है।

तदेवं[1] त्रयाणामप्यवस्थात्रयसहितानां विश्वतैजसप्राज्ञानामविद्यात्मकत्वाद् दृश्यत्वेन च मिथ्यात्वादनुपहितः केवलः साक्षी तुरीयाख्योऽहमस्मीत्यर्थः। एवं व्यवहारतः सर्वव्यवस्थोपपत्तेः परमार्थतः कस्या अपि व्यवस्थाया अभावान्न काऽप्यनुपपत्तिः। विस्तरेणैतत् प्रपञ्चितऽस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते॥ ८॥

इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से युक्त विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीनों अविद्यात्मक होने से दृश्य हैं, अतः मिथ्या हैं। इसलिए उपाधिरहित केवल 'तुरीय'

से किसी दयालु ब्रह्मज्ञानी ने आत्मतत्त्व का उपदेश किया और उसी समय जिस पुण्यात्मा को आत्मज्योति का साक्षात्कार हो जाता है, उसको तो सद्यः (उसी क्षण) ही अविद्यामय, मूर्त्त, अमूर्त्त, अव्याकृतरूप सकल प्रपञ्च का युगपत् (एक ही काल में) ही विलय होने पर सद्योमुक्ति होती है, यह जीवन्मुक्ति है। यही कहते हैं—'एतत्सर्वोपाधि०' इति सन्दर्भ से।

१ 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० ६। १४। २) इस न्याय से प्रारब्ध-कर्म की समाप्ति होने पर देहपात के अनन्तर विदेह-मुक्ति होती है, यह समझना चाहिये। इस प्रकार प्रकृत अष्टम श्लोक के पूर्वार्द्ध में स्थित जाग्रत् आदि पदार्थ के स्वरूप का विवेचन करके, प्रसङ्ग से उपासना और मोक्ष का प्रतिपादन करके अब श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हैं— 'तदेवम्' इस सन्दर्भ से।

नामक मैं हूँ, यह अर्थ हुआ। इस प्रकार व्यवहार से सब व्यवस्थाएँ हो जाती हैं। किन्तु परमार्थतः किसी भी अवस्था के न होने के कारण कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। इस बात का हमने 'वेदान्त-कल्पलतिका' में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, इसलिए यहाँ पर हम विराम करते हैं ॥ ८ ॥

ननु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासहितानां त्रयाणामपि तदभिमानिनां मिथ्यात्वात्तत्साक्षिणोऽपि मिथ्यात्वं स्यादविशेषादित्याशङ्क्य विशेषाभिधानेन साक्षिणः सत्यत्वमाह—

शंका—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्थायुक्त जाग्रदादि अवस्थाओं के अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों के मिथ्या होने से साक्षी भी मिथ्या होना चाहिये, क्योंकि मिथ्यात्व-सिद्धि अविद्याजन्यत्व और दृश्यत्व दोनों स्थानों में समान[1] है। ऐसी शङ्का करके साक्षी में विशेषता[2] का अभिधान कर उसकी सत्यता सिद्ध करते हैं—

---

१ जैसे जाग्रदादि अवस्थाएँ परस्पर व्यभिचारी होने से मिथ्या हैं, इसीलिए उनके अभिमानी विश्वादि को भी, मिथ्या जाग्रदादि अवस्था की अपेक्षा होने से, मिथ्या कहा है। वैसे ही साक्षित्व भी साक्ष्य की अपेक्षा रखता है और साक्ष्य मिथ्या है, इसलिए मिथ्या साक्ष्य की अपेक्षा रखनेवाला साक्षी भी मिथ्या होना चाहिये, यह शङ्का का आशय है।

२ 'अतोऽन्यदार्त्तम्' (बृ० ३ । ४ । २) इस श्रुति में साक्षी से व्यतिरिक्त सब पदार्थों के मिथ्यात्व के कथन से, यह अर्थ है। भाव यह है कि साक्षी का साक्षित्व यद्यपि साक्ष्यसापेक्ष होने से मिथ्या है, इसलिए साक्षित्वरूप से साक्षी के मिथ्या होने पर भी चिन्मात्रस्वरूप से वह मिथ्या नहीं है; क्योंकि सत्य और मिथ्या ये दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं। यदि मिथ्या से व्यतिरिक्त कोई सत्य न हो, तो मिथ्याभूत पदार्थ का मिथ्यात्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—चिन्मात्रस्वरूप से विश्वादि को भी सत्य कहते हैं।

उत्तर—विश्वादि का स्वरूप अन्तःकरणादि उपाधिविशिष्ट है, केवल नहीं है। इसलिए उपाधि के मिथ्या होने से उपाधिविशिष्ट सत्य कैसे हो सकता है?

प्रश्न—इस प्रकार भी विश्वादि के स्वरूप के अन्तर्गत चिन्मात्र सत्य है, तो जैसे चिन्मात्ररूप से साक्षी को सत्य कहते हो, वैसे ही चिन्मात्ररूप से विश्वादि भी सत्य होने चाहिये।

उत्तर—विश्वादि के स्वरूपान्तर्गत जो चिन्मात्र है, उसीको साक्षी का सत्यस्वरूप कहते हैं, क्योंकि साक्षी ही अधिक कञ्चुक में प्रवेश करने से ईश्वरत्व और जीवत्व को प्राप्त हुआ है, यह पहले कह चुके हैं। वहाँपर सर्वकञ्चुकों के मिथ्या होने पर भी जिसने कञ्चुकों को ग्रहण किया है, कञ्चुकों के अन्तर्गत उस किसीको अवश्य सत्य मानना चाहिये, जो सर्वान्तर्गत है। उसीका 'साक्षी' शब्द से प्रतिपादन किया है, यह समझना चाहिये।

अपि[1] व्यापकत्वाद्धितत्वप्रयोगात्
स्वतःसिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ६ ॥

साक्षी से अन्य समस्त जगत् तुच्छ है। साक्षी तुच्छ नहीं है, क्योंकि वह व्यापक है, पुरुषार्थरूप है, स्वतःसिद्ध भाव-पदार्थ है, स्वतन्त्र है। एक अवशिष्ट, अद्वितीय शिव मैं हूँ।

अपीति। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः[2]' (बृ० ३।४।२) इति साक्षिणं प्रकृत्य 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति श्रुतेः साक्षिणोऽन्यत्साक्ष्यं सर्वं जगत्तुच्छम्, न तु साक्षी। बाधावधित्वाद्[3]

---

१ 'तदन्यत्' यहाँ 'तत्' शब्द से पूर्वप्रकृत सबके साक्षी तुरीय का परामर्श होता है। साक्षी से अन्य यह समस्त जगत् तुच्छ (मिथ्या) है, यह तृतीय पाद का अर्थ है। जगत् के तुच्छत्व में 'तदन्यत्' यह हेतुगर्भ विशेषण है और वह 'अतोऽन्यदार्त्तम्' (बृ० ३।४।२) इस श्रुति को हृदय में रखकर कहा गया है। 'तदन्यत्' इससे कथित साक्षी का पर्युदास यद्यपि उक्त श्रुति से सिद्ध है; तथापि उसीको सिद्ध करने के लिए व्यापकत्वादि हेतु कहे हैं। 'अपि' शब्द से बाधावधित्व आदि का संग्रह करना चाहिये।

२ लौकिकी रूपाभिव्यञ्जक दृष्टि के द्रष्टा (व्याप्ता) दृशिरूप साक्षी को तू नहीं देख सकता, अर्थात् वह साक्षी दृशि का कर्म नहीं। इस साक्षी की अपेक्षा अन्य सब आर्त्त (विनाशी) मिथ्या है, यह अर्थ है।

३ जैसे 'नेदं रजतम्' कहने पर यदि रजत नहीं है तो क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर 'यह अमुक वस्तु है' यदि ऐसा उत्तर न दिया जाय, तो रजत का बाध ही सिद्ध नहीं होता। कारण जबतक बाध का अवधि अमुक पदार्थ है, यह नहीं जाना जाता, तबतक 'रजत है' यह भी सम्भावना हो सकती है। इसलिए बाध सर्वत्र सावधि है, यह सिद्ध होता है। निरवधि बाध का तो स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसी दशा में बाध का अवधिभूत साक्षी बाधरहित सिद्ध होता है। साक्षी भी बाधित है, ऐसी यदि कल्पना करोगे तो उसके बाध की अन्य अवधि की कल्पना करनी होगी। ऐसी दशा में अनवस्था का प्रसंग होगा।

भ्रमाधिष्ठानतया[1] ज्ञातत्वाच्च तद्बाधग्राहकाभावाच्च[2] इत्याद्यनुक्तसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः।

'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इस श्रुति से साक्षी के प्रकरण में 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुति से साक्षी से अतिरिक्त साक्ष्य समस्त संसार तुच्छ है, साक्षी तुच्छ नहीं। क्योंकि बाध का अवधि होने से भ्रम का अधिष्ठान होने के कारण ज्ञात होने से, साक्षी के बाध के ग्राहक के अभाव होने से इत्यादि। श्लोक में अनुक्त हेतुओं के समुच्चय के लिए 'अपि'-शब्द का उपादान है।

'अथ[3] यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७।२४।१) इति श्रुतेः परिच्छिन्नत्व-तुच्छत्वयोः समव्याप्तत्वात् परिच्छिन्नत्वनिवृत्त्या तुच्छत्वनिवृत्तिरित्याह—व्याप-

---

१ जैसे शुक्ति-रजत-भ्रम में अधिष्ठानभूत शुक्ति का शुक्तित्वविशेषरूप से ज्ञान यद्यपि भ्रम का विरोधी है, तथापि उसी शुक्ति का सामान्य इदन्त्वरूप से ज्ञान भ्रम के लिए आवश्यक ही है। क्योंकि गाढ अन्धकार में सामान्य इदंत्वरूप से शुक्तिरूपी अधिष्ठान का अज्ञान होने पर भ्रम नहीं हुआ करता। जो जगद्भ्रम का सामान्यरूप से ज्ञायमान अधिष्ठान है, वही साक्षी है। यदि उसे भी भ्रान्तिकल्पित कहोगे, तो उस भ्रम के अधिष्ठानभूत किसी अन्य की कल्पना करनी पड़ेगी, इसलिए अनवस्था का प्रसङ्ग है।

२ जैसे 'नेदं रजतम्' इस प्रकार असत्य रजत का बाध प्रतीत होता है, वैसे ही साक्षी के असत्य होने पर उसका बाध कहना होगा। किन्तु वह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि साक्षी का बाध विकल्प सहन नहीं करता। अर्थात् साक्षी के बाध का कोई साक्षी नहीं है, अथवा है? प्रथम पक्ष में साक्षी के न होने से बाध अप्रमाण ही होता है। यही बात 'पञ्चदशी' में श्रीविद्यारण्य मुनि ने कही है—'बाधः किं साक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते।' (३।२६) बिना साक्षी के भी यदि वस्तु की सिद्धि हो, तो सर्वत्र अव्यवस्था होने से व्यवहार का ही लोप हो जायगा। बाध का साक्षी है, इस द्वितीय पक्ष में 'मैं मूक हूँ' इस कथन की तरह वदतो व्याघात होता है। जैसे यदि मूक है, तो कथन नहीं और कथन है, तो मूक नहीं, वैसे ही यदि बाध का साक्षी है, तो साक्षी का बाध नहीं और साक्षी का बाध है, तो साक्षी नहीं।

३ छान्दोग्य के सप्तम अध्याय के चौबीसवें खण्ड में 'यत्र नान्यत्पश्यति स भूमा यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' यह कहा है। भूमा=व्यापक। अल्प=अव्यापक या परिच्छिन्न। अमृत=अविनाशी। मर्त्य=विनाशी। अथ 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' इस श्रुति से जो-जो परिच्छिन्न है, वह-वह विनाशी है' यह व्याप्ति कही जाती है। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इस पूर्ववाक्य से 'जो-जो अपरिच्छिन्न है, वह-वह अविनाशी है' यह व्याप्ति सिद्ध होती है।

कत्वादिति। 'सर्वं[1] खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३। १४। १) इति सर्वात्मत्वोपदेशेन देशकालापरिच्छिन्नत्वात्। आकाशादीनां च देशकालपरिच्छिन्नत्वेऽप्यापेक्षिकमहत्त्वात्तेन व्यापकत्वोपचारात्।

'अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' इस श्रुति से परिच्छिन्नत्व और तुच्छत्व के समव्याप्त होने के कारण परिच्छिन्नत्व की निवृत्ति होने से तुच्छत्व की निवृत्ति हो सकती है, इस आशय से कहा व्यापक होने से। अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सभी आत्मा है) इस उपदेश से आत्मा देश-काल से अपरिच्छिन्न है। आकाशादि यद्यपि देश-काल से परिच्छिन्न हैं, तो भी पृथिव्यादि की अपेक्षा महत्त्व होने से उनमें व्यापकत्व का व्यवहार लाक्षणिक है।

ननु सर्वव्यापकत्वेन नित्यत्वाद्भावरूपत्वाच्चात्मा न दुःखनिवृत्तिरूपः। नापि सुखरूपः; सुखस्यानित्यत्वेन नित्यात्मस्वरूपत्वानुपपत्तेः। तथा चाऽऽत्मस्वरूपो मोक्षोऽपुरुषार्थ एवेत्याशङ्क्य नेत्याह—हितत्वप्रयोगादिति। हितत्वम्—पुरुषार्थत्वम्, तदेतत्प्रेयः[2] पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (बृ० १।४।८), 'यो[3] वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७। २३। १),

---

१ 'खलु' यह अव्यय वाक्यालङ्कार में अथवा निश्चय-द्योतन में प्रयुक्त होता है। 'यह सब ब्रह्म ही है' यह श्रुत्यर्थ है। 'बृहत्' याने व्यापक होने से इसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। इस श्रुति में असङ्कुचितार्थक 'सर्व'शब्द से चतुर्दशभुवनात्मक सब देशों और भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानात्मक सब कालों का संग्रह है। इस प्रकार देश-काल से व्यापक वस्तु देश-काल से अपरिच्छिन्न ही सिद्ध होती है। तथा च साक्षी अपरिच्छिन्न, अविनाशी ब्रह्मरूप होने से सत्य सिद्ध होता है।

२ वह यह साक्षी आत्मा पुत्र से भी, हिरण्यरत्नादि धन से भी प्रियतर है। वैसे ही लोक में पुत्र, धन आदि की अपेक्षा अधिक प्रियत्वेन प्रसिद्ध जो शरीरादि हैं, उनसे भी यह साक्षी आत्मा प्रियतर है, क्योंकि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा आन्तर पदार्थ अधिक प्रिय हुआ करता है। आत्मा तो आन्तरों का भी आन्तर है, क्योंकि 'अतति सर्वम् अन्तर्व्याप्नोति' इस निरुक्ति से आत्मा सर्वान्तर है—यह अर्थ है।

३ जो 'भूमा' (निरतिशय महान्) है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं, क्योंकि अल्प अधिक तृष्णा का हेतु है और तृष्णा दुःख का बीज है। इसलिए अल्प में सुख नहीं, किन्तु भूमा में ही सुख है, यह अर्थ है।

'एष[१] एव परमानन्दः' (बृ० ४ । ३ । ३२), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (३ । ९ । २८) इत्यादिश्रुतिभिस्तस्य परमानन्दरूपत्वोपदेशात् ।

शङ्का—सर्वव्यापक होने के कारण नित्य और भावरूप होने से आत्मा दुःख-निवृत्तिरूप नहीं है । और सुखरूप भी नहीं है; क्योंकि सुख अनित्य है; अतएव वह नित्य आत्मस्वरूप नहीं हो सकता । तथाच दुःखनिवृत्तिरूप एवं सुखरूप न होने से आत्मस्वरूप मोक्ष अपुरुषार्थ ही है ।

समाधान—नहीं, आत्मा में पुरुषार्थत्व के प्रयोग से आत्मा पुरुषार्थ है । कारण 'तदेतत्प्रेयः पुत्रा०', 'यो वै भूमा०', 'एष एव पर ', 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादि श्रुतियों से उसमें परमानन्दरूपत्व का उपदेश है ।

तस्य च नित्यत्वेऽपि लोके धर्मजन्यतत्तदन्तःकरणवृत्तिव्यङ्ग्यतया तदुत्पत्तिविनाशोपचारः । अज्ञानव्यवहितस्य च तस्याप्राप्तस्येव ज्ञानमात्राद-विद्यानिवृत्त्या प्राप्तिरिव भवतीति तदुद्देशेन मुमुक्षुप्रवृत्तेरुपपत्तिः । अध्यस्तस्य प्रपञ्चस्य दुःखस्वरूपस्याधिष्ठानत्वात् स एवाभावः इति दुःखाभावरूपत्वेनापि तस्य पुरुषार्थता ।

उसके नित्य होने पर भी धर्मजन्य तत्-तत् अन्तःकरण की वृत्ति से अभिव्यक्त होने के कारण वृत्ति के नाश एवं उत्पत्ति से उसमें नाश एवं उत्पत्ति का व्यवहार होता है । पर वह मुख्य नहीं, लाक्षणिक है । अज्ञान का व्यवधान है, इसलिए वह अप्राप्त की तरह प्रतीत होता है; किन्तु ज्ञानमात्र से जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब हुए की तरह प्रतीत होता है । इसलिए प्राप्ति के उद्देश्य से मुमुक्षु की प्रवृत्ति बन सकती है । दुःखरूप प्रपञ्च का अधिष्ठान होने से वह आत्मा ही दुःखरूप प्रपञ्च का अभाव है; अतः दुःखाभावरूप होने से भी वह पुरुषार्थ है ।

ननु मोक्षे सुखं संवेद्यते न वा ? नाद्यः ; तदानीं देहेन्द्रियाद्यभावेन तद्व्यञ्जकाभावात् । व्यञ्जकाभावेऽपि तत्संवेदनाभ्युपगमे संसारदशायामपि तथा प्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; अपुरुषार्थत्वापत्तेः, ज्ञायमानस्यैव तस्य पुरुषार्थ-

---

१ आत्मा आनन्दरूप होने से मोक्षस्वरूप है । अतएव सुख की इच्छावाले मुमुक्षु पुरुष आत्मस्वरूप मोक्ष की इच्छा करते हैं । इसीलिए मोक्ष पुरुषार्थ है ।

त्वात्। अत एव शर्करातद्भोजिनोरिवेति वैष्णवंमन्यानामुद्गार इति चेत्, नेत्याह—स्वतःसिद्धभावादिति। स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वादित्यर्थः। यद्यपि संसार-दशायामविद्यावृतस्वरूपत्वादात्मा परमानन्दरूपतया न प्रथते; तथापि विद्यया अविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव परमानन्दरूपेण प्रकाशत इति न व्यञ्जकापेक्षा।

शङ्का—मोक्ष में सुख का ज्ञान होता है या नहीं? पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि मोक्ष में देह, इन्द्रिय आदि का अभाव होने से सुख का कोई व्यञ्जक नहीं है। व्यञ्जक के न होने पर भी मोक्ष-सुख के ज्ञान का अङ्गीकार करोगे, तो संसार-दशा में भी मोक्ष के सुख के ज्ञान का प्रसङ्ग हो जायगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञायमान ही सुख पुरुषार्थ हुआ करता है। उस दशा में मोक्षसुख अपुरुषार्थ हो जायगा। अतएव[1] 'शर्करा और उसके भोक्ता की तरह' यह वैष्णवंमन्यों (अपने को वैष्णव माननेवालों) का उद्गार है।

समाधान—नहीं, यह बात नहीं है। क्योंकि वह (सुख) स्वप्रकाश[2] ज्ञान-रूप है। यद्यपि संसार-दशा में अविद्या से आवृत होने के कारण आत्मा परमानन्दरूप से ज्ञात नहीं होता; तथापि विद्या से अविद्या की निवृत्ति होने पर स्वप्रकाश होने के कारण स्वयं ही परमानन्दरूप से प्रकाशित होता है। इसलिए उसे व्यञ्जक की अपेक्षा नहीं है।

ननु सुखस्य स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वेऽपि नाऽऽत्मरूपता, ज्ञानस्य धात्वर्थरूप-तया क्रियात्वेन साश्रयत्वात्, जानामीति प्रतीतेर्ज्ञानमहमस्मीत्यप्रतीतेश्च। तथा च कथमद्वैतवाद इत्याशङ्क्य नेत्याह—अनन्याश्रयत्वादिति। 'यत्साक्षा-

---

१ जीव-ब्रह्म की एकता को न सहन करते हुए द्वैतवादी माध्वसम्प्रदायी इस प्रकार कहते हैं। उनका मत है कि मोक्ष-अवस्था में जीव यदि ब्रह्मस्वरूप हो, तो ब्रह्म सुखरूप है, इसलिए उससे अभिन्न जीव भी सुखरूप होगा। ऐसी दशा में जीव को सुख का प्रकाश न होगा, क्योंकि उसे सुख का ज्ञान नहीं है। इसलिए मोक्ष-अवस्था में ब्रह्म-भेद ही से जीव की स्थिति है, ऐसा कहना चाहिये। तभी ब्रह्मस्वरूप सुख का जीव को ज्ञान हो सकता है। जैसे शर्करा खानेवाले को माधुर्य के ज्ञान से सुख होता है, शर्करा में मिली और शर्करारूप बनी मृत्तिका को वह सुख नहीं होता।

२ वैशेषिकों की तरह हम आत्मा को ज्ञान का आश्रय नहीं मानते, किन्तु वह ज्ञान-स्वरूप ही है। इसलिए जीव को ज्ञानस्वरूप होने से उक्त शङ्काकलङ्क का अवकाश नहीं है।

दपरोक्षाद् ब्रह्म', य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३ । ४ । १), सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २ । १ । १), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३ । ९ । २८) । इत्यादिश्रुतेः स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूप एवाऽऽत्मा । अन्तःकरणतादात्म्याध्यासेन च तद्वृत्तौ ज्ञानाध्यासात् जानामीति तदाश्रयत्वप्रतीतिः । धात्वर्थत्वमुत्पत्तिविनाशवत्त्वं चान्तःकरणवृत्तेरेवेति ज्ञप्तिरूपमुख्यज्ञानस्य सर्वाधिष्ठानत्वेन अन्याश्रयत्वाभावान्न द्वैतापत्तिः । तेन ज्ञानसुखात्मक आत्मा सत्यस्तद्भिन्नं सर्वं जगदसत्यमिति सिद्धम् ॥ ९ ॥

शङ्का—स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप होने पर भी सुख आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान धात्वर्थ होने से क्रिया है, क्रिया कर्ता के आश्रित हुआ करती है और 'जानामीति प्रतीतेः' मैं जानता हूँ ऐसी प्रतीति होती है । 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसी प्रतीति किसीको नहीं होती । ऐसी दशा में अद्वैतवाद कैसे ?

समाधान—नहीं, 'अनन्याश्रयत्वात्' । 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञान०', 'विज्ञानमानन्द०' इत्यादि श्रुतियों से स्वयंप्रकाश ज्ञान आनन्दरूप ही आत्मा है । और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञान का अध्यास होता है, इसलिए 'जानामि' इस रूप से ज्ञान की आश्रयता प्रतीत होती है । धात्वर्थता और उत्पत्ति-विनाशवत्ता अन्तःकरण की वृत्ति में ही है । अतः ज्ञप्तिरूप मुख्यज्ञान सर्वाधिष्ठान है और किसीके आश्रित नहीं है । इसलिए द्वैत की आपत्ति नहीं । अतः ज्ञानसुखस्वरूप आत्मा सत्य है, उससे भिन्न सब जगत् असत्य है ॥ ९ ॥

ननु सर्वस्य जगतस्तुच्छत्वे तन्निषेधेनाऽऽत्मतत्त्वप्रतीतिर्न स्यात् । न हि शशविषाणं निषिद्ध्यते, क्वचित्प्रमितं क्वचिन्निषिद्ध्यत इति न्यायात् । तथा च निषेधानुपपत्त्यैव न जगत्तुच्छमिति ? नेत्याह—

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद्
न वा केवलत्वं न चाऽकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ १० ॥

शंका—समस्त जगत् के तुच्छ होने से उसके निषेध से आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं होगी । शश (खरगोश) के सींग का निषेध नहीं होता । कहींपर जिस वस्तु का

यथार्थ ज्ञान हुआ है, उसीका कहीं निषेध होता है। ऐसी स्थिति में निषेध की अनुपपत्ति से ही जगत् तुच्छ नहीं है।

समाधान—एक भी नहीं है, उससे अन्य द्वितीय कहाँसे होगा? आत्मा में केवलत्व (एकत्व) भी नहीं है। अकेवलत्व (अनेकत्व) भी नहीं है। न शून्य है, न अशून्य है। अद्वैत होने से सब वेदान्तों से सिद्ध को मैं कैसे कहूँ?

न चैकमिति। एकत्वसंख्यायोग्येकम्। तदपेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वसंख्यायोगि द्वितीयम्। तत एकाभावे द्वितीयं कुतः स्यात्? द्वितीयं च तृतीयादीनामुपलक्षणम्। ननु 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१।) इति श्रुत्यैकत्वं प्रतिपाद्यते? नेत्याह—न वा केवलत्वमिति। केवलत्वमेकत्वम्, तस्याविद्यात्मकत्वात्। यद्यात्मन एकत्वं श्रुत्या न प्रतिपाद्यते, तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाणवशादनेकत्वमेव स्यादिति?, नेत्याह—न चाकेवलत्वमिति। अकेवलत्वमनेकत्वम्। 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४।४।१९।) 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१।), 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इत्यादश्रुतिभ्यः।

एक=एकत्वसंख्या जिसमें हो। द्वितीय=अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न द्वित्व संख्या का योगी। एक के अभाव में द्वितीय कैसे होगा? यहाँपर द्वितीय, तृतीय आदि का उपलक्षण है।

शंका—'एकमेवा०' इस श्रुति से एकत्व का प्रतिपादन होता है।

समाधान—आत्मा में एकत्व भी नहीं है, एकत्व अविद्यारूप है।

शंका—यदि एकत्व आत्मा में श्रुति से प्रतिपादित नहीं है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणवश उसमें अनेकत्व होगा?

समाधान—नहीं, 'नेह[1] नानास्ति०', 'एकमेवाद्वि[2]०', 'अथात आदेश[3]' इत्यादि श्रुतियों से उसमें अनेकत्व भी नहीं है।

---

१ नाना (अनेक) इस ब्रह्म में कुछ भी अनेक नहीं है, यह अर्थ है।

२ इस श्रुति में 'एकम्' पद का एकत्वसंख्या के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं, किन्तु एकत्व के विरुद्ध जो नानात्व है, उसके निषेध में तात्पर्य है।

३ अथ=सत्यस्वरूप के निर्देश के अनन्तर, जिस कारण साक्षिचैतन्य का ही अव-

तर्हि सर्वप्रतिषेधाच्छून्यमेव स्यादिति ?, नेत्याह—न शून्यमिति। 'असन्नेव स भवति असद्‌ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति' (तै० २।१।१), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २। १।१), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिभिः सत्यत्वप्रतिपादनात् सर्वाधिष्ठानत्वात् सर्वबाधावधित्वाच्च। तर्हि सत्यत्वज्ञानत्वादिधर्मवदपि स्यात् ?, नेत्याह—न चाशून्यमिति। एकमद्वितीयमिति पदद्वयेन सर्वप्रतिषेधेऽप्येवकारेण धर्मधर्मिभावादिभेदप्रतिषेधात्। सर्वत्र हेतुमाह—अद्वैतकत्वादिति। द्विधा इतं द्वीतम्, तस्य भावो द्वैतम्।

शंका—तब तो सबके प्रतिषेध से वह शून्य ही ठहरा।

समाधान - नहीं, वह शून्य नहीं है। 'असन्नेव स भवति॰', 'सत्यं ज्ञान॰', 'सदेव[1] सौम्य' इत्यादि उपक्रम करके, 'ऐतदात्म्यमिदम्[2]' इत्यादि श्रुतियों से सत्यत्व के प्रतिपादन से, सब भ्रमों के अधिष्ठान होने से एवं सब बाधों के अवधि होने से भी वह शून्य नहीं है।

शंका—तो सत्यत्व, ज्ञानत्व आदि धर्मवान् वह होगा ?

समाधान—वह अशून्य (धर्मवान्) भी नहीं है। 'एकम्' और 'द्वितीयम्'

शेष रहता है, इसलिए उस साक्षी का ही आदेश (निर्देश या कथन) किया जाता है। वह निर्देश क्या है ? इसके उत्तर में श्रुति कहती है —'नेति-नेति' से।

शङ्का—'नेति-नेति' इस निर्देश से सत्य साक्षी ब्रह्म का निर्देश कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जहाँ प्रतियोगी-विशेष का निर्देश किये बिना न-शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ सबका निषेध सिद्ध होता है और नाम, रूप कर्म, जाति, गुण आदि उपस्थित हैं। इनमें कोई भी, विशेष साक्षिचैतन्य ब्रह्म में नहीं है। इसलिए वह ईदृश (ऐसा) है, तादृश (वैसा) है—इस प्रकार उस सत्य साक्षी ब्रह्म का निर्देश नहीं हो सकता। अतः 'नेति-नेति' इस प्रकार निषेधरूप से श्रुति की प्रवृत्ति होती है।

१ हे सौम्य ! यह पुरोदृश्यमान सकल जगत् सृष्टि के पहले सत्-स्वरूप ही था।

२ 'एतत्' शब्द से प्रकरण-स्थित सत्-रूप ब्रह्म का परामर्श होता है। 'यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है और वह ब्रह्म सत्य है, वही आत्मा है और तू वही सत् ब्रह्म है'—इस प्रकार उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश किया है।

इन दो पदों से सबका निषेध करने पर भी एवकार से धर्म-धर्मी के भेद का भी निषेध किया है, सबमें हेतु दिया—अद्वैत होने से। दो प्रकार को प्राप्त हुआ द्वीत कहलाता है। उसका भाव द्वैत है।

तदुक्तं वार्तिके—

'द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते'[1]।' इति,

(बृ० वा० ४ । ३ । १९६)

न विद्यते द्वैतं द्विधाभावो यत्र तदद्वैतमित्यक्षरार्थः, 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः' (बृ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुतेः। प्रतियोगिज्ञानस्यैव लाघवेन-अभावबुद्धौ कारणत्वात् द्वैतस्य चानिर्वचनीयत्वाङ्गीकारेण च प्रत्यक्षादिवेद्यत्वान्निषेधोपपत्तिरित्यर्थः।

वार्तिक में कहा है—'दो प्रकार को प्राप्त वस्तु को 'द्वीत' कहते हैं। उसके भाव को द्वैत कहते हैं।' जिसमें द्वैत या द्विधाभाव नहीं है, वह 'अद्वैत' कहलाता है—यह अक्षरार्थ है, क्योंकि इस अर्थ में 'सलिल[2] एको द्रष्टा०' यह श्रुति प्रमाण है। लाघव से

---

१ इसका उत्तरार्धं इस प्रकार है—'तन्निषेधेन चाद्वैतं प्रत्यग्वस्त्वभिधीयते।'

२ सलिल (जल) की तरह आचरण करनेवाला अर्थात् निर्मल। यद्यपि आत्मा वास्तव में दृक्रूप है, तथापि अविद्या के आधाराधेयभाव की कल्पना से लोक में सांसारिक पुरुषों से द्रष्टा समझा जाता है। सांसारिक पुरुषों को ही श्रुति ने बोध कराया है, इसलिए उनके अनुसार आत्मा के द्रष्टृत्व का अनुवाद करके उसका अद्रष्टापन से निषेध किया है। अथवा 'अद्रष्टा' ऐसा ही पदच्छेद करना चाहिये। इसमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि यह सुषुप्ति-अवस्थास्थित आत्मा के स्वरूप का वर्णन है, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में आत्मा निर्मल है। अविद्या और अविद्याजन्य प्रपञ्च ये ही आत्मा के मल हैं। सुषुप्ति-अवस्था में अविद्या शान्त हो जाती है, इसलिए सुषुप्ति-अवस्था में आत्मा निर्मल रहता है। अविद्या के शान्त होने से ही आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थ के अदर्शन से आत्मा एक दृङ्मात्ररूप है।

यहाँ निर्मलत्व-बोधन से विजातीय अन्य का राहित्य कहा जाता है। आत्मा के विजातीय हैं—अविद्या, अविद्याजन्य प्रपञ्च और आत्मगत धर्म। उनका निषेध होने से आत्मा में स्वगतभेदराहित्य और विजातीयभेदराहित्य सिद्ध हो गया। एक-पद से नाना आत्मवाद का निरास हो गया, इसलिए सजातीयभेदराहित्य भी सिद्ध हो गया—यही दृढ करने के लिए 'अद्वैत' यह उक्ति है। 'द्विधा इतम्=गतं द्वीतम्' (द्विप्रकारम्)—जैसे सैन्य द्विधाभूत होता है, वैसे ही पारमार्थिक नित्य वस्तु चित्-अचित् के भेद से द्विधाभूत है और चिद्वस्तु जीव-ईश-भेद से द्विधाभूत है। यह द्वैतवादियों का दर्शन है। द्वीत का भाव 'द्वैत' (द्विप्रकारत्व) है। ऐसा कोई भी द्वैत आत्मा में नहीं है, इसलिए आत्मा अद्वैत है, यह श्रुति का अर्थ है।

अभाव-बुद्धि में प्रतियोगी[1] के ज्ञान को कारणता है। द्वैत शश-शृङ्ग के समान असत् नहीं है, किन्तु सत्-असत्-विलक्षण होने से अनिर्वचनीय[2] है, यह बात हम पहले स्वीकार कर आये हैं। इसलिए उसके प्रत्यक्षादिवेद्य[3] होने के कारण उसके निषेध की उपपत्ति हो गयी।

तर्ह्येतादृश आत्मा अङ्गुलिनिर्देशेनैव प्रतिपाद्यतामिति ?, नेत्याह— कथं ब्रवीमि, इति। किमाक्षेपे। अद्वैतकत्वेन वागविषयत्वात्। 'अवचनेनैव प्रोवाच' (नृ० ता० उ० ७), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१), 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृ० ३।४।१) इत्यादि श्रुतिभ्यः।

शंका – इस प्रकार के आत्मा को अंगुलि के निर्देश से बताओ।

सर्व-जगत् के मिथ्या होने पर वह कहीं भी प्रमाज्ञान का अविषय होने से प्रमित नहीं है, इसलिए उसका निषेध नहीं बन सकता; क्योंकि किसी स्थल में प्रमित (प्रमाज्ञान के विषय) का किसी स्थल में निषेध हुआ करता है' इस न्याय से शङ्का करके उत्तर में कहते हैं— 'प्रतियोगिज्ञानस्यैव' से।

१ 'किसी स्थल में ज्ञात का किसी स्थल में निषेध हुआ करता है'—लाघव से न्याय का यह स्वरूप अङ्गीकार करना चाहिये। 'प्रमात्व' विशेषण देने में गौरव है।

२ जैसे शश-शृङ्ग कालत्रय में भी विद्यमान न होने से तुच्छ है, वैसा जगत् तुच्छ नहीं है, किन्तु शुक्ति-रजतादिवत् अविद्याकल्पित या प्रातिभासिक है। शुक्ति-रजत-स्थल में 'रजत सत् है' यह नहीं कह सकते, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस प्रतीति से उसका निषेध होता है। रजत असत् भी नहीं है, क्योंकि भ्रान्तिकाल में 'इदं रजतमस्ति' इस प्रकार सत्रूप से प्रतीति भी होती है। जैसे प्रातिभासिक रजत सत् और असत से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है, वैसे ही यह सारा जगत् अनिर्वचनीय है, यह भाव है। उसमें विशेष इतना है कि शुक्ति-रजत तूला अविद्या का परिणाम है और जगत् है मूला-अविद्या का परिणाम।

३ शङ्का—यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से जगत् की सत्ता बोधित होती है, तो उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तु मिथ्या नहीं हुआ करती। यदि प्रमाण-सिद्ध है तो मिथ्या नहीं, मिथ्या है तो प्रमाण सिद्ध नहीं—इस प्रकार दोनों का विरोध है।

उत्तर – विषय-भेद से एक ही जगत् में दोनों का विरोध नहीं है। प्रमाणों से व्यावहारिक सत्ता का बोधन होता है और पारमार्थिक सत्ता का अभाव होने से मिथ्यात्व है।

समाधान — अंगुलि के निर्देश से उसे कैसे कहूँ ? अद्वैत होने से वह वाणी[1] का अविषय है।

इस विषय में 'अवचनेनैव[2] प्रोवाच' 'यतो[3] वाचो नि०' 'न[4] विज्ञा०' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

वागविषयत्वे वेदान्तानां कथं तत्र प्रामाण्यमिति चेद् ?, अविषयेऽप्यात्मनि तदाकारवृत्तिमात्रेण तदविद्यानिवर्तकत्वादित्याह—सर्ववेदान्तसिद्धमिति।

उसके वचनागोचर होने से वेदान्तों का ब्रह्म में प्रामाण्य कैसे हो सकता है ? ऐसा यदि कहो, तो अविषय[5] आत्मा में भी तदाकारवृत्तिमात्र से उसकी अविद्या की निवृत्ति कर देने के कारण वेदान्तवाक्यों का प्रामाण्य सब वेदान्त में सिद्ध है।

---

१ वाच्य-वाचकभावरूप द्वैत भी उसमें नहीं है, यह भाव है।

२ ब्रह्म-जिज्ञासु शिष्य द्वारा पूछे गये गुरु ने अवचन से ही उस शिष्य को ब्रह्म का बोध कराया। ब्रह्म वाणी का अविषय है, इसलिए वाणी से ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हो सकता, इस अभिप्राय से ब्रह्मज्ञानी होता हुआ भी गुरु चुप हो गया। बृहस्पति के सदृश प्रवक्ता ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी सद्भाव से प्रश्न करने पर भी गुरु कुछ उत्तर नहीं देता। इसलिए 'ब्रह्म ऐसा है या वैसा' इस प्रकार कथमपि कहा नहीं जा सकता। गुरु के इस अभिप्राय को जानकर शिष्य को ज्ञान हो गया कि 'ब्रह्म वाणी का अविषय होने से निर्विशेष है', यह श्रुति का अर्थ है।

३ वाक्, मन आदि सब जगत् के कारण जिस ब्रह्म से मनसमेत श्रुतिरूप सब वाणियाँ निवृत्त हो जाती हैं, वे श्रुतियाँ ब्रह्म को प्राप्त होकर उसका प्रतिपादन करके कृतकृत्य होकर निवृत्त होती हैं—इस कल्पना की व्यावृत्ति के लिए 'अप्राप्य' (न प्राप्त होकर) यह कहा है। क्योंकि ब्रह्म वाणी से कहा नहीं जा सकता और मन से उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता, यह भाव है।

४ विज्ञाति (लौकिक बुद्धि-वृत्ति) के विज्ञाता (व्याप्त आत्मा) को तू नहीं जान सकता, यह श्रुत्यर्थ है।

५ 'पञ्चदशी' के तृप्तिदीप-प्रकरण में विद्यारण्य मुनि ने कहा है—

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयं - स्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते॥' (७।६१-६२)

इसका अर्थ यह है—आत्म-भिन्न घटादि विषयों के प्रत्यक्षकाल में बुद्धि अपनी वृत्ति से

तथा च श्रुतिः—

'यस्यामतं[1] तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥'
(केनोप० २ । ३)

घट को व्याप्त करती है और बुद्धिगत चिदाभास भी घट को व्याप्त करता है। उनमें से पहली 'वृत्ति-व्याप्ति' कही जाती है। उस वृत्ति-व्याप्ति से घटादिविषयगत अज्ञानजन्य आवरण का नाश होता है। चिदाभास की व्याप्ति को 'फल-व्याप्ति' कहते हैं। उस फल-व्याप्ति से घटादि विषय का प्रकाश होता है, क्योंकि जड होने से घटादि का स्वतः प्रकाश नहीं हो सकता। ब्रह्मसाक्षात्कार-काल में तो एक वृत्ति-व्याप्ति की ही अपेक्षा है, द्वितीय फल-व्याप्ति की अपेक्षा नहीं। क्योंकि जीव-ब्रह्म की एकता अज्ञान से आवृत है। उस अज्ञानकृत आवरण के नाश के लिए 'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणभूत वेदान्त-वाक्यजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बुद्धिवृत्ति की व्याप्ति की तो अपेक्षा है। किन्तु आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः आत्मा के प्रकाश के लिए फल-व्याप्ति की अपेक्षा नहीं। वहींपर कहा है—

'स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत्।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥' (७ । ९०)

आत्मासाक्षात्कार-काल में साक्षी स्वयंप्रकाश होता हुआ भी घट आदि की तरह बुद्धि-वृत्ति से व्याप्त होता ही है। 'एतदप्रमेयम्' (बृ० ४ । ४ । २०) आदि शास्त्रों में 'अप्रमेय' शब्द से प्रमाविषयत्व का जो निषेध है, वह फल-व्याप्ति ही का निषेध है, वृत्तिव्याप्ति का निषेध नहीं, यह अर्थ है।

१ 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता' इत्याकारक ज्ञानवाला पुरुष ब्रह्म को जान सकता है और 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' इत्याकारक ज्ञानवाला पुरुष नहीं जान सकता—यह जो पूर्व में कहा है, उसपर कैसे विश्वास किया जाय? क्योंकि विरोध है। इस शङ्का के निरास के लिए 'यस्यामतम्' आदि कहते हैं।

जो विद्वान् ब्रह्म को अमत (ज्ञातृज्ञेयादिभाव से अनधिगत) समझता है, वह ब्रह्म में ज्ञातृ-ज्ञेयादिभाव को न समझनेवाला ब्रह्मज्ञानी है। इसके विपरीत जो ब्रह्म में ज्ञातृ-ज्ञेयादिभाव समझता है, वह कर्तृकर्मादि भेदज्ञानवाला पुरुष वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता, क्योंकि ज्ञातृ-ज्ञेयादि द्वैत-बुद्धिवाले पुरुषों को ब्रह्म अविज्ञात है और ज्ञातृ-ज्ञेयादि द्वैतबुद्धि से रहित पुरुषों के लिए ब्रह्म यथार्थरूप से ज्ञात है। कारण यह ब्रह्मज्ञान निर्विकल्पक, निर्विशेष अखण्ड ब्रह्म के साक्षात्काररूप स्वसंवेद्य है। त्रिपुटी के प्रतिभासकाल में उसकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए उक्त शङ्का का अवकाश नहीं है।

'यन्मनसा[1] न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं[2] यदिदमुपासते ॥'
(केनोप० १ । ५)

इत्यादिरविषयत्वमात्मनो दर्शयति । तदेवं वेदान्तवाक्यजन्याखण्डाकार-वृत्त्या अविद्यानिवृत्तौ तत्कल्पितसकलानर्थनिवृत्तौ परमानन्दरूपः सन् कृतकृत्यो भवतीति सिद्धम् ॥ १० ॥

उक्त विषय में 'यस्यामतं०', 'यन्मनसा०' इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा के अविषयत्व को दिखाती हैं । इस प्रकार वेदान्त-महावाक्यों से उत्पन्न हुई अखण्डा-कार-वृत्ति से अविद्या की निवृत्ति होने पर और अविद्या से कल्पित समस्त अनर्थ की निवृत्ति होने पर परमानन्दरूप होता हुआ कृतकृत्य होता है, यह बात सिद्ध हुई ॥ १० ॥

न[3] स्तौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध ।
विनापि तैः संग्रथिताखिलार्थं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च ॥ १ ॥

---

१ जिस वस्तु का मन से मनन (निश्चय) नहीं हो सकता, क्योंकि वह मन को भी मनन-सामर्थ्य देनेवाला है, उसके मनन करने में मन कैसे समर्थ हो । प्रत्युत उस वस्तु से मन मत (अपने व्यापार में समर्थ) होता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । उसीको तू ब्रह्म समझ । एवकार से व्यवच्छेद्य (निषेध के योग्य) पदार्थ को श्रुति ही स्पष्ट करती है—'नेदम्' इत्यादि से ।

२ लौकिक जन जिसकी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं, क्योंकि उपास्य वस्तु मनोगम्य और भेदभाव से युक्त होती है । ब्रह्म वैसा नहीं, यह अर्थ है । इस प्रकार अद्वैत परमात्मा प्रमा का विषय नहीं है । इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-वाक्यों का अविद्याकृत आवरण की निवृत्ति में उपयोग सिद्ध होता है ।

३ व्यासजी ने सूत्रों की सहायता से भी सब पदार्थों का सम्यक् ग्रथन नहीं किया । 'भाष्य-वार्त्तिककारों ने तो सूत्रों की सहायता के बिना ही सर्वपदार्थों का सम्यक् ग्रथन किया, यह व्यतिरेक-ध्वनि है । वास्तव में सूत्रकार श्रीबादरायण भाष्य-वार्त्तिककारों के भी उपजीव्य होने से सकल आचार्यों से स्तुत्य हैं । इसलिए 'न स्तौमि' यह कथन 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रक्रमते, अपि तु स्तुत्यं स्तोतुम्' (क्योंकि निन्दा निन्द्य वस्तु की निन्दा के लिए नहीं की जाती, अपितु स्तुत्य की स्तुति करने के लिए की जाती है) इस न्याय से यह निन्दा

मैं उन महर्षि व्यासदेव की स्तुति नहीं करता, जिन्होंने सूत्रों से भी अशेष पदार्थों का ग्रथन नहीं किया है। उन सूत्रों के बिना भी जिसने सकल पदार्थों का संग्रथन किया, उन शङ्कर भगवान् एवं आचार्य सुरेश्वर को नमस्कार करता हूँ॥ १॥

लघुरपि बहूवर्थवहश्चिन्तामणिरिव निबन्धोऽयम्।
मधुसूदनेन मुनिना विहितो गुणिनां विनोदाय॥ २॥

लघु होता हुआ भी चिन्तामणि की तरह बहुत पदार्थों को धारण करनेवाला यह निबन्ध मधुसूदन मुनि ने गुणियों के विनोद के लिए रचा है॥ २॥

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्न हि॥ ३॥

इसमें जो कुछ समीचीनता है, वह तो गुरु की ही है, मेरी नहीं। और जो कुछ असमीचीनता है वह मेरी ही है, गुरु की नहीं॥ ३॥

बहुयाचनया मयायमल्पो बलभद्रस्य कृते कृतो निबन्धः।
यददुष्टमिहास्ति यच्च दुष्टं तदुदाराः सुधियो विचारयन्तु॥ ४॥

बहुत प्रार्थना से वह अल्प निबन्ध मैंने 'बलभद्र' के लिए रचा है। इसमें जो अदुष्ट है और जो दुष्ट है, उदार पण्डित उसका विचार करें॥ ४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीविश्वेश्वरभगवत्पादशिष्य-
श्रीमन्मधुसूदन-मुनिवरविरचितः
सिद्धान्तबिन्दुः समाप्तः।

भाष्य-वार्तिककारों की स्तुति के आधिक्य में पर्यवसन्न है। क्योंकि भाष्य-वार्तिककार निबन्धकारों के मार्गप्रदर्शक हैं।

अथवा इस श्लोक का यह अर्थ करना चाहिए—जिन व्यासदेव ने सब पदार्थों का सूत्ररूप से सम्यक् ग्रथन किया, उन व्यासदेवजी की स्तुति नहीं करता यह नहीं, किन्तु स्तुति करता ही हूँ। स्तुति से नमस्कार का आक्षेप है। न केवल सूत्रकार को ही नमस्कार करता हूँ, किन्तु भाष्यकार और वार्तिककार को भी नमस्कार करता हूँ, यह अर्थ है। इस पद्य में 'नमूहय' का 'स्तौमि' के साथ अन्वय करने से दूरान्वय क्लिष्ट है।

प्रसङ्गवश उद्धृत श्रुति आदि की अनुक्रमणिका

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥